कौटल्य कालीन भारत

हिन्दी समिति ग्रन्थमाला—१६१

कौटल्य कालीन भारत

आचार्य दीपकर

हिन्दी समिति
सूचना विभाग, उत्तर प्रदेश
लखनऊ

प्रथम संस्करण
१९६८

मूल्य
छः रुपये
६ ००

मुद्रक
प्रेम प्रेस, प्रयाग

प्रकाशकीय

भारतीय इतिहास में कौटल्य का महत्वपूर्ण स्थान है। सिकन्दर के आक्रमण के बाद देश असगठित और नेतृत्वविहीन हो गया था। कौटल्य के प्रयत्न से उसमे एक नवचेतना का सचार हुआ। चन्द्रगुप्त मौर्य की सहायता से देश को सुसगठित कर शासन की नीव एक सुदृढ़ आधार पर रखने का सकल्प लेकर वे आगे आये। फिर, राजतन्त्र पर अकुश लगाने, राष्ट्रीय अर्थ-व्यवस्था का पुनर्गठन करने, लाखो-करोड़ों देशवासियो के सामाजिक अधिकार निश्चित करने, राष्ट्र की रक्षा का स्थायी प्रबन्ध करने तथा राज्य के सामान्य प्रशासन मे राजा के दैनिक हस्तक्षेप को हटाने के लिए उन्होने अपने महान् 'अर्थशास्त्र' का प्रणयन किया।

इस पुस्तक मे विद्वान् लेखक ने अपने दृष्टिकोण से मानव सभ्यता के विकास का सिंहावलोकन करते हुए 'कौटल्य कालीन भारत' के समाज का एक सुन्दर चित्र प्रस्तुत किया है। इससे तत्कालीन राजनीति एव अर्थ-व्यवस्था का आभास मिलता है तथा आचार्य चाणक्य अथवा कौटल्य के महान् बौद्धिक व्यक्तित्व का पता चलता है, जिन्होने अपने सुविख्यात 'अर्थशास्त्र' ग्रन्थ मे राजतन्त्र के अन्तर्गत जनहितकारी शासन का सूत्रपात किया था।

आशा है कि प्राचीन भारतीय राजनीतिक तथा ऐतिहासिक, आर्थिक एव सामाजिक परम्पराओ से अवगत होने के इच्छुक पाठको के लिए यह पुस्तक विशेष रूप से उपादेय सिद्ध होगी।

लीलाधर शर्मा 'पर्वतीय'
सचिव, हिन्दी समिति

विषय-सूची

पृष्ठ संख्या

सादर समर्पित है

श्री शाम शास्त्री की पावन स्मृति में

जिन्होंने हमारी विलुप्त राष्ट्रीय निधि, अर्थशास्त्र का उद्धार किया था।

कौटिलीय अर्थशास्त्र

एक विवेचना

प्राचीन भारत के इतिहास, उसकी अर्थव्यवस्था एव सामाजिक तथा राजनीतिक व्यवस्थाओ के सम्बन्ध मे बहुत से विद्वानो ने विस्तार के साथ विचार किया है। परन्तु इसके लिए उन्होने जिस सामग्री का प्रयोग किया है, वह प्राय अनेक शाखाओ तथा क्षेत्रो मे कण-कण रूप मे बिखरी हुई है, और इन विद्वानो के दृष्टिकोण मे इतना मौलिक अन्तर रहता है कि साधारण पाठक को किसी निश्चित मत पर पहुँचने मे भारी बाधा होती है।

"कौटल्य कालीन भारत" मे इस प्राचीन देश के पूरे इतिहास की विवेचना नही की गयी है। ऐतिहासिक विकास के एक पडाव पर भारत की जो स्थिति थी उसी का विवेचन किया गया है। ऐतिहासिक विकास का वह पडाव सामन्तवाद था जिसका अध्ययन इस पुस्तक मे किया गया है।

परन्तु काल्पनिक आधार पर और मनोगत भावनाओ से देश की स्थिति को देखकर यह विवेचना करना उचित न हो सकता। इसके लिए एक ठोस सैद्धान्तिक आधार की आवश्यकता होती है। इस आवश्यकता की पूर्ति कौटल्य के अर्थशास्त्र को आधार बना कर की गयी है। कौटिलीय अर्थशास्त्र सस्कृत वाङमय मे अद्वितीय ग्रन्थ है और इस अद्भुत शास्त्र की रचना ही इसका ठोस प्रमाण है कि कौटल्यकालीन भारत का बौद्धिक एव सामाजिक स्तर कितना उन्नत हो गया था। जो कुछ अर्थशास्त्र मे प्रतिपादित है वही इस पुस्तक का मूल सैद्धान्तिक आधार है।

अतएव, कौटल्यकालीन भारत का समय और उसकी सर्वांगीण रूपरेखा हृदयगम करने के लिए अर्थशास्त्र का समय निश्चित करना आवश्यक है।

प्राचीन जनश्रुतियो के अनुसार कौटल्य चन्द्रगुप्त मौर्य के समय मे हुए थे और उसके साम्राज्य के मुख्य सस्थापक तथा महामत्री अथवा महामात्य थे।

परन्तु अधिकाश पाश्चात्य विद्वान् अर्थशास्त्र के रचयिता को मौर्यकालीन नही मानते और यह भी कहते है कि अर्थशास्त्र के रचयिता प्रसिद्ध विष्णुगुप्त कौटल्य नही है प्रत्युत अनेक विद्वानो ने समय-समय पर एक लम्बी अवधि मे इसका निर्माण किया है। परन्तु ये सभी मत अनुपयुक्त है।

जो इसे कौटल्य की कृति नही मानते उन्हे स्वय अर्थशास्त्र उत्तर देता है कि "इस शास्त्र की रचना उस व्यक्ति ने की है जिसने नन्द राज्य का उच्छेद किया है, शस्त्रो एव शास्त्रो का उद्धार किया है और मौर्य साम्राज्य की स्थापना की है।"

येन शस्त्र च शास्त्र च नन्दराज्यगता च भू ।
अमर्षणोद्धृतान्याशु तेन शास्त्रमिद कृतम् ॥

कौटल्य की यह शानदार गर्वोक्ति है।

इस प्रकार कौटल्य फिर कहते है—

"सभी शास्त्रो एव पुराने मतो का अनुशीलन करके एव सिद्धान्तो का पूर्ण प्रयोग करके कौटल्य ने मौर्य राजा के लिए अर्थशास्त्र की रचना की है"—

सर्वशास्त्राण्यनुक्रम्य प्रयोगमुपलभ्य च ।
कौटल्येन नरेन्द्रार्थे शासनस्य विधि कृत ॥

इन दोनो श्लोको के सम्बन्ध मे इसी अध्याय की अग्रिम पक्तियो मे विवेचना की गयी है।

पुराणो और जैन साहित्य मे स्थान-स्थान पर इसका उल्लेख है कि कौटल्य नामक ब्राह्मण ने नन्दराज्य का उच्छेद किया एव मौर्य साम्राज्य की स्थापना की। ये श्लोक इसलिए भी महत्त्वपूर्ण है कि पूरे सस्कृत साहित्य मे ऐसा अभिमत कही प्रकट नही किया गया है कि कौटल्य ने अर्थशास्त्र की रचना नही की है तथा उसका रचनाकाल मौर्यकाल से भिन्न है। इसके अलावा, सस्कृत विद्वानो की यह परम्परा रही है कि उन्होने केवल अपवाद स्वरूप मे ही अपनी रचनाओ मे अपने सम्बन्ध मे कुछ लिखा है। केवल जनश्रुतियो के आधार पर यह पता चलता रहा है कि अमुक ग्रन्थ किसकी रचना है। परन्तु महामात्य कौटल्य ने

अपवाद स्वरूप मे ही सही, प्रत्यक्ष रूप मे स्वय के सम्बन्ध मे थोडा-सा उल्लेख किया है।

एक विदेशी विद्वान् का अभिमत है कि अर्थशास्त्र मे दार्शनिक क्षेत्र के बाहर विज्ञान की बातो का उल्लेख किया गया है। पुराने शास्त्रकारो की दृष्टि मे विज्ञान दर्शन शास्त्र की ही शाखा थी। ईसा की तीन शताब्दियो के बाद यूनान आदि मे विज्ञान को दर्शन से भिन्न समझा गया था। अतएव, अर्थशास्त्र की रचना तीसरी शताब्दी के उपरान्त ही हुई होगी, ऐसा कहा जाता है।

परन्तु यह दावा सही नही है। यद्यपि अर्थशास्त्र मे आयुर्वेद, वनस्पति शास्त्र, कृषिविज्ञान और अन्य वैज्ञानिक शाखाओ के सम्बन्ध मे विस्तृत विवेचना की गयी है और कौटल्य ने प्रत्येक सामाजिक गतिविधि एव कर्त्तव्यो का "स्वर्ग" एव "मोक्ष" की सीमित परिधि का बन्दी नही बनाया है, इसलिए आधुनिक दृष्टिकोण तथा ससारिकता को इसमे प्रमुख स्थान दिया गया है, जैसा कि अन्य शास्त्रकारो ने नही किया है। परन्तु फिर भी यह घोषणा निराधार है कि कौटल्य से पहले के विद्वानो ने विज्ञान को दर्शन से पृथक् नही माना है। आयुर्वेद आदि के रूप मे विज्ञान की चर्चा दर्शनशास्त्र की सीमा से बाहर पहले के शास्त्रकारो ने भी की है। व्याकरण, निरुक्त आदि की रचना कौटल्य से पहले ही हो चुकी थी। यह मत भी सही नही है कि अर्थशास्त्र मे लोकायत मत का उल्लेख होने से वह तीसरी शताब्दी की रचना है। लोकायत बहुत पुराना सिद्धान्त है और बुद्ध से भी पहले का है।

यह कहना कि विभिन्न समयो मे अनेक विद्वानो ने एक लम्बी अवधि मे इसकी रचना की है और अपनी बात के समर्थन मे अर्थशास्त्र मे उल्लिखित मनु, नारद एव वृहस्पति आदि आचार्यों का उदाहरण दिया है, सही नही है।

इसका केवल यही अभिप्राय माना जाना चाहिए कि कौटल्य से पहले के विद्वानो ने राजनीति के सम्बन्ध मे जो विभिन्न दृष्टिकोण अपनाये थे उन सभी का समन्वय करके कौटल्य ने अर्थशास्त्र की रचना की है न कि उन सभी विद्वानों ने जिनका उल्लेख बार-बार इस ग्रन्थ मे किया गया है।

इसका सबसे प्रबल प्रमाण यह है कि कौटल्य ने राजनीति एव राजतंत्र के

सम्बन्ध मे अतिवादी छोरो का अन्त करके अर्थशास्त्र मे राजतत्र एव अर्थव्यवस्था के मध्यम मार्ग का अनुसरण किया है। परन्तु इस प्रवृत्ति से यह अभिप्राय निकालना अनुचित है कि विचारो की यह परिपक्वता एव प्रौढता मौर्य काल मे सभव न होकर ईसा की तीसरी एव चौथी शताब्दी मे ही सभव हो सकती है। ये विद्वान् ईसा की तीसरी या चौथी शताब्दी को पूरे विश्व मे अतिवाद सघर्ष की शताब्दी मानते है। यद्यपि यह सही है कि विश्व मे प्राय एक साथ ही नये विचारो तथा आदर्शो का ज्वारभाटा एक ही काल मे आता रहा है तथा एक देश मे जो नये विचार उठे उनसे मिलते-जुलते विचार दूसरे देशो मे भिन्न व्यक्तियो द्वारा पारस्परिक सम्पर्क के अभाव मे भी उठाये जाते रहे है। परन्तु फिर भी यह धारणा शैशवपूर्ण होगी कि विचारो एव आदर्शो की उथल-पुथल के युगो मे सैद्धान्तिक सघर्षो का सवत्सर भी एक ही होगा या वे विचारक एक दूसरे से प्रभावित होकर अपने मतो का प्रतिपादन करते थे। युगो के विकास एव परिवर्तनो के प्रति यह धारणा नितान्त भ्रामक तथा यान्त्रिक कही जायगी ।

सर्वमान्य तथा वैज्ञानिक धारणा यह होगी कि किसी युग की विशेष सामाजिक व आर्थिक परिस्थितियो मे जो नयी सामाजिक व आर्थिक धारणा होती है वह भिन्न देश और काल मे समान आर्थिक तथा सामाजिक धारणाओ को जन्म देती ह। यदि पूँजीवाद का विकास इग्लैड मे होता हे तो वैसी ही सामाजिक व आर्थिक धारणाएँ भारत मे भी आनी आवश्यक है यदि यहाँ पूँजीवादी अर्थव्यवस्था का विकास होता है। परन्तु यह आवश्यक नही है कि इग्लैड के साथ ही भारत मे पूँजीवाद का विकास हो और भारत मे भी वे ही परिस्थितियाँ विद्यमान हो जो पूंजीवाद के विकास के समय इग्लैड मे थी।

इन दोनो देशो मे पूंजीवाद के वकास मे कई सौ वर्ष का व्यवधान भी हो सकता है तथा सामाजिक परिस्थितियो मे ऐसा मौलिक अन्तर भी हो सकता है कि भारतीय पूँजीवाद का विकास हजार प्रयत्न करके भी इग्लैड के पूंजीवाद के पदचिह्नो का अनुसरण न कर सके।

इस प्रकार यद्यपि यह सही है कि मध्य एशिया और यूरोप मे तीसरी शताब्दी मे अतिवाद के विरोध मे तथा मध्यम मार्ग के पक्ष मे बुद्धिमानो ने जनमत जाग्रत

किया था। परन्तु भारत मे सामन्तवाद एव राजतत्र का विकास यूरोप तथा मध्य एशिया से बहुत पहले हो चुका था। इसके अलावा, कौटल्य से पहले बौद्ध काल तथा जातको के युग मे भी अतिवाद के खिलाफ मध्यम मार्ग की स्थापना की गयी है। स्वय बुद्ध ने उसका उपदेश किया था कि अतिशय विलासिता और अतिशय कष्टो का जीवन व्यतीत करना बुरा है।

कुछ पाश्चात्य विद्वानो ने अर्थशास्त्र की उन्नत अर्थव्यवस्था और राजतत्र से भी यह निष्कर्ष निकाला है कि वह मेगास्थनीज के वर्णन एव अशोक के शिला-लेखो से मेल नही खाता है जिनके अनुसार अर्थव्यवस्था एव राजतत्र का इतना उन्नत विकास दृष्टिगोचर प्रतीत नही होता। अर्थशास्त्र मे जो बात सबसे ऊपर निखर कर आती है वह है अर्थव्यवस्था के सभी अगो पर राजसत्ता का कडा नियत्रण। कौटल्य का राजतत्र केवल व्यापार, उद्योग और खानो तक ही अपना नियत्रण सीमित नही रखता, प्रत्युत् खेती एव उससे सम्बद्ध सभी व्यवसायो एव वर्गों पर भी नियत्रण रखता है।

अब देखना यह है कि क्या कौटल्य से पहले की अर्थव्यवस्थाओ एव राज्य-व्यवस्थाओ मे आर्थिक साधनो पर इस प्रकार का नियत्रण भी था। अगली पक्तियो मे यह स्पष्ट हो जायगा कि यह नियत्रण अर्थशास्त्र मे नई घटना नही है, प्रत्युत् पूरा वैदिक एव बौद्ध साहित्य इस प्रकार के उदाहरणो से भरा हुआ है। हाँ, इतना अन्तर अवश्य स्वीकार किया जा सकता है कि समाज मे जो व्यवस्थाएँ अव्यवस्थित एव परिपाटी के रूप मे विद्यमान थी, कौटल्य ने उन्हे वैज्ञानिक रूप मे रखने का प्रयत्न किया था। पता नही ये विद्वान् लेखक मेगास्थनीज को ही इतना प्रामाणिक इतिहासकार क्यो मानते है और उसी के लेखो के आधार पर मध्यकालीन भारत का चित्रण करने का दुराग्रह क्यो रखते है। क्या यह सभव हो सकता है कि मेगास्थनीज ने मौर्य दरबार मे रहते हुए कैसे पूरे भारत की सर्वांगीण समीक्षा की होगी और कैसे वह उसका उल्लेख कर सकता था। फिर इतनी बात तो स्वय मेगास्थनीज ने भी लिखी है कि सिंचाई के साधनो पर राजकीय नियत्रण था एव स्वय अशोक के शिलालेखो से विस्तृत राजमार्गों, उनके दोनो और खडे वृक्षो तथा जल पीने के स्थानो की बीच-बीच मे व्यवस्था थी,

आदि। मेगास्थनीज कहता है कि भूराजस्व का सग्रह करने के लिए जो राजकर्म-चारी जाते थे वे खतौनियो (भूलेखो) के आधार पर लगान वसूल करते थे और जगली मार्गों, जगलो तथा उनका व्यवसाय करने वाले वर्गों पर कडा राजकीय नियत्रण था, आदि।

यद्यपि यह सही है कि कौटल्य मे पहले ही सामन्ती अर्थव्यवस्था का विकास हो चुका था, राजतत्र ने समाज को चारो ओर से घेर लिया था और पुरानी गज्यव्यवस्था एव अर्थतत्र के प्रभावशाली अवशेष मात्र बकाया थे। परन्तु फिर भी यह सर्वविदित है कि कौटल्य ने भारतीय राजतत्र (राजशासन) की एक वैज्ञानिक तथा प्रशासकीय इकाई कायम की और राजतत्र की शक्तियो का असा-धारण विस्तार करके करीब ३० विभाग सगठित किये, जिससे राजतत्र का वैभव मूर्तिमान् हो उठा। जिस प्रशासनतत्र का मौर्यकाल मे कौटल्य ने गठन किया था, आगे चलकर अशोक ने उसका उपयोग बौद्धधर्म के प्रचार के लिए किया। प्रशासनतत्र का केवल रूप और लक्ष्य बदल गया, परन्तु उसका ढाँचा ज्यो का त्यो कायम रहा।

राजतत्र का यह अध्यक्ष-नियत्रित नौकरशाहाना रूप स्वय अलक्षेन्द्र (अले-जेण्डर) के शासन मे प्रकट है और कौटल्य का सगठन किसी भी रूप मे अल-क्षेन्द्र से उत्कृष्ट है, निकृष्ट नही। अर्थशास्त्र की रचना के बाद राजतत्र का यह रूप इतना सर्वमान्य हो गया कि आगे चलकर भारतीय विद्वानो ने राजतत्र के रूप मे विवाद एव विचार करना ही छोड दिया एव सभी ने उसे ज्यो का त्यो स्वीकार कर लिया। कौटल्य काल मे ही मिस्र मे न्यायाधिकरणो (मैजिस्ट्रेटो) की प्रथा प्रचलित थी और ये मैजिस्ट्रेट किसी का प्रभाव न मानकर अपनी ही विवेक-बुद्धि से विवादो का निपटारा किया करते थे। परन्तु कौटल्य के अर्थशास्त्र को छोडकर अन्य किसी प्रामाणिक ग्रन्थ मे इन न्यायाधिकरणो का उल्लेख नही मिलता।

यह भी कहा जाता है कि मौर्य साम्राज्य जब थोडे मे दक्षिणी भागो को छोडकर पूरे भारत मे फैला हुआ था तो कौटल्य ने आर्थिक व सामाजिक स्थितियो का उल्लेख करते समय केवल उत्तरी भारत के ही उदाहरण क्यो दिये हैं। इससे

प्रतीत होता है कि अर्थशास्त्र ऐसे समय मे लिखा गया है जब उत्तर भारतवालो का दक्षिण भारत से कोई सम्बन्ध नही रहा होगा और यह समय अशोक की मृत्यु के उपरान्त कम से कम दो सौ वर्ष बाद का हो सकता है।

यह तर्क सारहीन है। एक बार दक्षिण की विजय और अखण्ड भारतीय साम्राज्य की स्थापना हो जाने के बाद भी तथा दक्षिणी भारत से किसी केन्द्रीय प्रशासन के उठ जाने पर भी वहाँ के आर्थिक, सामाजिक एव सास्कृतिक सम्बन्ध नष्ट नही हो सके। फिर मनुकाल से लेकर और कौटल्य के बहुत दिनो बाद तक भी परम्परागत रूप मे आर्यों के लिए आर्यावर्त ही सहस्रो वर्षों तक आचार-विचार के लिए अनुकरणीय माना जाता रहा है, जैसा कि मनु ने कहा है। इसके अलावा, पूरे साम्राज्य के लिए सामान्य प्रशासन सम्बन्धी नियम बताते हुए भी विस्तार के साथ उसके केन्द्रीय भाग की विवेचना करना एव उससे उदाहरण देना अर्थशास्त्र के लिए परम स्वाभाविक है।

२

कौटल्य कालीन भारत की आर्थिक, सामाजिक और राजनीतिक स्थिति का पता लगाने एव उसके समय का निश्चय करने मे पहले प्राचीन भारत के इतिहास की विशेष अवस्थाओ की विवेचना करना परम अनिवार्य हो जाता है। केवल उसी से सब प्रश्नो का समाधान होना सभव है।

वास्तव मे देखा जाय तो प्राचीन भारत की सभ्यता और सस्कृतियो के विकास का इतिहास धर्मों के विकास एव उनके विभिन्न रूपो के सामने आने की परम्परा का इतिहास है। प्रत्येक अवस्था या युग मे धर्म बदलते गये, वे समाज पर अपनी छाप छोडते गये। नये धर्मों के साथ पुराने धर्मों की कुछ मान्यताओ के अनवरत सघर्ष तथा समन्वय का इतिहास ही प्राचीन भारत के इतिहास की मुख्य धुरी है। धर्मो के विकास का यह रूप आमतौर पर इतना जनवादी होता था कि किसी पुराने रूप के हट जाने या चले जाने और नये रूप के सामने आ जाने की बडी घटना का समाज को कभी-कभी आभास तक नही होता था और बहुत कम ऐसे अवसर आते थे जब धर्म के विभिन्न रूपो मे जमकर तथा खुला

सघर्ष होता था एव समाज के विभिन्न भाग एक दूसरे से प्रत्यक्ष रूप मे टकराते थे। भारत देश मे वर्ग सघर्ष भी जो कि पूरे मानव समाज को मूल प्रेरक शक्ति है, धर्म क ही विभिन्न रूपो मे सामने आया है।

प्राचीन भारत मे धर्मों की परिधि के हिसाब से इतिहास की विवेचना करने पर मुख्यत चार धर्म सामने आते है जिनका समाज पर निर्णायक प्रभाव एव छाप पड़ी थी। वैदिक धर्म, ब्राह्मण धम, बौद्ध धर्म और ब्राह्मण धर्म का पुनरुत्थान काल ।

वैदिक काल मे धर्म का प्रधान रूप यज्ञ था जिसका अर्थ है मिलकर काम करना, देवताओ को बलि देना एव मिलकर खाना तथा उत्सव। इस उत्सव का मुख्य रूप अग्नि के चारो ओर एकत्रित होकर आर्यो का नृत्य, सगीत के साथ खाद्य पदार्थो तथा मदिरा का अग्नि मे हाम करना तथा बदले मे अग्नि एव अन्य दवताओ से स्वास्थ्य, दीर्घायु, समय पर वर्षा, फसलो की अभिवृद्धि और देवताओ का प्रसन्न रहना मागा जाता था।

इस काल मे मानव बच्चो की तरह उत्सुक एव विभिन्न जिज्ञासाओ से भरा हुआ था और प्रकृति उसके लिए रहस्यो से भरी हुई थी। वह प्रकृति की प्रत्येक घटना एव विस्फाट पर हक्का-बक्का सा वृद्धो से, जिन्हे वह ऋषि कहता था, प्रश्न करता था और वे ऋषि काव्यमय भाषा मे उसे उत्तर देते थे। मानव समाज मे किसी प्रकार की रूढिवादिना नही थी और वह प्राकृतिक जीवन मे रह रहा था।

ब्राह्मण धर्म, वैदिक धर्म से कई बातो मे भिन्न था। समाज विभिन्न प्रकार की रूढियो मे फँसा हुआ था और वह विभिन्न प्रकार के भयो से व्याप्त था। कर्मकाण्ड एव देवपूजा धर्म के मुख्य रूप थे एव समाज के विभिन्न वर्गो मे, जिन्हे भारतीय शास्त्रकारो ने वर्णो की सज्ञा दी थी, इतनी गहरी खाई, भेद एव कटुता पैदा हो गयी थी कि वे निरन्तर एक दूसरे से टकराते रहते थे एव धर्म जनसाधारण की परिधि से बाहर पहुँच कर थोडे से अभिजात वर्गों तक सीमित हो गया था।

मानव धर्म (मनुस्मृति) इसी युग का राजनीतिक, धार्मिक तथा सामाजिक

नियम सम्बन्धी शास्त्र था जिसकी मान्यताओ के विरोध मे समाज का बहुसख्यक भाग आगे चल कर विद्रोह करने लगा था।

इस विद्रोह के परिणामस्वरूप हजारो वर्षो के पश्चात् बौद्ध धर्म का विकास हुआ जिसमे बहुसख्यको को शान्ति की साँस मिली। बुद्धदेव ने यह दावा नही किया कि वे मानव मात्र की सुख एव शान्ति के लिए धर्म का प्रचार कर रहे है, बल्कि नारा था कि "बहुजन के हित के लिए, बहुजन के सुख के लिए धर्म का प्रचार करो।"

स्पष्ट है कि तीन-चार सौ वर्षो मे ही बौद्ध धर्म ने पूरे भारत मे रूढिवाद के विरुद्ध प्रबल उभार पैदा किया और ब्राह्मण धर्म चरमराने लगा।

परन्तु हजारो वर्षो तक भारतीय राजनीति एव समाजव्यवस्था पर प्रभाव रखने के बाद सामाजिक जीवन से यह बहिष्कार पाना ब्राह्मण धर्म को स्वीकार्य नही था। ब्राह्मण धर्म के विरुद्ध विद्रोह का नेतृत्व करके बौद्ध धर्म ने विजय-दुदुभि बजायी थी। अब बौद्ध धर्म के विरोध मे ब्राह्मण धर्म के पुनरुत्थान के रूप में जो विद्रोह हुआ उसके प्रथम नेता मौर्य साम्राज्य के सस्थापक महामात्य विष्णुगुप्त कौटल्य थे। उनके और बुद्ध के जीवन कालो मे कम से कम तीन शताब्दियो का व्यवधान माना जाता है और ऐतिहासिक रूप से यह प्रमाणित भी हो चुका है। ब्राह्मण धर्म का यह पुनरुत्थान काल कम से कम एक हजार वर्ष तक चला है और इसी काल मे दोनो पक्षो, बौद्ध एव पुनरुत्थानवादियो की ओर से कार्य करने वाले दिग्गज विद्वानो, लेखको, विचारको तथा कवियो का उदय होता गया है। इस वैचारिक तथा सैद्धान्तिक सघर्ष ने भारत भूमि को महान् सास्कृतिक विकास की घुडदौड मे विश्व के सभी देशो के मुकाबिले बहुत आगे पहुँचा दिया। इसी काल ने भारत को महामात्य कौटल्य के अलावा कालिदास, अश्वघोष, भवभूति जैसे महाकवियो को जन्म दिया, दिंगनाग, धर्मकीर्ति, कपिल, कणाद, शकराचार्य एव उदयनाचार्य जैसे दार्शनिको को उभार कर समाज के सामने लाकर खडा कर दिया। निरुक्-कार पाणिनि, आयुर्वेदकार चरक और सुश्रुति, बराह-मिहिर,भास्कराचार्य आदि वैज्ञानिको ने अपनी गवेषणाओ से भारत को धन्य किया था।

इस बात मे कोई अतिशयोक्ति नही है कि सास्कृतिक एव राजनीतिक क्षेत्र मे भारत के इस गरिमापूर्ण स्वर्ण युग का सूत्रपात महामात्य कौटल्य ने ही किया था।

३

प्राचीन भारत के इतिहास मे जिन चार युगो की बात कही गयी है उसमें मौलिक प्रश्नो पर मतभेदो ने कभी भी और किसी भी अवस्था मे उतने ही व्यापक मूल प्रश्नो पर एकमान्यता का खडन नही किया।

यद्यपि वैदिक काल मे राजा का समाज पर प्रभुत्व नही था और वह नाम-मात्र को होता था, परन्तु फिर भी उसका अस्तित्व जन्म ले चुका था। समाज की सम्पूर्ण शक्ति समुदाय मे निहित थी और बहुमत के निर्णय समाज के लिए शिरोधार्य होते थे।

वहव सभ्य यदि एक वाक्य ववेयुस्ताद्धिन परैरति सध्यम्

आगे चलकर वैदिक काल मे ही राजा का चुनाव होने लगा और जिस सभा मे वह आकर बैठता था उसका सभापति कोई अन्य व्यक्ति होता था।

नम सभाम्य सभापतिम्यश्च वोनम ।

प्रारम्भ मे राजा बनने के बाद कुछ व्यक्तियो ने स्वच्छन्द व्यवहार किया तो प्रजा ने सरलता के साथ उन्हे गद्दी से उतार दिया। महाभारत और जातक कायाओ मे और स्वय अर्थशास्त्र मे इसके सैकडो उदाहरण मिलते है जब स्वेच्छा-चारी राजाओ को प्रजा ने राज सिहासन मे पृथक् कर दिया या उनका वध कर डाला।

राजतत्र की स्थापना से पहले वैदिक काल मे कदाचित् सहस्रो वर्ष ऐसे बीते थ जब कोई राजा नही था, न राजशासन था और समाज मे प्रचलित नियमो के अनुसार आचरण करके समाजव्यवस्था चलायी जाती थी। महाभारत के शान्ति-पर्व मे कहा गया है कि "एक समय ऐसा था जब न राज्य था और न राजा था। न दण्ड था और न दण्ड देने वाला था। सभी प्रजाओ का व्यवहार धर्म (समाज मे प्रचलित नियमो) के अनुसार होता था और सभी मिल कर एक-दूसरे की रक्षा करते थे"—

न वै राज्य न राजासीत् न च दण्डो न दाण्डिक ।
धर्मेणैव प्रजा सर्वा रक्षन्ति स्म परस्परम् ॥

अथर्ववेद मे राज्यविहीन आदिम साम्यवादी व्यवस्था का वर्णन करते हुए कहा गया है —

"तुम्हारे पेय और भोजन का भाग एक समान होना चाहिए। मै तुम सबको एक प्रवृत्ति और एक ही बधन मे बाँधता हूँ।"

सह वोऽन्नभाग समाने योक्त्रे सह वो युनज्मि ।

ऋग्वेद मे यही बात और भी स्पष्टता के साथ कही गयी है—

"हम सब मिल कर अपनी रक्षा करे, हम सब मिलकर समान भाग खाये, हम सब मिलकर साहस के कार्य करे। हममे जो सर्वाधिक तेजस्वी है उसकी आज्ञाओ को शिरोधार्य करे और उससे ईर्ष्या तथा द्वेष न करें।"

सह नाववतु सह नौ भुनक्त सहवीय करवावहै ।
तेजस्विनावधीतमस्तु मा विद्विषावहै ॥

राजतत्र के प्रबल समर्थक और सस्थापक महामात्य कौटल्य भी यह मानते हैं कि राजा और राजतत्र सनातन काल से नही चले आ रहे हैं, प्रत्युत (व्यक्तिगत सम्पत्ति के उदय के बाद) जब समाज मे छोटे और बडे का भेद पैदा हुआ और कुछ लोग निर्बल तथा बलवान् हो गये एव छोटी मछली को बडी मछली की भाँति निर्बलो को बलवान् निगलने लगे, तो समाज मे अनुशासन की स्थापना के लिए दडधर राजा की स्थापना की गयी।

वैदिक कालीन समाज के राज्यविहीन युग मे जो स्वतत्रता मनुष्यो को थी, वह ब्राह्मण युग के आडम्बर भरे धर्म एव निरकुश राजतत्र मे छिन गयी, जिससे मुक्ति दिलाने के लिए बुद्धदेव ने बहुजन सुखाय-बहुजन हिताय समाजव्यवस्था की स्थापना का कार्यक्रम बताया।

इस प्रकार हम देखते है कि बौद्ध काल मे ब्राह्मण काल के विरोध मे जिस व्यवस्था की स्थापना की गयी थी उसमे यद्यपि वैदिक धर्म का खडन किया गया था, परन्तु वैदिक काल मे प्रचलित सामाजिक रीतियो को मान्यता दी गयी थी, राजतत्र की निरकुशता को अमान्य बताया गया था। बहुमत के निर्णय अन्तिम

बताये गये थे और मानवमात्र की समानता के अधिकारो को शिरोधार्य किया गया था। परन्तु ब्राह्मण युग मे स्थापित राजतत्र को जडमूल से निकालने का नारा देने की क्षमता एव साहस का परिचय बौद्धो ने भी नही किया था।

जातक कथाओ मे राज्य के सात अग माने जाते थे स्वामी अमात्य, दुर्ग, जनपद, कोष, दड और मित्र। स्पष्ट है कि वैदिक काल मे प्रकारान्तरेण यही मान्यताए थी और आश्चर्य है कि महामात्य कौटल्य ने अपने अर्थशास्त्र मे इस मान्यता को ज्यो का त्यो स्थान दिया है। इसी प्रकार, वैदिक साम्यवादी सघ, की भाँति बौद्ध साम्यवादी सघो की स्थापना की गयी थी और ये बौद्ध सघ जिन्हे आगे चल कर बौद्ध बिहार कहा जाने लगा था, उसी प्रकार के सघीय अनुशासन मे रहते थे जैसे कि आदिम साम्यवादी सघ होते थे। इन दोनो मे केवल इतना अन्तर था कि पहले सब मिलकर उत्पादन करते थे या सग्रह करते थे और समान रूप से उसका उपभोग करते थे, एव दूसरे मे उत्पन्न या सग्रह का प्रश्न तो नही था प्रत्युत् श्रद्धालु गृहस्थ जो कुछ दे देते थे उसे समान रूप से मिलकर खा लेते थे। पहले सघ राज्य मे शिशु, वृद्ध, युवक, और स्त्री-पुरुष एव गृहस्थ सभी रहते थे जबकि बौद्ध सघो मे गृह त्यागियो को ही स्थान मिलता था।

अतएव कौटल्य के अर्थशास्त्र के सम्बन्ध मे कुछ ऐतिहासिक तथ्य इस प्रकार रखे जा सकते है—

(१) वैदिक धर्म का स्थान जब ब्राह्मण धर्म ने लिया तो धर्म का बाहरी रूप कृत्रिम तथा आडम्बरपूर्ण हो गया, राजतत्र की स्थापना के साथ-साथ उसकी निरकुशता बढी हुई सामन्ती अर्थ व्यवस्था ने वर्ण व्यवस्था को दूषित एव दमघोटू बना दिया एव समाज मे विशेषाधिकार प्राप्त वर्गों के अधिकार बढ गये तथा उसी मात्रा मे बहुसख्यक जनो के अधिकार छिन गये या सीमित हो गये।

(२) इस युग मे वैदिक कालीन समाज व्यवस्था के आदिम साम्यवादी युग की मधुरता एव स्वतत्रता के सस्मरण मानव हृदयो पर पुनरकित होने लगे और वे इस आडम्बर तथा निरकुशता से निकलना चाहते थे। बुद्ध देव के बहुजन हिताय-बहुजन सुखाय कार्यक्रम मे करोडो मानवो को अपनी मुक्ति की आशा दिखायी देती

थी एव दावानल की भाँति एक राज्य से दूमरे राज्य मे बौद्ध धर्म एव विचारधारा फैलती चली गयी।

(३) लोगो को मुक्ति तो मिली, परन्तु उन्ही को जो बौद्ध सघो मे सम्मिलित हो जाते थे। बुद्धदेव राजतत्र तथा सकुचित समाज व्यवस्था के, जिसमे एक ओर दासो की विशाल सेना थी और दूसरी ओर मुट्ठी भर दासस्वामी एव सामन्त थे जिनका समाज पर निरकुश प्रभाव था, विरोध मे नारा नही लगा मकते थे। परिणाम यह हुआ कि एक ओर तो राजतत्रो की निरकुशता बढी, जन-असतोष चरमसीमा पर पहुँचता गया और दूसरी ओर समाज के बहुसख्यक बुद्धजीवी लोग बौद्ध सघो मे एकत्रित होकर अपनी व्यक्तिगत मुक्ति का मार्ग ढूँढने लगे। पूरा समाज नेतृत्वविहीन हो गया और देश की रचनात्मक एव प्रतिरोधात्मक शक्ति नष्ट हो गयी। जब पूरे देश मे वैराग्य एव गृह त्याग की प्रवृत्ति बढी तो उसी के साथ चारो ओर निराशा का अन्धकार फैल गया।

(४) इसी निराशापूर्ण वातावरण मे अलक्षेन्द्र महान् ने यूनान से कूच करके भारतीय समाज को मूलुण्ठित किया और पूरे देश मे भगदड तथा हाहाकार मच गया। इस विश्वविजेता को कडा प्रतिरोध देने की राष्ट्र की क्षमता नारगी वस्त्र धारी भिक्षुओं ने नष्ट कर दी थी और उसकी विशाल वाहिनी स्वच्छन्द गति से अभियान करती हुई जैसे आयी थी वैसे ही चली गयी।

तूफान आया और चला गया। अपने पीछे गर्द गुब्बार, टूटे पेड, फुके मकान और धराशायी राजतत्रो के चमचमाते मुकुटो को धूल मे फेकता गया।

(५) परन्तु जैसे आँधी और तूफान भूमि की उर्वरा शक्ति मे वृद्धि करते है तथा भूमि मे दबे हीरो को बाहर निकाल देते हैं, वही भूमिका अलक्षेन्द्र महान् के आक्रमण ने भारत के लिये की। पूरे देश ने राष्ट्रीय अपमान की घूँट पीकर एक राष्ट्रीय सरकार की स्थापना के स्वप्न देखने प्रारम्भ किये और महामति कौटल्य का मानवरत्न उभर कर बाहर निकल आया।

(६) किसी भी महान् साम्राज्य की स्थापना एव विजेताओ के महान् अभियानो के पीछे केवल व्यक्तिगत आकाक्षाएँ ही निर्णायक नही होती। उसकी मूल प्रेरक शक्ति और कोई न कोई आदर्श ही उसे आगे बढाता है। सेना एव

विजेता के बीच तथा उन दोनो को जनता या समाज के बीच लाने एव जोडने का काम ये आदर्श ही करते है जिनके अभाव मे प्रबल प्रतिरोध का मुकाबिला करना असभव हो जाता है।

(७) महान् मौर्य साम्राज्य की स्थापना भी केवल मौर्य की महत्वाकाक्षा एव महामात्य कौटल्य के सहयोग मात्र से होनी सभव नही थी। इसके लिए करोडो व्यक्तियो का सक्रिय सहयोग अपेक्षित था और उसके लिए विशाल एव शक्तिशाली केन्द्रीय सरकार की स्थापना करना ही प्रेरक आदेश हो सकता था। परन्तु जब तक करोडो व्यक्तियो को मुक्त करने का, राष्ट्रीय पुनर्निर्माण का कायक्रम नही अपनाया जाता एव जनता को यह विश्वास नही हो जाता कि वे जिस केन्द्रीय सरकार अथवा राष्ट्रव्यापी साम्राज्य की स्थापना कर रहे है, वह निरकुश नही होगा एव जिस अपार शक्ति को उस राज्य के हाथो मे सौंप रहे है, वह राज्य उस शक्ति का उन्ही के विरुद्ध दुरुपयोग नही करेगा, तब तक करोडो व्यक्तियो का पूर्ण सहयोग प्राप्त होना असभव है।

(८) मौर्य साम्राज्य की स्थापना के पश्चात् रचा गया महान् अर्थशास्त्र राजतत्र पर अकुश लगाये रखने का, राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था के पुनर्गठन का, करोडो व्यक्तिया के सामाजिक अधिकार निश्चित करने का और राष्ट्र की रक्षा का स्थायी प्रबन्ध करने एव राज्य के सामान्य प्रशासन मे से राजा का दैनिक हस्तक्षेप हटाने का प्रभावशाली आश्वासन एव सिद्धान्त शास्त्र है।

इसीलिए अर्थशास्त्र की ऐतिहासिक उपादेयता और महत्त्व उस मात्रा से बहुत अधिक है, जो समझी जाती है।

स्वय कौटल्य ने अपने और अर्थशास्त्र के सम्बन्ध मे बडे गर्व के साथ कहा है कि "अपने पूर्व प्रचलित सभी शास्त्रो का अनुशीलन करके और शास्त्रोक्त सिद्धान्तो को प्रयोग की कसौटी पर कस कर कौटल्य ने राजा (मौर्य) के लिए इस शासन विधान (विधि) का निर्माण किया है।"

सर्वशास्त्राण्यनुक्रम्य प्रयोगमुपलभ्य च ।
कौटल्येन नरेन्द्रार्थे शासनस्य विधि कृत ॥ (अधि० २, अध्याय ११)

अर्थशास्त्र के सम्बन्ध मे इससे अधिक गौरव की बात दूसरी क्या हो सकती

है कि उसका रचयिता स्वय इसके सम्बन्ध मे यह दावा करता है कि यह राज्य का नया शासन विधान है, सभी शास्त्रो की तर्कसगत बातो का इसमे समन्वय किया गया है और यह कि सभी सिद्धान्त कसौटी पर खरे उतारे गये है।

अब प्रश्न केवल यही है कि नरेन्द्र अर्थात् राजा कौन है जिसके लिए यह शासनविधान लिखा गया है ? यह मौर्य ही है, मौर्य से भिन्न कोई राजा है या नरेन्द्र का अर्थ केवल सामान्य राजा है ? सामान्य स्थिति मे और सामान्य काल मे एव सामान्य रूप से राजतत्र के लिए इस ऐतिहासिक ग्रन्थ की रचना नही हो सकती थी। ऐसा विशेष ग्रन्थ विशेष परिस्थितियो मे किसी राजा विशेष के लिए ही लिखा जा सकता था। अतएव "नरेन्द्रार्थे" का अर्थ केवल "मौर्यार्थे" ही हो सकता है।

कौटल्य के अथर्तत्र मे जिस प्रकार से सामाजिक अर्थव्यवस्था के लिए सर्वांगीण विकास पर अतिशय बल दिया गया है वह केवल इसी बात का सूचक नही हे कि तत्कालीन भारत मे प्रबल वेग से आर्थिक शाखाओ का विकास हो रहा था, बल्कि समाज मे एक व्यापक आर्थिक दृष्टिकोण का विकास भी हुआ था जो कि पुरानी मान्यताओ, रूढिवाद, भाग्यवाद एव अन्धविश्वासो से दूर समाज को ले जाता था।

कौटल्य कहते है—

"जो मूर्ख धन प्राप्ति के लिए भाग्य या ग्रह की पूछताछ करता है उसे धन कभी प्राप्त नही होता। धन का ग्रह तो धन है। उसमे ग्रह और नक्षत्र क्या करेगे।"

"जिनके पास धन नही होता उन्हे कभी धन नही मिलता। जैसे हाथी-हाथी को खीच कर लाता है वैसे ही धन धन से खिचता है।"

नक्षत्रमतिपृच्छन्त बालमर्थोऽतिवर्त्तते।
अर्थो ह्यर्थस्य नक्षत्रं किं करिष्यन्ति तारका ॥
नाधना प्राप्नुवन्त्यर्थान्नरायत्नशतैरपि।
अर्थैरर्था प्रबध्यन्ते गजा. प्रतिगजैरिव ॥ (अधि० ९, अध्याय ४)

अर्थशास्त्र के इस अर्थवादी दृष्टिकोण ने समाज के विभिन्न भागो-वर्णो के

आपसी सम्बन्धो मे व्यापक क्रान्ति ला दी तथा वर्गों मे यह भावना जाग्रत की कि शूद्रो के सहित सभी वर्गों तथा व्यक्तियो को प्रयास करके आर्थिक दृष्टि से आत्मविभोर होना चाहिए। अर्थशास्त्र इसका प्रमाण है कि विभिन्न वर्गों मे कितनी-व्यापक आर्थिक हलचल पैदा हुई थी और पुराना सामाजिक ढाँचा टूट रहा था और नया सामाजिक ढाँचा एव उसकी मान्यताएँ उभर कर ऊपर आ रही थी।

अगली पक्तियो मे समाज के सबसे निचले स्तर पर रहने वाले शूद्रो की आर्थिक व सामाजिक स्थिति की विवेचना की गयी है। ऊपर से देखने मे कौटल्य ने शूद्रो के सम्बन्ध मे जब और जहाँ कुछ कहा है कि वह पुराने धर्मशास्त्रो एव सामाजिक रूढियो से भिन्न प्रतीत नही होता। परन्तु फिर भी, उनके लिए जीविका के नये क्षेत्रो तथा शाखाओ का सुझाव देकर कौटल्य ने केवल द्विजो की सेवा के जीविका साधनो पर निर्भरता से उन्हे बचाने का प्रयास किया है।

पुराने धर्मशास्त्रो के अनुसार और विशेष रूप से मनु द्वारा प्रतिपादित सामाजिक परिपाटी मे शूद्रो की जीविका का एकमात्र साधन द्विज जातियो की सेवा करना था और वे किसी स्वतत्र आजीविका का अवलम्बन नही कर सकते थे। परन्तु कौटल्य मे जहाँ एक ओर दस्तकारी, नृत्य, सगीत और नाटक मडलियो मे अभिनय आदि के रूप मे उनके जीविका साधनो का निरूपण किया है वहाँ भूमि व्यवस्था तक मे शूद्रो को स्थान दिया है और उन्हे दास या कर्मकर के रूप मे ही नही बल्कि कास्तकारो के रूप मे। यद्यपि यह आर्थिक और सामाजिक परिवर्तन बहुत बडा था परन्तु कौटल्य ने अतिवादिता का रग चढाये बिना और विशेष शोर मचाने का लोभ सवरण करके यह युगान्तरकारी परिर्तन कर डाला और बहुत बडे सुधार की नीव बहुत चुपके से रख दी।

नवीन उपनिवेशो की स्थापना का सुझाव देते समय कौटल्य कहते है कि एक सौ से पाँच सौ परिवारो के नये गाँव बसाते समय शूद्र कृषको को आबाद किया जाये। यह धारणा "शूद्र कृषक प्रायम्" शब्द से स्पष्ट हो जाती है। यहाँ शूद्र शब्द कर्षक का विशेषण है और ऐतिहासिक तथा आर्थिक दृष्टि से यह प्रसग के अनुरूप है कि नये उपनिवेशो मे केवल कृषको की ही आवश्यकता होती है

और ये शूद्र कृषक उच्च वर्ण के कृषको की अपेक्षा अधिक परिश्रम करके नये उपनिवेशो को बसा सकते थे।

इस प्रकार नये उपनिवेश बसाने की आर्थिक एव सामाजिक आवश्यकता ने अर्थशास्त्र काल मे शूद्रो को नये आर्थिक क्षेत्र मे प्रवेश का शुभ अवसर प्रदान कर दिया। शूद्र शब्द के साथ ही एक नये पारिभाषिक शब्द ने सामाजिक जीवन मे प्रवेश किया जिसे "कर्मकर" कहते थे। ये शूद्रो तथा दासो से भिन्न थे जिन्हे दैनिक मजदूरी देकर काम पर ले जाया जाता था और जो खेतों मे काम करके जीविका चलाते थे। इसके अलावा, भूमिहीन शूद्र जातियाँ अस्थायी किसानो के रूप मे पट्टे पर राज्य या भूस्वामियो की भूमि पर खेती करती थी।

अर्थशास्त्र मे विस्तार पूर्वक और स्पष्टता के साथ यह व्यवस्था की गयी है कि नई भूमि को तोडकर खेती के अन्तर्गत लाते समय शूद्रो के नाम आजीवन पट्टा कर देना चाहिए। यह भूमि राज्य की ओर से एक बार तोडकर उन्हे दी जाती थी और पशु, खेती के अन्य साधन तथा बीज आदि भी उन्हे दिये जाते थे जिसके अभाव मे भूमिहीन शूद्रो के लिए खेती करना सम्भव नही था। इसके बदले मे वे नियमित रूप से राज्य को भूमिकर तथा दूसरे टैक्स अदा करते थे। इसमे शूद्रो के सिर पर बेदखली की तलवार सदा लटकती रहती थी। यदि वे नियमित रूप मे टैक्स नही दे पाते थे तो भूमि से बेदखल कर दिये जाते थे एव वैदेशको (वैश्यो) को वह भूमि दे दी जाती थी जिन्हे मुख्य कृषक समझा जाता था या ग्राम भृतको को दे दी जाती थी। परन्तु वैश्यो को बेदखल नही किया जाता था जिन्हे भूसम्पत्ति पर कुल परम्परागत अधिकार मिले हुए थे। हाँ, यदि जीवनपर्यन्त ये शूद्र किसान भूमिकर तथा राज्य के दूसरे करो को ठीक समय पर भुगतान करते रहते थे तो विशेष सुविधा के रूप मे उनकी सन्तानो को वंश-परम्परागत अधिकार मिल जाता था।

शूद्र किसान इस पट्टे के बदले मे केवल भूमिकर आदि ही नहीं देते थे बल्कि उन्हे राजकीय कार्यों मे तथा राज्य के दूसरे आर्थिक सस्थानों मे बेगार भी करनी पडती थी। किसी उपनिवेश मे इनकी जनसख्या [बढ जाती थी तो राज्य उन्हें

२

वहाँ से हटाकर किसी नये उपनिवेश मे जाकर बसने एव वहाँ खेती के विकास मे हाथ बटाने को बाध्य कर सकता था ।

राजतत्र सामन्ती कृषि अर्थव्यवस्था के निर्माण कार्य मे इतना दत्तचित था कि उसे सदा ही बेगारियो की सेना की आवश्यकता रहती थी। जिन शूद्रो के नाम भूमि के अस्थायी पट्टे किये जाते थे उन्हे इस बेगार (विष्टि) की पूर्ति के लिए सदा तैयार रहना पडता था और उन्हे राजाज्ञा अस्वीकार करने का अधिकार नही था।

सभवत बेगारियो और दासो तथा कर्मकरो की विशाल सेना इन शूद्र जातियो मे से ही निकल-निकल कर आती थी।

कौटल्य से पहले के भारत मे दास प्रथा घरेलू कार्यो तक सीमित थी और समाज मे उन्हे किसी प्रकार का कोई आर्थिक व सामाजिक अधिकार नही था। ब्रह्मणवादी लेखको और दार्शनिको मे कौटल्य पहले और शायद एकमात्र लेखक है जिन्होने दासो के आर्थिक पक्ष एव उनसे खेती का विकास कराने के सम्बन्ध मे इतनी स्पष्टता के साथ प्रकाश डाला है। यद्यपि बुद्ध के समय मे पाली साहित्य मे तीन बडे राजकीय कृषि फार्मो का उल्लेख मिलता है परन्तु वे नाममात्र के थे और कृषि व्यवस्था पर उनका कोई प्रभाव नही था। परन्तु अर्थशास्त्र काल मे राजकीय खेती कृषि अर्थव्यवस्था पर छा गयी थी और उसी के माध्यम से खेती की उन्नति साकार हो रही थी। इन राजकीय कृषि फार्मो मे कर्मकर, दास, बन्दी, एव शूद्र कार्य करते थे और खेती के विनाश मे सर्पो, जगली जानवरो एव पशु पक्षियो के आक्रमणो और दैवी विपदाओ तथा प्रकोपो का निवारण करने के लिये बडे स्तर पर प्रतिरोधात्मक कार्यवाहियाँ की जाती थी। कौटल्य ने विस्तार के साथ यह निरूपण किया है कि कौन से महीने मे किस विधि के साथ कौन सी फसल बोनी चाहिए, उसके लिए कितना पानी अनिवार्य है, बीज की रक्षा और सरोपण किस विधि से करना अपेक्षित है तथा कितनी वर्षा किस फसल के लिए पर्याप्त समझनी चाहिए, आदि।

अर्थशास्त्र से एक दूसरे महत्त्वपूर्ण सिद्धान्त पर भी प्रकाश पडता है कि समाज मे जब किसी मुख्य आर्थिक शाखा का जन्म एव विकास होता है तो

किस तीव्र गति से दूसरी सैकडो-हजारो आर्थिक उप शाखाओ का जन्म एव विकास हो जाता है। कौटल्य कालीन भारत मे कृषि अर्थतत्र के विकास के साथ ही बढई, लुहार, धोबी, नाई, रथकार, सपेरे, शिकारी, धरती खोदने वाले और ऐसे ही सैकड़ो नये धन्धे समाज मे चहल-पहल करने लगे। जब समाज मे मुख्य आर्थिक शाखा के विकास मे गतिरोध पैदा होता है तो सभी आर्थिक उप शाखाएँ मुरझाने लगती हैं जो मुख्य शाखा की सहायक तथा पूरक होती है और एक बार नयी उपशाखा के जन्म एव विकास के बाद अथवा पुरानी आर्थिक शाखा के नवीन जीवन धारण के बाद मृतप्राय आर्थिक उपशाखाए फिर से चहचहाने लगती हैं। अर्थशास्त्र मे यह सिद्धान्त कृषि के विकास के साथ अत्यन्त सजीव हो उठा है।

यह कहना अतिशयोक्ति न होगी कि अर्थशास्त्र के शब्दो मे मौर्य साम्राज्य कर्मकारो, दस्तकारो और फुटकर कार्य करने वाले करोडो व्यक्तियो तथा वर्गों से काम लेने वाला तथा उन्हे रोजगार देने वाला राजतत्र था और उसने राजतत्र की समृद्धि मे वृद्धि करने के लिए कृषि अर्थतत्र का विकास करना अपना चरम लक्ष्य बना रखा था।

जो किसान समय पर जुताई-बुवाई का काम नही करते थे राज्य उनसे भूमि लेकर दूसरो को अर्ध बटाई पर दे देता था। परन्तु यदि यह भूमि कर्मकरो (जी के साझियो) को दी जाती थी जो केवल अपना शारीरिक परिश्रम कर सकते थे और खेती के साधन जिनके पास नही होते थे, उन्हे यह भूमि बटाई पर पाँचवे हिस्से पर दी जाती थी। राज्य खेती का पूरा खर्च वहन करता था। इस प्रकार यह समझा जा सकता है कि मौर्यकालीन भारत मे राज्य सबसे बड़ा किसान था।

बटाईदारो को यह सुविधा थी कि वे अपने अस्तित्व की देखभाल करके राजकीय अदायगियो का भुगतान करे और राज्य के लिए भी यह आदेश था कि वह बटाईदारो का हित सामने रख कर अपने कर आदि वसूल करे। बटाई-दारो को जमीन का एक टुकडा निजी खेती के लिए भी दिया जाता था और इसके बदले मे वे राज्य को किसी प्रकार का कर नही देते थे।

उच्च वर्णों के किसान अपने निजी खेतो मे खेत मजदूरो, दासो और दस्तकारो से (राजकीय फार्मों की भाँति बन्दियो से नही) काम लेते थे। गोप अधिकारी का काम किसानो से भूमि का कर सग्रह करना था और यह भी पुस्तक मे उल्लिखित करना था कि ग्राम विशेष मे कितने शूद्र कर्मकर तथा दास रहते हैं और आवश्यकता पडने पर कितने बेगारी (विष्टि) प्राप्त किये जा सकते हैं। गोप की पुस्तक मे उल्लिखित शूद्रो तथा कर्मकरो को प्राय कर से मुक्त रखा जाता था और इसके बदले मे वे बेगार देते थे।

कुछ ग्राम ऐसे थे जो पूर्णतया करमुक्त थे और राज्य की सहायता केवल बेगार के रूप मे अदा करते थे। पूरी अर्थव्यवस्था का निर्माण किसी न किसी रूप मे बेगार पर निर्भर था और राजतत्र सुनियोजित ढग से बेगार शक्ति का सगठन एव उपयोग करता था। कर्मकरो और दासो की जनसख्या मुख्य रूप से बेगार के लिए नियत थी।

अर्थशास्त्र मे पशुपालको, चरवाहो के एक बडे वर्ग के सम्बन्ध मे विस्तार के साथ विचार किया गया है जो राजकीय चरागाहो मे नियत वेतन पर बेगार की शर्तों पर राजकीय पशुओ का पालन करते थे और राज्य की ओर से इनकी देखभाल करने वाला एक बडा अधिकारी होता था। इन चरवाहो के लिए बडे कठोर नियम थे और यहाँ तक होता था कि यदि चरवाहे के प्रमाद से कोई पशु नष्ट हो जाता था तो उसे राज्य की ओर से मृत्यु दड तक दिया जाता था। अर्थशास्त्र से पहले के किसी साहित्य मे इतनी कडी सजा का उल्लेख नही है। इसके दो कारण हो सकते है। पहला और बडा कारण तो यह है कि खेती के उन्नत विकास ने पशुशक्ति को एक नया रूप दे दिया था जिसमे पशुओ का महत्त्व पहले की अपेक्षा कई गुणा बढ गया था और दूसरा यह कि बौद्ध एव जैन धर्मों के प्रसार ने हिसा की ओर से समाज को पूर्णतया विमुख कर दिया था।

शूद्रो और विशेष रूप से दस्तकारो ने कृषि अर्थशास्त्र के विकास के साथ-साथ समाज मे अपने लिए विशेष स्थान बना लिया था। यह बात उन वेतनमानो से सिद्ध होती है जो कौटल्य कालीन भारत मे महामात्य से लेकर छोटे से छोटे राजकर्मचारियो के लिये नियत थे। कुछ दस्तकार ऐसे भी थे जो मोटे

कार्यों के अलावा कातने, बुनने, खान खोदने, गोदाम रखने, शस्त्रो का निर्माण करने और धातु-विज्ञान के सूक्ष्म एव कौशलपूर्ण कार्यों मे सलग्न थे। बुनकर आदि मौर्य से पहले के युग मे केवल गृहस्थो का कार्य करते थे। परन्तु अब उन्हे राज्य मबसे बडा रोजगार देने वाला था। दस्तकार आमतौर पर अपने साधनो के स्वामी होते थे परन्तु राज्य उन्हे कच्चा माल देता था। दास आमतौर पर मोटा काम करते थे और दस्तकारी के क्षेत्र से बाहर थे। खानो मे भी दास काम नहीं करते थे बल्कि कर्मकर करते थे।

परन्तु दस्तकारो के कार्य-कलाप केवल राजधानी तथा बडे नगरो तक सीमित थे। सभी स्थानो पर कुशल दस्तकारो का मिलना सभव नही था। राजधानी मे ये दस्तकार प्राय सूत्राध्यक्ष एव शस्त्राध्यक्ष के अधीन कार्य करते थे और केवल राज्य के लिए कार्य करते थे। औद्योगिक सस्थानो तथा दस्तकारो की देखभाल के लिए एक समिति होती थी और दस्तकार अपने सघ बनाकर भी कार्य करते थे एव अपने हितो की पैरवी करते थे। मोटा काम करने वाले दस्तकार सभी स्थानो पर सुलभ थे एव उनसे राज्य अपने पूरे राज्य मे लकडी काटने आदि का मोटा ही काम लेता था और वेतन देता था।

प्राचीन भारत मे अथशास्त्र सबसे पहली पुस्तक है जिसने मालिक और नौकर के आपसी सम्बन्धो के बारे मे सामान्य नियमो का प्रतिपादन किया है। आमतौर पर समाज इन दस्तकारो की तिकडमो तथा शरारतो से तग था और स्वय कौटल्य ने इन्हे सामाजिक परेशानी का कारण समझा है तथा माना है कि प्रजाजनो को तग करना इनका स्वभाव होता है। इस पर अकुश लगाने के लिये कुछ कडे नियम बनाये गये थे। उनके लिए यह आवश्यक समझा गया था कि जैसे काम का आदेश दिया गया हो वैसा ही काम, उसी समय एव स्थान पर दे जैसा कि आपस मे समझौता हो चुका हो। इस नियम का उल्लघन करने पर उनकी आधी मजदूरी काट ली जाती थी। मजदूरी का दुगना दड भरना पडता था और हरजाना अलग से देना पडता था। वह यदि अपने काम मे प्रमाद करता है, आनाकानी करता है जब कि उसे मजदूरी पेशगी मे मिल चुकी हो तो १२ पण तक उसे दड दिया जा सकता था और तब तक काम करता

था जब तक वह पूरा नही हो जाता था। हाँ, यदि वह वास्तव मे असमर्थ होता था तो यह सब नही किया जाता था।

इसके साथ ही कौटल्य ने दस्तकारो के हितो की रक्षा के लिए भी कुछ नियम बनाये थे। ऐसे व्यक्तियो पर एक हजार पण तक दड होता था जो दस्तकारो को अपनी न्यायोचित आय करने से वचित करते थे, उनके अच्छे काम को घटिया बताते थे, उनके माल की बिक्री मे बाधा डालते थे और उन्हें किसी लाभदायक माल के खरीदने मे बाधक बनते थे। यदि मालिक काम पर आये दस्तकार से काम नही लेता था तो १२ पण दड भरता था और यदि वह उससे काम लेने से इकार करता था तो काम पूरा हुआ मान लिया जाता था और उसे मजदूरी मिल जाती थी। कौटल्य ने ऐसे दस्तकारो को एक विशेष अधिकार भी दिया है जो सघ मे सगठित होते थे। उन्हे अपने ठेके के काम की पूर्ति मे सात दिन का फालतू समय मिल सकता था।

इनके वेतनो के सम्बन्ध मे अनिश्चित नियम नही थे। काम के गुण के अनुसार वेतन निश्चित करने का सिद्धान्त प्रचलित था। दस्तकार, सगीतकार चिकित्सक, पाचक और दूसरे कर्मकरो को उतना ही वेतन मिलता था जितना योग्य व्यक्ति तय कर दे। नौकरो को वही वेतन देना पडता था जो पहले आपस मे तय हो जाता था। परन्तु यदि तय किये बिना कोई मालिक के यहाँ कार्य प्रारम्भ कर देता था तो खेत मजदूर (कर्मकर) को खेती की पैदावार का दसवाँ, चरवाहे को उसके द्वारा पाले गये पशुओ से उत्पन्न घी का दसवाँ और व्यापारी को कुल माल की बिक्री पर आय का दसवाँ भाग वेतन मे देना पडता था। यहाँ मुख्य अन्तर जो देखने योग्य है, यही है कि राजकीय खेतो मे काम करने वाले कर्मकर को पैदावार का चौथा या पाँचवाँ भाग मिलता था जब कि कृषक के खेत मजदूर को केवल दसवाँ भाग मिलता था।

कर्मकर और मालिक के बीच का विवाद साक्षियो के वक्तव्य के आधार पर तय किया जाता था और यदि साक्षी सुलभ नही होते थे तो मालिक पर अपना मत सिद्ध करने का भार डाला जाता था। मालिक का अपराध सिद्ध होने पर मजदूरी का दसगुना दड दिया जाता था और या ६ पण दड मिलता

था। कर्मकरो का दैनिक वेतन ३।४ से ३।५ पण तक था। खेत मजदूर का वेतन इसकी तुलना मे बहुत कम था, सवा पण मासिक।

अर्थशास्त्र मे प्रशासन मे कार्य करने वाले अधिकारियो तथा कर्मचारियो के वेतनो मे असाधारण अन्तर था जो कि मूल पुस्तक मे विस्तार के साथ दिया गया है। राजतत्र का ऊपरी भाग आर्थिक दृष्टि से बहुत महँगा और भारी था एव निचले स्तरो पर कर्मचारियो का वेतन विडम्बनामात्र था।

वेतन के साथ भत्ता देने की परिपाटी भी अर्थशास्त्र काल मे प्रचलित थी और इसके लिए निश्चित नियम प्रचलित थे जैसा कि पाठक अगली पक्तियो मे मूल पुस्तक पढते समय जान सकेगे। इसके अलावा, आर्यों (सवर्ण जातियो) के अधिकारियो तथा कर्मचारियो को जितना राशन दिया जाता था उसका कम भाग (चावल आदि को छोडकर) निम्न जातीय कर्मकरो को वेतन के रूप मे मदिरा देने की परिपाटी भी थी जिसका बुरा प्रभाव उनके आर्थिक जीवन पर पडता था। शूद्रो और निम्न जातीय कर्मकरो को घटिया खाद्य पदार्थ दिये जाते थे। उत्तर भारत मे आज भी यह परिपाटी प्रचलित है कि शूद्र जातियो को खेतो मे काम करने का वेतन अनाज या राशन के रूप मे दिया जाता है और इसका सूत्रपात निश्चयपूर्वक मौर्य काल मे हुआ होगा।

सामन्ती भूमि व्यवस्था के उदय काल मे शूद्रो, कर्मकरो के आर्थिक जीवन मे कुछ परिवर्तन आया। उन्हे नवीन उपनिवेशो मे खेती के लिए भूमि मिली और उन्होने खेत मजदूर के रूप मे जीविका साधन पाये। वे राजकीय कृषि फार्मो मे बटाईदार के रूप मे कार्य करते थे। परन्तु यह परिवर्तन उनके मूल सामाजिक रूप मे विशेष अन्तर नही ला सका। फिर वे भी शूद्र के शूद्र बने रहे और उनका दासता का रूप बना रहा। अपना आर्थिक आधार दृढ करने के लिए राजतत्र को उनके उस सामाजिक रूप मे अन्तर लाना अभिप्रेत नही था। उनका ऊपरी रूप अब भी वही था जो कौटल्य से पहले धर्मसूत्रो के काल मे था।

यद्यपि कौटल्य ने धर्मसूत्रकारो की भाँति शूद्रो और निम्न जातीय व्यक्तियो को उच्च राजसेवा के पदो से बहिष्कृत नही किया है, फिर भी द्विज जातीय

व्यक्तियो को राजपद एव राजतत्र के उच्च पदो पर आसीन करने का सुझाव कौटल्य ने भी दिया है। कौटल्य ने अपना अभिमत प्रकट करते हुए कहा कि अभिजात्य वर्ग के निर्बल राजा को भी प्रजा एव प्रकृतिजन आदर की दृष्टि से देखते है तथा उसके आदेशो को शिरोधार्य करते है।

हाँ, कौटल्य ने शूद्र जातियो के व्यक्तियो को जालमाजी, गुप्तचर विभाग आदि मे प्रमुख स्थान देने की मान्यता प्रदान की है जो कि मौर्य कालीन भारत मे राजनीति का महत्त्वपूर्ण एव सर्वोपरि विभाग समझा जाता था। जालसाजी तथा गुप्तचर कार्यो मे सुन्दर शूद्र स्त्रियाँ भी नियुक्त की जाती थी और शूद्रो को राजा का सदेशवाहक दूत बनाकर भी भेजा जाता था। वे चाहे अछूत ही क्यो न हो, परन्तु सदेशवाहक दूतो को अबध्य माना जाता था।

एक विशेष अन्तर और अधिकार कौटल्य ने शूद्रो को यह दिया था कि वे सेना मे भरती हो सकते थे जबकि धर्मसूत्र काल मे केवल क्षत्रिय सेना मे भरती हो सकते थे और सकटकाल मे ब्राह्मण तथा वैश्य शस्त्र उठा सकते थे। विपरीत इसके, कौटल्य ने ब्राह्मणो की सेना को श्रेष्ठ नही माना है जिन्हे केवल प्रणामामात्र से शत्रु परास्त कर सकता है।

बागुरिका (दण्डधरो) पुलिन्दो और चाण्डालो की, जो कि पूर्णतया अछूत जातियाँ थी, एक विशेष सेना सगठित करने का आदेश कौटल्य ने दिया था जो आक्रमण के समय शत्रु सेना को परेशान करते थे और विशेष रूप से सुरक्षात्मक सघर्षो मे निर्णायक युद्ध करते थे।

कानून और सामान्य प्रशासन मे पतितो, अन्त्यजो और चाण्डालो को किसी का साक्षी बनने का अधिकार नही था, परन्तु वे अपनी जाति के लोगो के विवादो मे साक्षी बन सकते थे। नौकर अपने स्वामी के खिलाफ, बन्धेवी मजदूर और दास अपने साथियो के साथ समझौता नही कर सकते थे। साक्ष्य देने से पहले जो शपथ ली जाती थी उससे सबसे कठोर चेतावनी शूद्रो को दी जाती थी कि झूठ बोलने पर उन्हे क्या-क्या दड दिये जा सकते है, आदि। भिन्न वर्ण की स्त्रियो के साथ सम्पर्क स्थापित करने या मारपीट, हिंसा और तिरस्कार करने मे ऊँचे वर्णो के लिए जो दड विहित था, वही शूद्रो तथा और जातियो के लिए नही

था। उन्हे मौत की सजा दी जा सकती थी एव उनके अगो को काटा जा सकता था जिससे वे ब्राह्मण आदि के प्रति अपराध करते थे।

कौटल्य आर्यों को दास बनाने का विरोध करते है। आर्यो को दास बनाकर बेचने वाले को तथा उसकी गवाही देनेवाले को आर्थिक दड दिया जाता था। परन्तु आर्यों को कानूनी दड के रूप मे, युद्ध मे पकडे जाने पर अथवा स्वेच्छा-पूर्वक दास बनाया जा सकता था। इस प्रकार आर्य (स्वतत्र) भी दासता मे बदल जाता था।

घरेलू स्थिति के बिगड जाने, आर्थिक ढाँचा टूट जाने और कर्ज आदि उतारने के लिए स्वेच्छापूर्वक स्वाधीन लोग दासता ग्रहण कर लेते थे। वे अपने आपको धरोहर भी रख देते थे। धरोहर के रूप मे रखे लोगो के प्रति कौटल्य ने बहुत उदार सामाजिक नियम बनाये थे। नका विस्तार पूर्वक उल्लेख मूल पुस्तक मे किया गया है।

कौटल्य ने एक बार किन्ही परिस्थितियो के वशीभूत होकर दास हुए आर्य लागो की स्वतत्रता की प्राप्ति के लिए बहुत उदार नियमो का उल्लेख किया ह। कौटल्य इम परिपाटी का उल्लेख केवल म्लेच्छ जातियो के लिए करते हैं कि यवनो मे आर्य का दास हो जाना एव दास का आर्य हो जाना सामाजिक परिपाटी है।

यह कहना सही नही हे कि मौर्य काल मे शूद्रो तथा पिछडी जातियो के सामाजिक व आर्थिक जीवन मे कोई अन्तर एव सुधार नही आया था।

अर्थशास्त्र मे सम्पत्ति विभाजन के अध्याय से प्रकट है कि विजातीय विवाहों की प्रथा प्रचलित थी और समाज उन्हे मान्यता देता था।

पाणिनि चाण्डालो की गिनती शूद्रो मे करते हैं, परन्तु कौटल्य चाण्डालो को चारो वर्णों से बाहर मानते है।

यद्यपि शूद्र जातियो को बहुत सी सुविधाएँ दी गयी थी, परन्तु फिर भी परम्परा के रूप मे द्विज जातियो से वे पीछे थी।

४

यद्यपि यह दावा करना उचित न होगा कि भारतीय सामन्तवाद के आदि सिद्धान्तकार महामात्य कौटल्य ही थे, इसलिए कि यह स्थान केवल मनु को ही प्राप्त हो सकता है। परन्तु इसमे सदेह नही है कि मनु कालीन सामन्तवाद बहुत प्रारम्भिक अवस्था मे था और उसे समाज द्वारा मान्यता प्राप्त नही हुई थी। विपरीत इसके, महामात्य कौटल्य न केवल महान् सिद्धान्त शास्त्री थे, प्रत्युत सामन्ती व्यवस्था और साम्राज्य के सस्थापक एव नेता थे। अर्थशास्त्र मे राजा का जो अनुशासित आचरण आदर्श रूप मे प्रस्तुत किया गया है वह केवल काल्पनिक नही था। कौटल्य कालीन भारत मे राजाओ को दीक्षित एव प्रशिक्षित किया जाता था, उनमे निरकुशता के बीज मिटा दिये जाते थे तथा राज्य का असली स्वामी, प्रजाजन सदा उसकी दृष्टि के सामने रखे जाते थे।

यद्यपि यह सही है कि कौटल्य कालीन भारत मे राजा का निर्वाचन नही होता था। राजसिहासन विरासत मे प्राप्त होता था। परन्तु राजतत्र के जन्म से पहले राजा का निर्वाचन होता था, यह बात किसी से छिपी नही है। अपने निर्वाचन के उपरान्त वह जो शपथ ग्रहण करता था वह बहुत भयानक होती थी। ऐतरेय ब्राह्मण मे लिखा है—

"यदि मै प्रजाजनो से विश्वासघात करूँ तो मै जिस रात्रि मे पैदा हुआ तथा जिस रात्रि मे मेरी मृत्यु होगी इन दोनो के बीच मे मेरे द्वारा किये गये सभी पुण्य कर्म नष्ट हो जाये तथा मुझे स्वर्ग तथा मोक्ष प्राप्त न हो एव मै अपने जीवन तथा सतान सभी से वचित कर दिया जाऊँ।'

याच रात्रिभजायेऽह याच प्रेतास्मि तदुभयमन्तरेण।
इष्टापूर्तं म लोक सकृतमायु प्रजा वृज्जीथा यदि ते द्रुह्येयमिति ॥

इसके अलावा पुरोहित का राजतत्र मे सबसे ऊँचा स्थान धार्मिक कृत्यो के कारण ही नही माना जाता था। राजपुरोहित जो कि प्राय कौटल्य कालीन भारत मे महामात्य एव राजा के बीच का सम्मानित पद समझा जाता था, केवल धार्मिक कृत्यो मे ही राजा का अनुशासक नही था। यह समझा जाता था कि पुरोहित का प्रजाजनो के साथ प्रत्यक्ष सम्पर्क है एव प्रजाजन पुरोहित के द्वारा

अपनी सामूहिक एव व्यक्तिगत आकाक्षाओ को राजतत्र तक पहुँचाते थे। पुरोहित को दिया गया उच्च कोटि का सम्मान प्रजाजनो को दिया गया आदर समझा जाता था और पुरोहित का रोष प्रजाजनो का राजतत्र के प्रति विद्रोह माना जाता था। इस प्रकार पुरोहित का उच्च पद राजतत्र को निरकुशता की ओर बढने से रोकता था।

राजतत्र विकसित होकर सामन्ती अर्थव्यवस्था के रूप मे निखर चुका था और पूरे समाज ने यह स्वीकार कर लिया था कि राजतत्र एक उन्नत राज्य व्यवस्था है तथा सामन्तवाद एक प्रगतिशील अर्थव्यवस्था है। इस विशाल राजतत्र का, जिसकी सैकडो प्रशासकीय इकाइयाँ थी और हजारो आर्थिक शाखाएँ तथा उप शाखाएँ थीं, किसी राजाविशेष के हाथो मे सीमित एव नियत्रित रह सकना सभव नही था। इसीलिए विभागो का सगठन किया गया था और प्रत्येक विभाग का एक अध्यक्ष होता था एव अमात्य परिषद् मे ऐसे अनेक अमात्य रहते थे जो इन प्रशासनिक इकाइयो की देखभाल करते थे, उनसे काम लेते थे और विशेष परिस्थितियो मे ही इन विभागो की समस्याएँ सीधे राजा तक पहुँच पाती थी। कौटल्य द्वारा स्थापित विभागीय प्रशासन व्यवस्था हजारो वर्षों तक चलती रही जिसमे अमात्य परिषद् राजतत्र का नियमन करती थी, उसे सुचारु ढग से चलाती थी और राजा भी जिसमे केवल सम्मतिमात्र देने वाला था वह राजतत्र का सर्वेसर्वा नही माना जाता था। परन्तु आगे चलकर अमात्य परिषद् प्रभावहीन हो गयी तथा राजा का प्रभाव अनियत्रित माना जाने लगा। अमात्य परिषद् ने दरबार का रूप धारण कर लिया एव दरबारी लोगो की कुशलता इसी मे समझी जाती थी कि वे राजा की कितनी खुशामद कर सकते हैं और उसे कितना प्रसन्न रख सकते हैं। अमात्य परिषद् के दरबार के रूप मे बदल जाने से राजतत्र की प्रतिष्ठा गिरने लगी। उसकी निरकुशता निरन्तर बढती गयी। उसके प्रशासन के प्रति जनता मे उत्तरदायित्वपूर्ण दृष्टिकोण समाप्त हो गया और जनता एव राजतत्र को जोडने वाला हजारो वर्ष पुराना धागा टूट गया। इस प्रकार कौटल्य कालीन भारत मे सर्व विजयी, सर्वमान्य एव प्रगतिशीलता का अग्रदूत बनकर आने वाला सामान्तवाद प्रक्रियावाद

का अग्रदूत बन गया और जनता से उसका पूर्णतया सम्बन्ध विच्छेद होने लगा।

यह बड़े आश्चर्य की बात है कि आज से ढाई हजार वर्ष पहले एक सिद्धान्त-कार इतना प्रतिभाशाली था कि समाज की प्रगति के लिए प्राचीन एव रूढिवादी परम्पराओ के विरुद्ध सघर्ष करना अनिवार्य समझता था और साथ ही समाज के सर्वांगीण विकास के लिए एव सामन्तवाद के अभ्युत्थान के लिए आर्थिक योजनाओ को कार्यान्वित करना सर्वोपरि मानता था। कौटल्य का राजतत्र एक सामाजिक सस्थान प्रतीत होता है न कि किसी राजा विशेष का वैभव स्थापित करना। कौटल्य के सामन्तवाद मे शेष अन्य छ प्रकृतियो की भाँति राजा भी सातवी प्रकृतिमात्र है और यह घोषणा करने मे कौटल्य ने कोई सकोच नही किया कि दूषित मनोवृत्ति का राजा राजतत्र का उच्छेदक बन जाता है और उसकी निरकुशता की प्रतिक्षण निगरानी रखना अनिवार्य है।

कुछ शकाशील लोग यह दावा कर सकते है कि कौटल्य के अर्थशास्त्र मे प्रतिपादित राजतत्र का सागोपाग रूप केवल आदर्शवादी एव काल्पनिक है। उनके विचारो के अनुसार ऐसा राजतत्र भारत मे कभी नही हुआ। परन्तु यह आरोप सत्य नही है। इसके निराकरण के लिए नीचे की पक्तियो मे उन ठोस रचनात्मक कार्यक्रमो का निरूपण किया जा रहा है जिनकी सफलता ने सामन्तवाद को महान् सामाजिक व्यवस्था के रूप मे परिवर्तित कर दिया।

यह बता देना भी अप्रासगिक न होगा कि कौटल्य ने जिस राजतत्र के लिए अपने महान् सिद्धान्त शास्त्र की रचना की है उसमे जनता के साम्पत्तिक एव दाण्डिक विवादो का निपटारा करने के लिए जिन न्यायाधिकरणो की स्थापना का प्रावधान किया था वे राजा की इच्छाओ से निरपेक्ष होकर और आत्म-विवेक से विवादो का निपटारा करते थे। इन विवादो मे साक्षियो से एव साक्षियो के वक्तव्यो तथा उनसे की गयी जिरह से सत्य का पता लगाया जाता था। न्यायाधिकरणो को यह अधिकार था कि वे किसी भी बड़े अधिकारी को एव महामात्य तक को विवादो मे सत्य का निर्णय करने के लिये 'समन' (आहूत) कर सकते थे और वह अधिकारी अपनी उपस्थिति से इकार नही कर सकता

था। सत्य का पता लगाने के लिए गुप्तचर विभाग द्वारा जाँच कराने की परि-पाटी चालू हो चुकी थी। किन्ही विशेष परिस्थितियो मे राजा तक को ये न्याया-धिकरण साक्षी के रूप मे बुला सकते थे और उनके निर्णय शास्त्र के अनुरूप एव आत्मविवेक से होते थे न कि राजा के सकेत पर। असत्य शपथ (कसम) खाने वाले साक्षी को कडे से कडा (पूर्वसाहस) दड दिया जाता था।

ऐसा प्रतीत होता है कि भारतीय सामन्तवाद अपने अभ्युत्थान काल मे महान् क्रान्तिकारी था और भारत के नवीन आर्थिक पुन निर्माण एव पुनर्गठन के लिए उसने महान् अभियान चलाया था। जनसख्या कम थी। विशाल जगलो, नदी, नालो, पर्वतो एव समुद्र मार्गों पर मानव का अधिकार नही हुआ था और उन पर नियत्रण प्राप्त करने के लिए वह दारुण सघर्ष कर रहा था।

हम देखते है कि कौटल्य सबसे पहले नयी भूमि के तोडने, नये उपनिवेश बसाने और कृषि-अर्थतत्र के विकास के लिए एक रोमाचकारी एव महत्वाकाक्षा-पूर्ण कार्यक्रम लेकर समाज के सामने उपस्थित होते हैं। राज्य की देखभाल और सरक्षण मे विशाल कृषि फार्म सगठित किये जाते थे। जगल तोडे जाते है, नयी भूमि स्वय तोडकर राज्य दूसरो को पट्टे पर देता है। विशाल राजकीय फार्मों मे दासो, बन्दियो, कर्मकरो दस्तकारो तथा दैनिक वेतन पर कार्य करने वाले व्यक्तियो की अपार वाहिनी काम करती है और इस प्रकार सामन्तवाद ने मानव जीवन के नवीन एव विश्वसनीय साधन, खेती के विकास के लिए असाधारण अभियान चलाया था। वास्तव मे यदि ऐसा न होता तो विश्व मे सबसे पहले भारत मे ही खेती का इतना उन्नत विकास कैसे होता और राज-कीय प्रयासो ने ही विशाल जगलो को राजकीय एव व्यक्तिगत खेती के अन्तर्गत लाने मे ऐतिहासिक भूमिका अदा की है।

यह सर्वविदित है कि किसी मूल उद्योग के विकास के साथ उसकी सैकडो हजारो उपशाखाएँ तथा आर्थिक शाखाएँ जन्म लेतीं तथा विकसित होती है। अर्थशास्त्र मे विस्तार के साथ इन आर्थिक शाखाओ तथा उपशाखाओ का न केवल उल्लेख किया गया है प्रत्युत् राजतत्र के लिए यह आवश्यक बताया गया है कि इन शाखाओ के विकास तथा निर्देश के लिए स्थापित विभागो का कार्य-

कलाप क्या होना चाहिए। इस आर्थिक विवेचना मे दो बाते उभरकर सामने आती है। कृषि अर्थतत्र के विकास की धुरी पर शिल्प उद्योग विकसित हुआ और सैकडो प्रकार की शिल्पी जातिया ने भारत के सामन्ती समाज को विकास की नयी दिशा प्रदान की, इन शिल्पी जातियो के, जो आमतौर से शूद्र जातियो से सम्बन्धित थी, चमत्कारपूर्ण शिल्प ने न केवल समाज को समृद्ध बनाया प्रत्युत् उनकी सामाजिक स्थिति को भी उभार दिया। कौटल्य ने शिल्पियो को बहुत उच्च स्थान दिया हे। इस सम्बन्ध मे दूसरी महत्त्वपूर्ण घटना वाणिज्य की थी। याद कृषि का विकास न हुआ होता तो कौटल्य कालीन भारत का वैभवपूण वाणिज्य और देशदेशान्तरो के शिल्पियो तथा उनके पण्यो (विक्री का माल) से उसका कभी सम्बन्ध न हुआ होता। यह आश्चर्य की बात है कि महामात्य कौटल्य शिल्प उद्योग एव वाणिज्य उद्योग को कृषि के समान ही राजतत्र के वैभव के लिए महत्त्वपूर्ण बताते है। परन्तु कौटल्य कदाचित् यह नही जानते थे और जान सकते भी नही थे कि ये दबे-बचे से रहने वाले शिल्पकार और राजतत्र को सलाम ठोकने वाले बनिये भविष्य मे राजतत्र को चुनौती देगे और इन दोना का आपसी गठबन्धन ऐसे वैभव को जन्म देगा जिसकी चकाचाध मे राजतत्र फीके पड जायेगे।

"आवश्यकता आविष्कार की जननी होती है" का मुहावरा यद्यपि नया हे परन्तु इसका प्रयोग मानव इतिहास के साथ जुडा हुआ है। ज्यो-ज्यो राज-तत्रो का अपनी दुर्दमनीयता की स्थापना करने के लिए और नित नये राज्यो को आत्मसात करने के लिए विशाल सेनाओ की आवश्यकता अनुभव होने लगी त्यो-त्यो सेनाओ के सम्बन्ध मे मनुकालीन दृष्टिकीण रद्दी की टोकरी मे फेका जाने लगा। कौटल्य द्वारा शूद्रो को सेना मे भर्ती करने का तथा अपवाद के अवसरा पर उन्हे उच्चकोटि की सेना सिद्ध करना तथा अनेकानेक कूटनीतिक विभागो मे प्रवेश के लिए शुद्र पुरुषो तथा महिलाओ को प्राथमिकता देना इस बात का प्रमाण है कि क्रूर सामाजिक बन्धन अधिक दिनो तक कुशल शूद्र जातियो को अपनी ऐतिहासिक भूमि को निभाने से रोक नही सकते थे।

जैसे-जैसे कौटल्य का सामान्य प्रशासन समाज पर हावी होता चला गया

वैसे-वैसे उसके शिकजो से बच निकलने के लिए अराजक प्रवृत्तियो ने मार्ग ढूंढ निकाले थे। कौटल्य ने इन प्रवृत्तियो को भ्रष्टाचार की सज्ञा दी थी परन्तु वे स्वय भूल गये कि राजतत्र स्वय प्रलोभन देकर लोगो को अपनी सत्ता के पक्ष मे करना है।

सामान्य प्रशासन के रूप मे जो शासनयत्र खडा किया गया था, उसका रूप बहुत अद्भुत था। राज-पुरोहित युवराज, महामात्य, सेनाध्यक्ष आदि को यदि ४८००० (अडतालीस हजार) पण वार्षिक वेतन प्राप्त होता था तो निम्न कमचारियो को कम होते-होते वेतन की मात्रा बीस पण वार्षिक थी। यह शिखर-गुरु (टॉप हेवी) सामान्य प्रशासन निश्चय ही सामान्य जनो के लिए बहुत उद्वेगनीय रहा होगा।

इस पुस्तक मे जो निष्कर्ष निकाले गये हैं उनका सैद्धान्तिक आधार महामात्य कौटल्य का अर्थशास्त्र ह। लेखक की यह पुस्तक वास्तव मे कौटल्य के अर्थशास्त्र का न तो अनुवाद है और न उसकी व्याख्या। कौटिलीय अर्थशास्त्र का सैद्धान्तिक आधार मान कर और इस धारणा के साथ कि इस महान् ग्रन्थ के रचयिता मौर्य साम्राज्य के सस्थापक महामात्य कौटल्य है, इस सामाजिक विवेचना को प्रस्तुत करने का साहस किया गया है।

आज मे लगभग २५ वर्ष पहले लाहौर सेण्ट्रल जेल मे पहली बार लेखक को काटल्य के अर्थास्त्र का अध्ययन करने का अवसर मिला। इस कठिन और पाडित्यपूर्ण महासागर मे लेखक ने अपने आप को खोया हुआ-सा अनुभव किया था और सरस्वती के इस अमर पुत्र ने मुझे जीवन भर के लिए अभिभूत कर दिया। उस समय समस्त सामाजिक समस्याओ को ऐतिहासिक दृष्टि से देखने-समझन और विवेचना करने विषयक लेखक की शक्ति निर्बल थी। जैसे-जैसे मार्क्सवाद का प्रकाश मिलता गया और ऐतिहासिक घटनाओ को सामाजिक विकास की प्रक्रिया के रूप मे देखने का लेखक का मार्क्सवादी दृष्टिकोण प्रबल होता गया वैसे-वैसे महान् अर्थशास्त्र के प्रति उसका आकर्षण बढता चला गया।

भारत देश के इस महान् गौरव को कभी कुटिल कहकर और कभी कातिल

एव षड्यन्त्रकारी कह कर विश्व की राजनीति मे लाछित एव कलकित किया गया है। प्रस्तुत पुस्तक मे आत्मगत रूप से उसका सरल एव प्रगतिशील रूप प्रकट नही किया गया है प्रत्युत् ऐतिहासिक विवेचना करते हुए वस्तुगत रूप मे एक ऐतिहासिक पडाव की सरल विवेचना की गयी है।

प्राचीन दास प्रथा और कौटुम्बिक समाज व्यवस्था के खडहर पर कौटल्य ने जिन आर्थिक एव सामाजिक व्यवस्थाओ का विजय अभियान चलाया था, ऐतिहासिक दृष्टि से वह एक प्रगतिशील कार्य था। इस प्रगतिशीलता की सामाजिक मान्यता युगो युगो तक भारत मे प्रचलित रही। फिर प्रगतिशील आन्दोलनो मे दत्तचित् रहने वाले उन भूतकालीन मान्यताओ को उपेक्षा की दृष्टि से कैसे देख सकते हैं जिन्होने विभिन्न पडाओ पर अपने कार्यकलापो द्वारा समाज को वाछनीय मोड एव गतियाँ प्रदान की है।

कौटल्य के नेतृत्व मे एक ओर तो भारत मे महान् आर्थिक एव सामाजिक पुनर्गठन का अभियान चल रहा था और दूसरी ओर शूद्र जातियो, महिलाओ और दासो के करुणक्रन्दन तथा कौटुम्बिक अर्थव्यवस्था के अवशेष सामाजिक प्रगति मे गतिरोध पैदा कर रहे थे। ये दोनो धाराएँ साथ-साथ नही चल सकती थी। इन दोनो प्रवृत्तियो का टकराव अनिवार्य था। हम देखते है कि महामात्य कौटल्य ने जर्जर सामाजिक रूढियो के विरोध मे प्रगतिशील शक्तियो का साथ देकर पुरानी रीति-नीति एव मान्याताओ पर प्रबल प्रहार किया है और सामाजिक विकास की धारा को प्रबल करके भारत मे शक्तिशाली राष्ट्रीय एकता की सरकार का कार्यक्रम पूरा किया।

भारत मे सामान्तवाद की विजय आशिक रूप मे होती रही है। देश का एक भाग सामन्तवाद के अधीन हो जाता था और दूसरे भागो मे कौटुम्बिक समाज के राजनीतिक अवशेष प्रभावशाली बने रहते थे। कुछ भागो मे दास स्वामियो के राज्य कायम थे और कुछ मे पुराने गणराज्यो (रिपब्लिक्स) का बोलबाला था। सामन्ती राज भी एक दूसरे की प्रतिस्पर्धा मे फँसे हुए परस्पर युद्धो मे रत थे। नाम भारतवर्ष अवश्य था। परन्तु इस देश को कोई एक सर्वमान्य राजनीतिक सत्ता नही थी। जिस समय अलक्षेन्द्र (सिकन्दर) महान्

ने भारत देश पर आक्रमण किया था उस समय न तो इस देश के सभी भूभागो पर किसी एक आर्थिक प्रणाली का प्रचलन था और न कोई केन्द्रीय राजसत्ता थी। महामात्य कौटल्य ने तक्षशिला विश्वविद्यालय मे अपने शिष्यो को विद्यादान करते हुए भारतीय वैभव का सिकन्दर द्वारा वह अपमानपूर्ण पराभव देखा था। कदाचित् उसी एक घटना ने उनकी तेजस्वी अन्तरात्मा को उद्वेलित कर दिया होगा। उन्हे अपनी इच्छाओ के अनुरूप ही एक शिष्य एव अनुयायी भी प्राप्त हो गया था। वह चन्द्रगुप्त मौर्य था। भारतीय सामन्तवाद में जब भी कभी ब्रह्मज्ञान और छात्र दड का समुचित समन्वय हो पाया है तब अनिवार्य रूप से सदा ही प्रसशनीय परिणाम सामने आये है। इतिहास इसका साक्षी है कि इन गुरु-शिष्यो के सम्मिलित प्रयत्नो ने सामन्तवाद के सकुचित दायरे को तोड़ा। कुटुम्ब प्रणालियो तथा दास स्वामियो के दुर्गो पर विजय प्राप्त की तथा सघ राज्यो का उच्छेद करके इतिहास मे प्रथम बार एक विशाल राजनीतिक सत्ता को जन्म दिया। महान् अर्थशास्त्र इस नये राज्य का सिद्धान्तशास्त्र था। सिकन्दर के आक्रमण से दबे-कुचले विशाल भारत को अपने साम्राज्य का अग बनाने के लिए जब सिकन्दर के सेनापति सेल्युकस ने दुबारा हम पर आक्रमण किया था तब महान् मौर्य और महान् कौटल्य की अजेय वाहिनी ने सिन्धु नदी के तट पर सेल्युकस का मुँह मोड दिया था। अपनी कन्या और राजदूत को सौंप कर अखड भारत से सेल्युकस ने समझौता किया था। भारत के सम्पूर्ण इतिहास मे यह पहली राष्ट्रीय एकता की सरकार थी जिसके सिद्धान्तकार महामात्य कौटल्य थे और राजनेता चन्द्रगुप्त मौर्य थे।

यह राष्ट्रीय एकता कितनी प्रभावशाली थी और उसके परिणाम कितने दूरगामी थे, यह इसी से समझा जा सकता है कि करीब डेढ हजार वर्ष तक विदेशियो को भारत देश पर आक्रमण करने का साहस नही हो सका। यह वही स्पृहणीय काल था जिसमे महान भारतीय सस्कृति, दर्शनशास्त्र, कला, विज्ञान एव भवभूति तथा कालीदास की अमर रचनाओ ने भारत भूमि को धन्य किया था।

आज जब भारत अपनी सस्कृति के विकास के अन्तिम पडाव की ओर

डग भरना चाहता है और विश्व के विशाल समाजवादी परिवार का अग बनाना चाहता ह तब अपने अतीत के पवित्र सघर्षो की ओर देखने से उसे प्रेरणा ही प्राप्त होगी। यही साच कर अपने भूतकालीन इतिहास के ढाई हजार वर्ष पुराने ये पन्ने नयी पीढियो के सामने खोलकर रखे जा रहे है ताकि ये नयी पीढियाँ सोच सके कि पूँजीवाद के दुर्ग पर हमला करके और नयी प्रगतिशील समाजवादी अर्थव्यवस्था की अन्तिम विजय का अभियान चला कर सुसगत रूप मे वे वही कार्य कर रहे है जिन्हे हमारे पूर्वजो ने किया था। नयी पीढी को वे आशीर्वाद देते है कि

"जो हमारे अच्छे आचरण एव व्यवहार है उनकी नकल करो, हमारी बुराइयो का अनुकरण मत करो।"

यान्यस्माक सुचरितानि तानि सेव्या नेतराणि।

शिवाजी मार्ग, मेरठ

आचार्य दीपकर

पहला अध्याय

समाज का आर्थिक ढाचा

कौटल्य की अर्थशास्त्र सम्बन्धी धारणा

आचार्य विष्णु गुप्त कौटल्य ने जिस समाज मे बैठकर प्रसिद्ध 'अर्थशास्त्र' की रचना की थी, उसमे सामन्ती अर्थ व्यवस्था के सभी रूपो का पूर्ण विकास हो रहा था और समाज का आर्थिक जीवन प्राकृतिक उत्पादन प्रणाली के सकुचित चौखटे से निकल कर उत्पादन एव वितरण के निखरे हुए नियमो मे बँधता जा रहा था। इसी के अनुरूप समाज मे आर्थिक मान्यताएँ एव धारणाएँ भी प्रचलित हो गयी थी।

कौटल्य से पहले के प्राचीन आचार्य इस शास्त्र को वार्त्ताशास्त्र के नाम से पुकारते थे। सबसे पहले कौटल्य ने इस शास्त्र का नाम अर्थशास्त्र रखा था। परन्तु अन्तर केवल नाम का ही नही है। वार्त्ताशास्त्र के मुख्य अग—कृषि, पशुपालन तथा वाणिज्य थे। यद्यपि कौटल्य ने अपने अर्थशास्त्र मे इन तीनो ही अगो की विवेचना की है, परन्तु फिर भी कौटल्य ने जिस अग पर सबसे अधिक बल दिया है वह कृषि है, और तत्कालीन भारत का मुख्य आर्थिक आधार खेती ही थी।

उस समय पशुपालन भूतकालीन अर्थ व्यवस्था का प्रभावशाली अवशेष मात्र था और वाणिज्य के अगो का सर्वांगीण विकास न होने के कारण वह भी समाज की जीविका का निर्णायक साधन नही था। कौटल्य कालीन भारत मे खेती जीविका का मुख्य साधन बन चुकी थी। खेती का विकास प्रबल वेग से चल रहा था और जैसे-जैसे उसका विस्तार होता जाता था, वाणिज्य अपने प्रथम चरणो से निकल कर प्रौढ कदम बढाने पर अग्रसर हो रहा था।

अपनी अर्थशास्त्र सम्बन्धी विवेचना करते समय कौटल्य स्वय इन शब्दो मे अपने मत का प्रतिपादन करते है—

"मनुष्यो की जीविका का साधन अर्थ है। मनुष्यो की आबादी से परिपूर्ण भूमि ही अर्थ है। इस भूमि की प्राप्ति एव रक्षा के साधन जिस शास्त्र मे बताये जाते है, वह अर्थ शास्त्र है। इस उद्देश्य की प्राप्ति के लिए पूर्वाचार्यो ने जितने भी शास्त्रो की रचना की है, यह अर्थशास्त्र उन सभी के अन्तिम निष्कर्षों से सम्पन्न है।"

(मनुष्याणा वृत्तिरर्थ। मनुष्यवती भूमिरित्यर्थ। तस्या पृथिव्या लाभ पालनोपाय शास्त्रमर्थशास्त्रम्। पृथिव्या लाभे पालने च यावन्त्यर्थशास्त्राणि पूर्वाचार्यैं प्रस्तावितानि प्रायशस्तानि सहृत्यैकमिदमर्थ शास्त्र कृतमिति, अधि० १५, अध्याय १)

कौटल्य की पूरी अथनीति और राजनीति का मूल आधार यह आर्थिक दृष्टिकोण ही था और सभी बातो मे यह इस तरह छापा हुआ था कि शेष सभी सिद्धान्त एव सामाजिक रीति-नीति आर्थिक हितो के आधार पर तय किये जाते थे। समाज का बौद्धिक धरातल इतना ऊँचा उठ गया था कि पुराने अन्ध-विश्वास नयी धारणाओ तथा मान्यताओ से टकरा कर चकनाचूर हो रहे थे। समाज ऐसे लोगो का परिहास करने लगा था जो अपना सुख एव वैभव बढाने के लिए अपने प्रयत्नो पर नही बल्कि भाग्य पर भरोसा करते थे। "जो बार-बार ग्रहो और नक्षत्रो को पूछता ह उस मूर्ख को कभी आर्थिक प्राप्तियाँ नही होती। अर्थ का ग्रह तो अर्थ है इसमे तारे क्या कर सकते है ? साधनहीन व्यक्ति सौ प्रतिशत प्रयत्न करके भी पैसा नही पाते। पैसा पैसे को बाँधता है जैसे हाथी-हाथी को।"

इस आर्थिक दृष्टिकोण से प्रभावित कौटल्य कालीन भारत सामन्तवाद के चरम उत्कर्ष के युग से पार हो रहा था और खेती को मूलाधार मान कर आर्थिक पुनर्निर्माण के अभियान मे लगा हुआ था। वहाँ कही जगल काटे जा रहे थे, कही नये उपनिवेश बसाये जा रहे थे, कही खेती तथा उद्योगो का विकास हो रहा था और कही विशाल युद्धो की तैयारियाँ हो रही थी तथा कही सामाजिक

सुधार के प्रभावशाली एव निर्णायक कदम उठाये जा रहे थे। यदि समाज का अपनी समस्याओ के प्रति यह आर्थिक दृष्टिकोण न होता, तो इस महान् सामाजिक क्रान्ति के सफल होने की कोई समावना नही थी।

सामन्तवाद और कृषि व्यवस्था के विकास एव निखार के साथ ही बौद्धिक क्षेत्र मे आम व्यावहारिक सिद्धान्त सामने आ रहे थे। इससे पहले के कौटुम्बिक या कबीला समाज मे जब जीविका के साधन स्पष्ट एव सुनिश्चित नही थे, तब आर्थिक दृष्टिकोण भी बहुत धुँधला, अस्पष्ट एव रहस्यपूर्ण बना हुआ था। जैसे प्रकृति अस्पष्ट थी, उसी भाँति प्राकृतिक अर्थ व्यवस्था के सिद्धान्त भी अस्पष्ट थे। परन्तु बीज बोने से जैसे फसलो की पैदावार स्पष्ट हो गयी वैसे ही जीविका के साधन भी स्पष्ट हो गये और तदनुरूप अर्थशास्त्र के नियम एव मान्यताएँ भी स्पष्ट हो कर समाज के सामने आयी। अर्थशास्त्र का यह वस्तुवादी रूप पूरे समाज मे मान्य ठहराया जा चुका था जिसका दिग्दर्शन ऊपर के श्लोको मे स्पष्ट है।

नये उपनिवेशो की स्थापना

आर्थिक दृष्टि से दास प्रथा एव पशुपालन का युग समाप्त होने के बाद भारतवर्ष यद्यपि सामन्ती अर्थ व्यवस्था के सर्वांगीण विकास के राजमार्ग पर अग्रसर था। परन्तु इस मार्ग के एकदम नवीन होने के कारण केवल आकस्मिक था। उस पर स्वय प्रेरित ढग से नही चला जा सकता था। उस पर सुनियोजित रूप-रेखा का अनुसरण करके ही चला जा सकता था, जिसमे राजतत्र महत्त्वपूर्ण भूमिका निभा रहा था। आगे के अध्यायो मे यह सुस्पष्ट हो जायगा कि किस प्रकार राजतत्र छोटे से छोटे एव बडे से बडे निर्माण कार्य मे सीधा एव प्रत्यक्ष हाथ बँटाता था एव उस पर नियन्त्रण रखता था। सामाजिक अर्थतत्र की उन्नति का महत्त्वपूर्ण कार्य केवल भाग्य के भरोसे और कुछ व्यक्तियो की शुभेच्छाओ पर नही छोड दिया गया था।

सबसे अधिक महत्त्व की घटना राज्य की ओर से नित्य नये उपनिवेशो की स्थापना तथा पुराने उपनिवेशो का विकास करते रहना था। कौटल्य ने अपने अर्थशास्त्र मे रचनात्मक कार्यों मे सबसे पहला स्थान इन्ही दो घटनाओ—

नये उपनिवेशो की स्थापना एव पुराने उपनिवेशो के विकास— को दिया है। इस महत्त्वपूर्ण रचना मे आनेवाली कठिनाइयो के जो समाधान प्रस्तुत किये गये है तथा राज्य की ओर से नव उपनिवेश निवासियो को सुविधाएँ देने के जो आदेश दिये गये हैं उन्हें पढ कर ऐसा प्रतीत होता है जैसा कि आज के युग मे बैठ कर कौटल्य ने इस महान् ग्रन्थ की रचना की हो। (भूतपूर्वमभूतपूर्वं वा जनपद परदेशापवाहनेन स्वदेशाभिस्पन्दवमनेन या निवेशयेत्।)

इसमे 'भूतपूर्व' शब्द से एक विशेष अर्थ की अभिव्यक्ति भी होती है। ये नये उपनिवेश प्राय उजड जाते थे, या कठिनाई से चल पाते थे। परन्तु फिर भी, उनकी उपेक्षा नही की जाती थी और उन्हे बार-बार आबाद किया जाता था। इसी प्रकार, दूसरी बडी बाधा इन उपनिवेशो मे आकर बसने वालो की कमी थी। देश मे जनसख्या कम थी और स्थान-स्थान पर नये उपनिवेश बसाये जा रहे थे जिससे जनसख्या की कमी और भी गम्भीर हो उठती थी। इसी-लिए, कौटल्य ने सुझाव दिया था कि दूसरे देशो को जीत कर एव वहाँ की जनसख्या से ये उपनिवेश बसाये जायँ तथा ऐसा करना सभव न हो तो अपने ही देश की जनसख्या बढा कर इन्हे आबाद करना चाहिए।

ये उपनिवेश मुख्यत कृषि अर्थतत्र की उन्नति के लिए बसाये जाते थे। इसीलिए आबादी मे प्रमुखतम स्थान किसानो, शूद्रो एव ऐसे वर्गो का रहना था जिनका सीधा सम्बन्ध खेती से हो। (शूद्र कर्षक प्राय निवेशयेत्)

जनपदो की स्थापना एव नये उपनिवेशो की रूपरेखा तैयार होने के बाद उन्हे गाँवो मे विभक्त किया जाता था और प्रत्येक गाँव की जनसख्या सौ परि-वारो से लेकर पाँच सौ परिवारो तक रखी जाती थी, उनकी आपसी दूरी एक कोस से दो कोस की थी ताकि आवश्यकता पडने पर वे एक दूसरे की रक्षा मे हाथ बँटा सके। (कुलेशतावर पचशतकुलपर ग्रामे क्रोश द्विक्रोश सीमान-मन्योन्यारक्ष निवेशयेत्।)

इन गाँवो मे आपसी सद्भाव रखने तथा आकस्मिक विवादो के उठ खडे होने की सभावना को रोकने के लिए दो गाँवो के बीच मे नदी, पहाडी, जगल,

बेरी, खाई, सेतुबन्ध, सिंमल के वृक्ष, शर्मी और अन्य झाडी आदि के रूप मे सीमा का निर्द्धारण कर दिया जाता था।

आठ सौ गाँवो के बीच मे एक "स्थानीय" चार सौ गाँवो के बीच मे एक "द्रोणमुख" दो सौ गाँवो के केन्द्र मे एक "खार्वटिक" और दस गाँवो के बीच मे एक "सग्रहण" नामक सगठन कायम किया जाता था। खार्वटिक आजकल भी पश्चिमी उत्तर प्रदेश मे 'खाप' नाम से पुकारा जाता है। (**अष्टशत ग्राम्या मध्ये स्थानीय चतु शत ग्राम्या द्रोणमुख द्विशत ग्राम्या खार्वटिकं दशग्रामी सग्रहेण सग्रहण स्थापयेत्। अन्तेष्वन्तपाल दुर्गाणि**)

राजतत्र जिस प्रकार अपने सम्पूर्ण राज्य की रक्षा के लिए प्रयत्न करता था, उसी प्रकार इनकी सुरक्षा के लिए सीमाओ पर दुर्ग बनाये जाते थे एव अन्तपाल (सीमा रक्षक) नामक बडे अधिकारी की देखरेख म उनकी सुरक्षा का हर सभव प्रयत्न किया जाता था।

यह बात नही है कि इन उपनिवेशो मे केवल शूद्रो तथा किसानो को ही बसाया जाता था। ऋत्विक्, आचार्य, पुरोहित एव राज्य तथा समाज के प्रतिष्ठित महानुभावो को यहाँ बसने के लिए स्थान एव सुविधाए दी जाती थी। ब्राह्मणो को दी जानेवाली भूमि कर से मुक्त रखी जाती थी और शेष अधिकारियो को दी गयी भूमि पर कर लिया जाता था एव उन्हे अपनी भूमि बेचने, गिरवी रखने और नष्ट करने का अधिकार नही था। (**अध्यक्ष सख्यायिका दिभ्यो गोपस्थानिकानीकस्थ चिकित्साश्वदमक जघाकरिकेभ्यश्च विक्रयाधान-वर्जम्।**)

लगान पर जिन किसानो को भूमि दी जाती थी वह उनके पास उनके जीवन काल तक ही रहती थी। उनकी मृत्यु के उपरान्त राज्य का भूमि पर अधिकार हो जाता था। परन्तु यदि वे बजर भूमि तोड कर तथा अपने ही परिश्रम एव लागत से भूमि कृषि योग्य बनाते थे तो उनके उत्तराधिकारियो को वह उत्तराधिकार मे मिल जाती थी। और यदि वे इस भूम को भी परती या बजर पडी रहने देते थे, तो राज्य को यह अधिकार था कि भूमि उनसे ले कर

दूसरे परिश्रमी किसानो को दे दे। राज्य उस भूमि को मुखिया अथवा वैदेहक (वैश्यो) को भी उठा देता था।

(अकृषतामाच्छिद्यान्येभ्य प्रयच्छेत् । ग्राम भृतकवैदेहका वा कृषेयु.)

जो किसान खेती करने का वादा करके भूमि ले लेते थे और फिर खेती नही करते थे उन्हे हरजाना (अपहीन) अदा करना पडता था। नये जनपद मे खेती प्रारभ करने वाले किसानो को राज्य की ओर से पशु, बीज, धन और दूसरी सुविधाएँ दी जाती थी जिन्हे वे अपनी सुविधा के अनुसार धीरे-धीरे लौटा देते थे। नये उपनिवेश मे आकर बसने वाले किसानो का स्वास्थ्य आमतौर पर अच्छा नही रहता था। इसलिए राज्य की ओर से उनके स्वास्थ्य की रक्षा एव चिकित्सा के लिए अनुग्रह एव परिहार नामक विशेष आर्थिक सहायताए दी जाती थी।

(धान्य पशुहिरण्यैश्चैनाननुगृह्णीयात् तान्युनुसखेन दद्यु । अनुग्रह-परिहारौ चैभ्य कोशवृद्धिकरौ दद्यात्)

किसानो के स्वास्थ्य की सुरक्षा एव क्षतिपूर्ति के लिए जो सहायता दी जाती थी वह प्राय वापिस नही ली जाती थी। इस पर जो खर्च होता था उसे राजकोश की हानि नही समझा जाता था। परन्तु यदि अनुग्रह तथा परिहार से राजकोश पर आवश्यकता से अधिक भार पडता था तो वह बन्द कर दिया जाता था। इसलिए कि राजकोश खाली होने पर न तो उपनिवेश बसाये जा सकते थे और न जनपदो का हित साधन सभव था। विपरीत इसके कोश क्षीण होने पर राजा नागरिको तथा जनपद निवासियो का ही शोषण करता था।

परन्तु फिर भी यह अनिवार्य माना जाता था कि उनके बिगडते स्वास्थ्य की रक्षा के लिए राज्य अनुग्रह नही तो परिहार (स्वास्थ्य की क्षतिपूर्ति) पर धन अवश्य व्यय करे और यदि वे परिहार लौटा देते थे तो राज्य की ओर से उन्हे फिर से सरक्षण दिया जाता था।

खनिज पदार्थो के विक्रय स्थानो, द्रव्य वनो (मूल्यवान् लकडी के जगलो) हस्तिवनो, चरागाहो तथा स्थल और जल मार्गो से आयात-निर्यात व्यापार की व्यवस्था की जाती थी। इन नये जनपद निवेशो मे सेतुबन्ध बाँधने की ऐसी

व्यवस्था की जाती थी जिनमे सदा जल भरा रहता था या जो केवल अस्थायी कार्य की पूर्ति के लिए बनाये जाते थे। यदि प्रजाजन अपने प्रयासो से सेतुबन्ध आदि की व्यवस्था करते थे तो राज्य की ओर से उन्हे भूमि, मार्ग, लकडी तथा अन्य आवश्यक सामग्री देकर प्रोत्साहन दिया जाता था। देवालय, विद्यालय आदि सार्वजनिक उपयोग के स्थानो के लिए भी नि शुल्क भूमि आदि की सुविधा दी जाती थी।

इन जनपदो मे रहने वालो को यह अधिकार नही था कि यदि सेतुबन्ध आदि बनाया जा रहा हो तो वे काम से अनुपस्थित रह सके। विशेष असमर्थता होने पर भी उन्हे अपने स्थान पर मजदूर (कर्मकर), अपने बैल तथा आवश्यक साधन देने पडते थे। कार्य समाप्त हो जाने के उपरान्त उन्हे लाभ उठाने से वचित कर दिया जाता था। यदि किसी मालिक के दास, आहितिक (धरोहर रखे व्यक्ति) बन्धु और पुत्र आदि सार्वजनिक कार्य करने मे अपने मालिक की आज्ञाओ का उल्लघन करते थे तो राजदण्ड के भागीदार समझे जाते थे।

बालक, बूढे, रोगी, दु खी और अनाथ व्यक्तियो को राज्य की ओर से विशेष सहायता दी जाती थी एव अनाथ तथा वन्ध्या स्त्री को विशेष सरक्षण मिलता था।

इन उपनिवेशो मे रहने वालो के लिए कुछ विशेष सामाजिक नियम तथा प्रतिबन्ध बने हुए थे। प्रत्येक व्यक्ति के लिए यह अनिवार्य था कि वह अपने पुत्रो, पत्नियो, माता-पिता, नाबालिग (अप्राप्त व्यवहार) भाई और अविवाहित या विधवा बहन का भरण-पोषण करे। यदि ये लोग समाज से बहिष्कृत हो जाते थे तो सम्बद्ध व्यक्ति का यह उत्तरदायित्व समाप्त समझा जाता था। परन्तु माता यदि समाज मे पतित भी हो जाती थी तो भरण-पोषण का उत्तर-दायित्व निभाना पडता था। पुत्र और पत्नी का समुचित प्रबन्ध किये बिना किसी भी व्यक्ति को सन्यास लेने का अधिकार नही था। वह अपनी पत्नी को भी सन्यासिनी नही बनवा सकता था। जिसकी इन्द्रियाँ शिथिल हो जाती थी, वही व्यक्ति धर्मालय की स्वीकृति से सन्यास ग्रहण कर सकता था। इसका उल्लघन करने पर कारागार का दण्ड मिलता था।

वानप्रस्थ से कोई सन्यासी इस उपनिवेश मे आकर नही बस सकता था। वहाँ नाट्यशाला तथा मनोरजन केन्द्रो की स्थापना करना वर्जित था। नट, नर्त्तक, वादक, गायक, कथावाचक, नक्काल और इनकी मण्डलियाँ समय नष्ट करनेवाली समझी जाती थी जिनसे खेती के विकास मे बाधा आती थी। दण्ड, विष्टि (सरचार्ज) और करो के अतिभार का दबाव खेती पर राज्य नही पडने देता था एव चोरो, हिसक प्राणियो, विष प्रयोग तथा व्याधियो से पशुधन की निरन्तर रक्षा की जाती थी।

(सहोदक माहार्योदक वा सेतु बन्धयेत्। अन्येषा वा बध्नता भूमि, मार्ग, वृक्षोपकरणानुग्रहेणानुग्रहे कुर्यात् । पुण्यस्नानारामाणा च। सभूय सेतु बन्धास्य कामत कर्मकर बली वर्दा कर्म कुर्य । व्यय कर्मणि च भागी स्यात्। न चाश लभते। न च तत्रारामविहृदार्था शाला स्यु । नट, नर्त्तक, गायन वादन वग-जीवन कशीतता व न कर्म विघ्न कुर्यु)

इन उपनिवेशो के सभी जलाशयो, उनकी भूमि, मत्स्य तथा फल आदि पर राज्य का ही अधिकार माना जाता था।

नीचे लिखे व्यक्तियो पर यह प्रतिबन्ध रहता था कि वे नये जनपदा या उपनिवेशो मे हस्तक्षेप करके निर्माण कार्यो को क्षति न पहुँचावे। इनमे व्यापार तथा व्यापारी मार्गो की सुरक्षा की व्यवस्था करना अत्यन्त अनिवार्य समझा जाता था। राज्य के लाडले, राजकर का सग्रह करने वाले समाहर्त्ता के कर्म-चारी, चोर, सीमा रक्षक और हिसक पशु।

इसके अलावा, नये निर्माण कार्यो का पूरा करना ही पर्याप्त नही समझा जाता था बल्कि पुराने अधूरे एव क्षतिग्रस्त कार्यो का पूर कराना एव उनकी मरम्मत करवाते रहना भी आवश्यक समझा जाता था।

दण्डविष्टिकराबाधै रक्षेदुपहता कृषिम् ।
स्तेन व्याल विषग्राहैर्व्याधिभिश्च पशुव्रजमम् ।
बल्लभै कार्मिकै स्तेनैरन्तपालैश्च पीडितम् ।
शोधयेत् पशुसघैश्च क्षीयमाण पणिक्पथम् ।।

एव द्रव्य द्विपवन सेतुबन्धमथाकरान् ।
रक्षोपूर्वकृतान् राजा नवांश्चाभि प्रवर्त्तयेत् ॥ **(अधि० २, अध्याय १)**

देश के विशाल जगलो, रुद्ध मार्गों, हिंसक पशुओ से परिपूर्ण वनो, चोरो तथा दस्युको से भरी झाडियो तथा राजा विहीन अनुशासन विहीन भारत मे सामन्तवाद आर्थिक विकास के लिए सैंकडो-हजारो नये जनपदो की स्थापना कर रहा था और राजनीतिक तथा सामाजिक चेतना मनुष्यो को एक अनुशासन मे बांध रही थी। नये जनपदो की स्थापना तत्कालीन भारत मे सबसे बडा आर्थिक अभियान समझा जाता था।

घरों के निर्माण, रहन-सहन के नियम एव व्यवस्था

देश मे मकान बनाने और रहन-सहन के नियम उच्च कोटि के थे। नगर-पालिका एव जनपदो मे रहते समय लोगो को इन नियमो का कठोरता से पालन करना पडता था एव इतनी स्वतत्रता उन्हे नही थी कि वे अपने मनमाने व्यवहार से पडोसियो को असुविधा मे डाल सके। जब पडोसियो मे उनके घरो की बनावट एव सुविधा-असुविधाओ के सम्बन्ध मे विवाद खडे हो जाते थे तो स्वेच्छित ढग से विवाद चलने नही दिये जाते थे। मान्य नागरिक तथा प्रतिष्ठित सामन्त उनका निबटारा करते थे। (**सामन्तप्रत्यया वास्तुविवादा**) इन प्रचलित मान्य-ताओं के आधार पर शान्त किये जाते थे। मकान, खेत, बाग, सीमा और सेतु-बन्ध वास्तु कहलाते थे। मकान मालिको को अपने घरो के चारो कोनो पर लोहे की छड लगा कर दो मकानो की सीमा निर्धारित करनी पडती थी। किसी को यह अधिकार नही था कि वह अपनी भूमि से अधिक भूमि को अपने मकान की सीमा मे घेर सके। दूसरे की दीवार के सहारे तभी मकान बनवाया जा सकता था जब स्वामी से उसकी स्वीकृति ले ली गयी हो तथा दीवार के खर्चे का निश्चित व्यय दे दिया गया हो। (**यथासेतु भोग वेश्म कारयेत् । अभूत वा परकुड्यादविक्रम्य**। दो मकानो के बीच मे कम से कम सवा फुट या तीन कदम (पद) का व्यवधान रखना पडता था। मकान की नीव जरूर पक्की बनानी पडती थी। (**द्वावरत्नीं त्रिपदीं वा वेशबन्ध कारयेत् ।**)

दस दिन के लिए बनाये गये सूतिका गृह को छोड कर प्रत्येक मकान मे अनिवार्य रूप से शौचालय, जल निकलने की नाली, कुआँ, पाकशाला, और भोजनशाला बनवायी जाती थी। भोजन पकाने तथा बैठ कर खाने का स्थान पृथक्-पृथक् रखा जाता था। इनके सम्बन्ध मे नियम इतने कठोर थे कि उल्लघन करने वालो को पूर्व साहस दण्ड दिया जाता था।

(अवस्करभ्रम मुदपान पानगृहोचितमन्यत्र सूतिका वक्यादनिर्दशाहारिति। तस्यातिक्रमे पूर्व साहस दण्ड)

इसी प्रकार बरसाती पानी के निकास के लिए पतनाले और रोक के लिए छज्जे बनवाये जाते थे। इस नियम का पालन और भी कठोरता से किया जाता था। प्रत्येक घर मे आटा पीसने की चक्की, धान कूटने की मशीन और एक किनारे पर अनिवार्य रूप से आग रखने की व्यवस्था होती थी। छज्जो तथा उसारो के बीच मे भी फासला रखा जाता था। प्रकाश तथा वायु के प्रवेश के लिए मकानो मे खिडकियाँ तथा झरोखे रखने की व्यवस्था थी।

नागरिको को यह अधिकार भी था कि नये मकान बनाते समय वे आपस म मिल कर समझौता कर सकते थे एव एक दूसरे की सुविधा को ध्यान मे रखते हुए प्रचलित नियमो मे थोडा हेर-फेर भी कर सकते थे। **(सभूय वा गृहस्वामिनो यथेष्ट कारयेयुरनिष्ट वारयेयु)**

मकान की छत पर बरसाती बनाने की परिपाटी एव नियम था। किसी को यह अधिकार भी नही था कि राजपथ एव सरकारी गली के अलावा किसी की निजी गली की ओर अपने मकान का दरवाजा या खिडकी खुलवा सके। जो लोग दूसरो की घरो की ओर दरवाजा बनवाते या खिडकी खुलवाते थे उन्हे प्रथम साहस दण्ड दिया जाता था। **(प्रतिलोम द्वार वातायन बाधाया पूर्व. साहस दण्ड)** जो लोग दूसरो का पाखाना, पानी, पे ाब की नाली और रास्ते रोकते थे उन्हे कठोर राजदण्ड मिलता था। किसी की दीवार के नीचे से पानी ले जाना वर्जित था।

विशेष रूप से बरसात मे नाली रोकने पर कठोर दण्ड मिलता था। **(प्रणाली मोक्षे वर्षति)**

मकानो का निर्माण विशाल स्तर पर होने लगा था। किराये पर भी मकान उठाये जाने लगे थे और मकान मालिक एव किरायेदारो के लिए समाज मे विशेष नियम प्रचलित हो गए थे। जो किरायेदार बिना किराया दिये तथा मकान मालिक की इच्छा के विरुद्ध मकान मे रहता था उसे मकान खाली करना पडता था, पूरा किराया देना पडता था और १२ पण दण्ड भी। इसी प्रकार, जो मकान मालिक किराया लेकर भी किरायेदार को परेशान करता था उसे १६ पण दण्ड देना पडता था। कुल मिला कर सामाजिक कानून की तुला मकान मालिक की ओर झुकी हुई थी।

(प्रतिषिद्धस्य च बसतो निरस्यतश्चावक्रयणम्)

यदि किरायेदार अपने आप मकान खाली करता था तो उसे साल भर का किराया और देना पडता था। **(स्वयमभिप्रस्थितो वर्षावक्रयशेष दद्यात्)**

जो लोग सार्वजनिक उपयोग के स्थानो---पुण्य स्थान, देवालय तथा धर्मशाला आदि के निर्माण मे सहायता नही देते थे और हानि पहुँचाते थे वे दण्डनीय समझे जाते थे। परन्तु व्यक्तिगत घरो मे भी व्यक्तिगत उपयोग के लिए बनाये गए कूप, कुट्टनशाला एव अग्निशाला का उपयोग करने से कोई किसी को नही रोक सकता था।

कोष्ठकागण वर्जानामग्नि कुट्टनशालयो ।
विवृत्ताना च सर्वेषा सामान्ये भोग इष्यते ॥

मकान तथा खेत आदि मालिको की निजी सम्पत्ति थे और उनके बेचने तथा खरीदने का उन्हे पूरा अधिकार था। इसके सम्बन्ध मे विशेष नियम बने हुए थे।

जब कोई मकान या खेत आदि बेचा जाता था, उस समय बेचने एव खरीदनेवाला चुपचाप सौदा करके और बिना किसी को बताये ऐसा नही कर सकता था। उसके कुटुम्बियो, ग्राम मुख्य तथा पडोस के धनी लोगो को वास्तु खरीदने की प्राथमिकता दी जाती थी और उनके मना करने पर ही कोई दूसरा व्यक्ति सौदा कर सकता था। बेचने वाला अपने चालीस कुलो तक को इसकी सूचना

भेजता था। प्रतिष्ठित व्यक्तियो की उपस्थिति मे बाली बुलती थी और वह भी तीव्र ध्वनि मे तथा तीन बार। बोली बोलते समय खरीदारो की स्पद्धा के कारण वास्तु के दाम चढ जाते थे तो चढा दाम मालिक को नही मिलता था बल्कि राजकोश मे चला जाता था। वास्तु की प्रत्येक बोली एव बिक्री पर सरकार को शुल्क के रूप मे बिक्रीकर अनिवाय रूप से देना पडता था और यदि मालिक की अनुपस्थिति म कोई किसी की वास्तु की बाली बोल देता था तो कठोर राजदण्ड मिलता था। व्यक्तिगत सम्पत्ति पर स्वामित्व के अधिकार की रक्षा राज्य की ओर से बडी तत्परता के साथ की जाती थी।

(ज्ञाति सामन्त धनिका क्रमेण भूमि परिग्रहान् क्रेतुमभ्याभवेयु । ततो अन्ये बाह्या सामन्तचत्वारिंशत्कल्पा गृहपति मुखे वेश्मश्रावयेयु ।)

बाहरी लोगो मे भी उन्ही को सम्पत्ति खरीदने का अधिकार था जो सामन्त हो या आर्थिक दृष्टि से समाज मे विशेष स्थान रखते हो ।

जिनकी सम्पत्ति की नीलामी किसी कर्ज आदि के भुगतान के फलस्वरूप की जाती थी, उसके लिए मालिक को सात दिन का अवसर दिया जाता था। इससे पहले की गयी नीलामी गैरकानूनी समझी जाती थी। परन्तु प्रत्येक नीलामी से पहले मुनादी कराना अनिवार्य था।

बोली बोल देने के बाद वास्तु न खरीदने वाले को सौ पण दण्ड भरना पडता था।

इस प्रकार अचल सम्पत्तिके खरीदने तथा बेचने के सम्बन्ध मे विशेष नियम बने हुए थे। (अधि० ३, अध्याय ९)

राजकीय कृषि फार्म और खेती क नियम

खेती यद्यपि जीविका का मुख्य साधन बन चुकी थी, परन्तु फिर भी उसके विकास के लिए राजकीय प्रयास अनिवार्य थे। खेती का मुख्य विकास राजकीय क्षेत्र मे हो रहा था और उसके लिए विशेष योग्यता प्राप्त अधिकारी की नियुक्ति की जाती थी जिसे सीताध्यक्ष कहते थे। सीताध्यक्ष कृषि शास्त्र, शुल्बशास्त्र (भूमि के गुण-दोष बताने वाला शास्त्र) तथा वृक्षायुर्वेद एव वनस्पति विज्ञान

मे विशेष योग्यता रखता हो और जिसके इन योग्यताओ से सम्पन्न अधिकारी सहायक हो।

(सीताध्यक्ष' कृषितत्र शुल्व वृक्षायुर्वेदज्ञ स्तज्ञ सखोवा सर्व घान्य पुष्प फल शाक कन्द मूल वाल्लिक्यक्षौम कार्पास बीजानि यथाकाले गृह्णीयात्)

सीताध्यक्ष की देखरेख मे सभी खाद्य पदार्थों की वनस्पतियो के उत्कृष्ट बीजो का समय पर सग्रह किया जाता था।

राजकीय कृषि फार्मों मे जिन व्यक्तियो से काम लिया जाता था वे थे दास (उदरदास और क्रीतदास आदि) कर्मकर (नियत वेतन पर कार्य करने वाले-मजदूर) और कारागार के बन्दी। इन लोगो से केवल कार्य कराया जाता था, परन्तु कृषि यन्त्रो एव साधनो का प्रबन्ध इन्हे नही सौपा जाता था। इनसे कटाई और बुवाई का काम भी लिया जाता था, परन्तु जुताई का महत्त्वपूर्ण कार्य इनसे नही कराया जाता था। जोतने का कार्य राजकर्मचारी ही करते थे।

(बहुल वरिकृष्टाया भूमौ दास कर्मकर दण्ड-सति कर्तृभिर्वापयेत्। कर्षण-यन्त्रोपकरण बलीवर्दैश्चैषामसंग कारयेत्)

बढई लुहार आदि शिल्पी, जमीन खोदने वाले, रस्सी बँटनेवाले तथा सपेरे आदि भी खेती की जिम्मेदारियो मे अलग रखे जाते थे, हाँ, उनसे मोटा-मोटा और केवल बताया हुआ काम करवा लिया जाता था। जो कृषि कर्मचारी खेती मे लाभ की अपेक्षा हानि अधिक करते थे उनसे हानि का हरजाना वसूल किया जाता था।

(तेषा कर्मफलविनिपाते तत्फलहान दण्ड)

सूखे प्रदेशो मे १६ द्रोण और नमी के प्रदेशो मे २४ द्रोण वर्षा पर्याप्त समझी जाती थी। पथरीली भूमि के प्रदेशो मे (अश्मकेषु) १३½ द्रोण, मालवा प्रदेश मे २३ द्रोण, कान्धार आदि अपरान्त प्रदेशो मे जितनी भी हो जाए और हिमालय के प्रदेशो मे तथा जहाँ नहरे हो (कल्पावायानाम्) समय-समय पर साधारण वर्षा भी खेती के लिए सन्तोषजनक समझी जाती थी।

यद्यपि कही-कही कुएँ, रहट एव नहरे तथा जलाशय भी थे जिनसे खेत सीचे जाते थे—फिर भी सम्पूर्ण देश की खेती दैवमातृक अर्थात् ऋतुओ के

आधीन थी। दैवमातृक की तुलना मे अदैवमातृक (सिचाई मे आत्म निर्भर) खेती का प्रतिशत बहुत कम था। इसीलिए, वर्षा के सम्बन्ध मे किसान और शास्त्रकार सभी समान रूप से चिन्तित रहते थे और उनमे दैवाधीनता की निराशा के भाव व्याप्त रहते थे। वर्षा के प्रश्न को लेकर भविष्य वाणियाँ करने-वालो तथा नक्षत्रो एव ग्रहो की गति नाप कर उसकी मात्रा बतानेवालो की पाँचो अगुलियाँ घी मे थी और लोग ऐसे व्यक्तियो के चारो ओर मडराते रहते थे जो उन्हे अच्छी वर्षा होने की शुभ भविष्यवाणी से निश्चिन्त कर सके। आम-तौर पर निम्नलिखित लक्षणो से अच्छे सम्वत्सर का अनुमान लगाया जाता था——

यदि वृहस्पति, मेष आदि राशियो पर स्थित होकर वृक आदि राशियो पर सचरण करे, मगसिर आदि मे भारी मात्रा मे तुषार पडे तथा शुक्र का उदय और अस्त एव आषाढ महीने की पचमी आदि नौ तिथियो मे सूर्य के चारो ओर सचार तथा कुण्डलादि के कारण वह धुँधला सा हो तो वर्षा का अच्छा योग समझा जाता था।

कौटल्य एव दूसरे शास्त्रकार इतना विज्ञान समझ गये थे कि पौधो मे बीजो का पडना और पकना सभी कुछ सूर्य के कारण सभव होता है। वृहस्पति को धान्य वृद्धि का कारण माना जाता था और शुक्र की गति मे वृष्टि सभव मानी जाती थी।

(सूर्याद् बीज सिद्धि। वृहस्पते सस्याना स्तम्बकरिता। शुक्राद् वृष्टि रिति)

वर्षा पर आधारित खेती वाला भारत बादलो के बरसने, गरजने, मडराने और उमडने तथा हवाओ के हेर-फेर का बडी मात्रा मे विवेचन करता था और उनसे परिणाम निकालता था।

पूर्वोक्त प्रमाणो से वर्षा की मात्रा का बोध करके भारतवासी यह निर्णय करते थे कि इस वर्ष उन्हे कौन-सी फसल बोनी चाहिए।

माटी (शाली) मोरा नावन, कोदो, तिल, कगनी और लोभिया आदि वर्षा के पहले दिनो मे बोये जाते थे। मूँग, उडद और छीमी बीच मे। कुसुम्भी, मसूर, कुल्थी, जौ, गेहूँ, मटर, अलसी तथा मरसो आदि वर्षा के अन्त मे बोये जाते थे।

इस प्रसग मे दो बाते विशेष महत्त्वपूर्ण है। एक तो कौटल्य के समय तक रबी तथा खरीफ के रूप मे फसलो का विभाजन नही हुआ था और दूसरे कौटल्य के अर्थशास्त्र मे चने की पैदावार तथा उपयोग के सम्बन्ध मे कही उल्लेख नहीं मिलता। यद्यपि दूसरे प्रमाणो से यह सिद्ध हो जाता है कि उस समय भी चने की पैदावार होती थी और स्वय विष्णुगुप्त कौटल्य का एक नाम चाणक्य था जो कि चणक शब्द से सम्बन्ध रखता है, परन्तु फिर भी यह विचारणीय बात है कि पूरे अर्थशास्त्र मे और यहाँ तक कि जहाँ घोडे-खच्चर आदि पशुओ के राशन के सम्बन्ध मे कौटल्य ने विस्तार के साथ विचार किया है, वहाँ चणक (चना) का उल्लेख न होना विचारणीय प्रतीत होता है। इस सम्बन्ध मे तीसरी विशेष बात यह भी है कि फसलो की अदला-बदली का व्यवहार तब तक समाज मे प्रचलित रूप ग्रहण नही कर सका था। इसीलिए, पूरे अर्थ-शास्त्र मे इस सम्बन्ध मे कही भी विचार नही किया गया है जब कि उन्नत खेती के लिए फसलो की अदला-बदली का सिद्धान्त बहुत महत्त्वपूर्ण होता है।

जो राजकीय खेत समय पर जोते-बोये नही जाते थे उन्हे परती छोड देने की प्रथा नही थी। ऐसे खेत अधबटाई पर दूसरो को दे दिये जाते थे एव बटाई पर खेत दे देने की प्रथा राजकीय क्षेत्र के साथ-साथ निजी क्षेत्र मे भी थी। ऐसा न हो पाने पर जी के साझियो (स्ववीर्योपजीविन) को वह भूमि दे दी जाती थी जिनके पास खेती के साधनो का अभाव होता था और जो केवल अपना शारीरिक परिश्रम करके पैदावार करते थे। इन्हे पैदावार का चौथा या पाँचवाँ हिस्सा दिया जाता था। इस सम्बन्ध मे जी के साझियो के प्रति काफी नरमी का व्यवहार किया जाता था और आश्चर्य है कि ढाई हजार वर्ष बीत जाने के बाद भी आज तक पश्चिमी उत्तर प्रदेश एव भारत के बहुत से प्रदेशो मे जी के साझियो को पैदावार का इतना ही हिस्सा दिया जाता है जो कौटल्य के समय पर निश्चित हो गया था।

(स्ववीर्योपजीविनो वा चतुर्थ पञ्च भागिका यथेष्टमनवसित भाग दद्युरन्यत्र कृच्छ्रेभ्यः)

यदि किसान सरकारी जमीन मे निजी तालाबो से हाथो से पानी ढो-ढो

कर खेत सीचते थे तो पैदावार का पाँचवाँ भाग सिचाई कर के रूप मे देते थे एव कधो पर पानी ढोते थे तो चौथा एव छोटी नालियाँ तथा नहर आदि बना कर खेत सीचते थे तो पैदावार का तीसरा भाग देते थे। इसी प्रकार, जो किसान प्राकृतिक नदियो, सरोवरो तथा छोटे तालाबो एव कुओ से रहट आदि यन्त्रो द्वारा खेत सीचते थे वे पैदावार का चौथा भाग राज्य को देते थे। **(स्वसेतुभ्य हस्त प्रावर्त्तिमुदक भाग पचम दद्यु । स्कन्ध प्रावर्त्तिम चतुर्थम्। स्रोतोयन्त्र प्रावर्त्तिम च तृतीयम् । चतुर्थ नदी सरस्तराक कूपोद्घाटम्)**

उन दिनो धान की खेती सर्वश्रेष्ठ, केले आदि की मध्यम तथा गन्ने की खेती नीच समझी जाती थी। जिसमे सौ प्रकार की बाधाएँ, भारी खर्च तथा हानि उठानी पडती थी। गन्ना आमतौर पर नदियो के उन तटो पर बोया जाता था जहाँ वर्ष मे एक बार पानी चढ या भर आता हो। **(शाल्यादि ज्येष्ठम् । षण्डो मध्यम । इक्षु प्रत्यवर । इक्षवोहि बह्वाबाधा व्ययग्राहिणश्च)**

बोने से पहले बीजो का सस्कार करने की परिपाटी चालू हो चुकी थी और किसान आमतौर पर इसमे शिथिलता नही करते थे। राजकीय कृषि फार्मों के अलावा किसानो की खेती बहुत छोटी थी और चारो ओर घने जगलो का जाल बिछा रहता था जिनसे निकल-निकल कर जानवर खेती मे अपूरणीय क्षति पहुँ-चाते थे। पक्षियो से भी भारी हानि होती थी। दीमक और चीटी आदि से बीजो की रक्षा करने के लिए बीज गोबर, सेन्ध तथा आखे के दूध आदि जहरीले पदार्थो से भिगो कर एव सस्कृत करके बोया जाता था। छोटे अकुरो पर जब तक सेध-आखे आदि का जहरीला दूध या दूसरे पदार्थ नही लगाये जाते थे तब तक उनकी रक्षा होना समव नही था। यह खेती इतनी कष्ट साध्य थी कि अपने एक-एक बच्चे की तरह किसान को एक-एक पौधे की रक्षा करनी पडती थी।

खेतो मे सर्प का भय निवारण करने के लिए उसकी केचुली तथा बिनौला मिला कर खेत मे फूंका जाता था जिसके धुएँ तथा गन्ध से साँप खेत छोड देते थे। खेतो की रक्षा के लिए किसान आपस मे मिलकर रक्षक (रखवाले) रखते थे और मिल कर उनका वेतन देते थे। उनका वेतन भोजन के अलावा

सवा पण प्रति मास था। दूसरे कारीगरो का वेतन उनकी योग्यता एव काम के आधार पर तय होता था।

वृक्षो से स्वय हवा मे गिरे फल तथा अपने आप पौधो से गिरी बाले वेद-पाठियो की समझी जाती थी एव खलिहान से रास उठाने के बाद बचे बिखरे दाना पर सिला चुगनेवालो का अधिकार माना जाता था।

(अधि० २, अध्याय २४)

व्यक्तिगत खेती के लिए कुछ विशेष नियम

व्यक्तिगत खेती मे सभी आपसी एव सम्पत्ति सम्बन्धी विवादो का निबटारा सामन्त करते थे। (सर्व एव विवादा मामन्त प्रत्यया) चरागाह, क्यारियाँ, खलिहान, मकान और घुडसाल के सम्बन्ध मे पहले की अपेक्षा अगले को गौण स्थान दिया जाता था।

ब्रह्मारण्य, सोमारण्य, देवस्थान, यज्ञस्थान और अन्य पवित्र स्थानो के अलावा खेती के लिए भूमि छोडने या देने मे सबसे अधिक प्राथमिकता बरती जाती थी। खेती की उन्नति तथा उत्पादन वृद्धि के प्रति राज्य एव समाज इतना सचेत था कि यदि किसी किसान का पानी टूट जाने से अथवा उसकी अन्य किसी लापरवाही से दूसरे किसान की फसल खराब हो जाती थी तो उसे राज्य की ओर से दण्ड का भागी समझा जाता था। यदि एक-दूसरे को हानि पहुँचाने के लिए वे आपस के खेतो मे नुकसान करते थे तो राज्य हस्तक्षेप करता था एव दोनो पक्ष से हानि से दुगना हरजाना वसूल किया जाता था।

(केदाराराम सेतुबन्धानां परस्पर हिंसायां हिंसा द्विगुणो दण्ड॰)

इस प्रकार, राज्य नयी उदीयमान एव कल्याणकारी खेती का तत्परता के साथ भरण-पोषण एव सरक्षण कर रहा था।

सिंचाई का प्रबन्ध यद्यपि नाममात्र का एव बहुत प्राकृतिक था और सब कुछ प्रकृति पर निर्भर करता था, परन्तु फिर भी कुछ नियम बनाये गये थे और राज्य कठोरता के साथ उनका पालन करवाता था। उदाहरण के लिए पीछे बने हुए नीचे के तालाब से जो खेत सीचे जा सकते थे उन्हे ऊपर के तालाब से सीचना वर्जित था। ऊपर के तालाब से नीचे के तालाब मे आता हुआ पानी

नही रोका जा सकता था बशर्ते कि नीचे का तालाब तीन साल से बेकार न पडा हुआ हो। किसान अपने व्यक्तिगत खेत सीचने के लिए तालाब बनवाते थे और उन पर उन्ही का व्यक्तिगत अधिकार माना जाता था। परन्तु इसके बावजूद उन्हें अपना तालाब बेकार कर देने का अधिकार नही था। ऐसा कर देने पर और पाँच वर्ष तक उसके बेकार पडे रहने पर मालिक की मिल्कियत नष्ट हो जाती थी। अपने निजी तालाबो तथा कूप आदि को गिरी-पडी हालत मे रखने का अधिकार किसानो को नही था। यदि वे मरम्मत नही करते थे तो राज्य को यह अधिकार था कि उनसे ले कर दूसरे परिश्रमी किसानो को दे दे।

(पञ्चवर्षोपरतकर्मण सेतुबन्धस्य स्वाम्ये लुप्येतान्यत्रापद्भ्य·)

यदि किसान अपने उपयोग के लिए तालाब और बाँध आदि बिलकुल नये बनाते थे तो पाँच वर्ष तक उनसे किसी प्रकार का सिंचाई कर नही लिया जाता था। (तटाक सेतुबन्धाना नवप्रवर्त्तने पाँचवार्षिक परिहार) यदि दूसरो के टूटे-फूटे तालाब आदि का पुन निर्माण करते थे, चार वर्ष तक छूट दी जाती थी। किसानो से आमतौर पर जो सिचाई कर लिया जाता था वह भूमि कर की तुलना मे बहुत हल्का होता था। किसान ऐसे रहट भी बनाने लगे थे जो हवा से चलते थे एव नदी तथा तालाब का पानी उठा कर खेत सीचते थे। (वातप्रावृत्तिम्)

जो किसान तालाब तथा सेतुबन्ध आदि के स्वामी नही थे वे भी मालिको को पानी का शुल्क दे कर अपने खेत सीच सकते थे। इस प्रकार, सिचाई के क्षेत्र मे व्यापारिक दृष्टिकोण आने लगा था। परन्तु ऐसा करते समय किसानो को मिल कर सिंचाई साधनो की मरम्मत करवानी पडती थी एव मूल्य का भुगतान नगद सिक्को, फसलाने एव पैदावार के एक निश्चित भाग के रूप मे अदा कर सकते थे।

(प्रक्रयावक्रयाधिभाग भोग निसृष्टोपभोक्तारश्चैषा प्रतिकुर्यु । अप्रतीकारे हीन द्विगुणो दण्ड·)

पानी के बटवारे के सम्बन्ध मे नियम इतने कठोर थे कि जो किसान अपना

ओसरा न होने पर पानी लेता था अथवा अपने ओसरे का पानी लेते किसान को रोकता था, उसे राज्य की ओर से आर्थिक दण्ड मिलता था।

सेतुभ्यो मुञ्चतस्तोयमवारे षट्पणो दम.।
पारे वा तोयमन्येषां प्रमादेनोपरुन्धत ॥ (अधि० ३, अध्याय ९)

खेती के अयोग्य भूमि का सदुपयोग

भूमि का महत्त्व आर्थिक दृष्टि से सर्वोपरि हो गया था। भूमि का सबसे प्राथमिक उपयोग खेती के लिए था। परन्तु जिस भूमि पर खेती का होना सभव नही था उसे भी परती एव बजर रूप मे छोड रखना राज्य को स्वीकार नही था। ऐसी भूमि मे चरागाह बनाये जाते थे। चार कोस लम्बे चौडे क्षेत्र मे ब्राह्मणो के लिए तपोवन बसाया जाता था। जहाँ उनके अध्ययन केन्द्र चलते थे। वहाँ जगली जानवरो की हत्या पर प्रतिबन्ध लगा रहता था। चार कोस लम्बा-चौडा क्रीडा क्षेत्र या शिकारगाह होता था जहाँ स्वादिष्ट फलो से लदे वृक्ष एव लताएँ होती थीं, जहाँ मनुष्यो से परिचित हिरण आदि मृग घूमते रहते थे और शिकार योग्य दूसरे प्राणी भी। ऐसे क्षेत्रो मे मूल्यवान् लकडी के वन खड़े किये जाते थे। वहाँ हाथियो का वध करने वालो को प्राण दण्ड मिलता था।

ऐसे वनो मे जगली जानवरो की गणना रखी जाती थी और उनके झुण्डो, नर-मादा आदि की विशेषता का पूरा विवरण रखा जाता था। सुन्दर हाथी पकड कर राजा की सवारी मे प्रस्तुत किये जाते थे एव विशालकाय हाथी सेना मे लाये जाते थे जो शत्रु सेना एव दुर्गम दुर्गों का सहार करते थे।

(अकृष्यायां भूमौ पशुभ्यो विवीतानि प्रयच्छेत्)

मिली-जुली खेती और व्यापार

खेती और व्यापार का विकास साथ-साथ या थोडा आगे-पीछे हुआ है। ये प्राय व्यक्तिगत प्रयासो एव साधनो से चलते थे। इन दोनो क्षेत्रो मे राज्य का हस्तक्षेप था एव स्वय राज्य सबसे बडा किसान एव व्यापारी था। परन्तु

साथ ही एक छोटी-सी आर्थिकशाखा तीमरी भी थी जिसे मिली-जुली खेती एव मिला-जुला व्यापार या व्यापारीय सघ कहा जाता था। नयी भूमि तोडने या खेती के ऐसे काम जो व्यक्तिगत प्रयासो से पूरे नही हो सकते थे, उन्हे किसान मिल-जुल कर पूरे करते थे एव जो व्यापारिक कार्य अधिक पूंजी आदि तथा दूसरी बाधाओ के कारण व्यक्तिगत क्षेत्र मे नही चल पाते थे वे मिल-जुल कर चलाये जाते थे। जब समाज मे एक अर्थव्यवस्था एव मामाजिक प्रथा चालू हो जाती है तो उसके लिए नियम बनने भी स्वाभाविक थे।

जो नियम सघीय कर्मकरो पर लागू होते थे प्राय उनसे मिलते-जुलते नियम सघ के सदस्यो पर लागू होते थे। सघीय व्यापारी एव सघीय किसान अपनी आय का हिमाब-किताब तभी लगा सकते थे जब एक सत्र के प्रारभ से अन्त तक का हिसाब देखा जा चुका हो और इस बीच खरीदे या पैदा किये गए माल की पूरी बिक्री एव फमल का पूरा माल हाथ मे आने के बाद ब्योरा देखा जा चुका हो। अन्तिम आय देख कर ही मिली-जुली खेती एव व्यापार मे सम्मिलित किसानो तथा व्यापारियो को आय का अश दिया जाता था। यदि कोई सघीय सदस्य अपने स्थान पर काम करने के लिए अपना कर्मकर अथवा अन्य व्यक्ति भेज देता था तो इतने मात्र से उसका अश मारा नही जाता था।

(कर्षक वैदेहका वा सस्य पण्यारभपर्यवसानान्तरे सन्नस्य यथाकृतस्य कर्मण' प्रत्यश दद्यु । पुरुषोपस्थाने समग्रमश दद्यु) (अधि० ३ अध्याय १४)

काम पूरा होते ही और पूरा लाभ हाथ मे आते ही हिस्सेदारो का हिस्सा तुरन्त दे दिया जाता था। ऐसा करके वे अगले कार्य की मफलता का ही बीजा-रोपण करते थे। यदि कोई स्वस्थ व्यक्ति बीच मे काम छोड कर बैठ जाता था तो सघीय नियमो के अनुसार अपराधी माना जाता था। सघ का सदस्य बन जाने के बाद काम से बैठ जाने की स्वतत्रता किसी को नही थी।

(संसिद्धे तूद्धृतपण्ये सन्नस्य तदानीमेव प्रत्यश दद्यु । सामान्या हि पथि सिद्धिश्चासिद्धिश्च । प्रक्रान्ते तु कर्मणि स्वस्थस्यापक्रामतो द्वादशपणो दण्ड'। न च प्राकाम्यमपक्रमणे) (अधि० ३, अध्याय १४)

यद्यपि मूलरूप मे सहकारी या मिली-जुली खेती के बीज सामन्ती समाज के उदय काल मे पड चुके थे, परन्तु यह बहुत सीमित था और सामाजिक अर्थ-तत्र पर उसकी विशेष छाप नही थी। केवल विशेष परिस्थितियो मे मिल कर किसान सहकारी खेती के काम पूरे करते थे। एक बार उसमे सम्मिलित होने या आशिक लाभ उठाने के बाद किसी को यह स्वतत्रता नही थी कि अपने दूसरे सहयोगियो के मत एव हितो की उपेक्षा करके वह स्वेच्छाचारिता का व्यवहार कर सके।

चरागाह और पशुपालन

यद्यपि अर्थव्यवस्था पर भूमि एव कृषि के प्रमुत्व की स्थापना होती जा रही थी, फिर भी अनेक कारणो से पशुपालन मनुष्यो की जीविका का महत्त्वपूर्ण साधन था और विशाल जगलो मे चरागाहो की उसी प्रकार योजना बना कर स्थापना की जाती थी जैसे आजकल उद्योगो तथा कारखानो की की जाती है। चरागाह पशुपालन के लिए अनिवार्य थे और पशुपालन को खेती के लिए आधार तैयार करके उसके विकास के लिए साधन मोहय्या किये जाते थे। पशुपालन के बिना किसी भी समाज मे खेती का प्रारम्भ और विकास नही हो सकता। चरागाह और पशुपालन राजकीय आय के भी मुख्य साधन समझे जाते थे। कृषि फार्मों की भाँति ही राजकीय क्षेत्र मे बडे-बडे चरागाह थे जहाँ राजकीय पशुधन का पालन होता था। वहाँ दूसरे व्यक्तियो के पशु भी चरते थे जिनसे राज्य को किराया मिलता था। राज्य की ओर से एक बडा अधिकारी पशु-पालन की व्यवस्था करता था जिसे गोऽध्यक्ष कहते थे और पशुपालन के निम्न-लिखित आठ मुख्य प्रकार थे जो राज्य की ओर से अपनाये जाते थे और जिनमे से आज भी कुछ का पश्चिमी उत्तर प्रदेश, राजस्थान एव पजाब आदि मे अनुसरण किया जाता है—

वेतनोपग्राहिक—पशुपालन का वह तरीका था जिसमे राज्य के पशुपालन का कार्य ऐसे व्यक्तियो से करवाया जाता था जिन्हे नियमित वेतन मिलता था। पशुओ के दूध एव घी मे उनका कोई हिस्सा नही समझा जाता था। ऐसा न करने पर वे इसके लोभ मे बछडो का पेट काट सकते थे जो कि राजकीय

आय के साधन थे। इस प्रणाली मे पशुपालन का यह तरीका था कि गोपालक और पिण्डारक (भैंस पालने वाले) दोहक (दोहने वाले) मन्थक (दही से घी निकालने वाले) और लुब्धक (जगली जानवरो से उनकी रक्षा करने वाले) सौ गौ तथा सौ भैंस पालते थे जिनके फलस्वरूप राज्य की ओर से वेतन मिलता था।

(गोपालक पिण्डारक दोहक मन्थक लुब्धका शत शत धनेना हिरण्यभृता पालयेयु । क्षीरघृतभृताहि वत्सानुपहन्युरिति वेतनोप ग्राहिकम्)

कर प्रतिकर––प्रणाली मे पशुपालन इस प्रकार से होता था कि किसी व्यक्ति को पाँच प्रकार की गाय और भैंस मिला कर सौ की सख्या मे दी जाती थी जिनमे कुछ पूरा दूध देनेवाली, ग्याभन, पठौरी और वात्सरी (जिसने अभी-अभी दूध चूँघना छोडा हो) सम्मिलित होती थी। ऐसे व्यक्ति वर्ष मे सौ वारक घी, एक पण प्रतिपशु और एक चमडा वर्ष भर मे राज्य को देते थे। और घी-दूध आदि से जो आय होती थी उसका शेष भाग उन्ही का समझा जाता था।

भग्नोत्सृष्टक––ऐसे व्यक्ति को पाँच प्रकार की निम्नलिखित गाय और भैंस सौ की सख्या मे दी जाती थी जो बीमार, अगविकल, अनन्य द्रोही (हाथड जिसे दूसरा व्यक्ति दोह न सके) दुर्दोहा (कठिनता से दोही जानेवाली) और पुत्रघ्नी (जिसके बच्चे मर जाते हो) वह व्यक्ति कर प्रतिकर से आधा या तिहाई दूध आदि देकर शेष आय अपने लिए रख लेता था।

भागानुप्रविष्टक––पशुपालन की वह प्रणाली थी जिसमे शत्रुओ के अपहरण तथा पशुचोरो के भय से गोपालक आदि अपने पशु सरकारी चरागाह मे छोड देते थे और अपनी आय का दसवाँ भाग चरागाह कर के रूप मे राज्य को देते थे।

व्रजपर्यग्र––प्रणाली वह थी जिसमे राज्य के प्रत्येक पशु का विवरण––पकी आयु, लिग, काम तथा शेष सभी ब्योरे रखे जाते थे ताकि राज्य के सभी पशुओ की सख्या एव विवरण ज्ञात होता रहे।

नष्ट––वे पशु होते थे जिन्हे चोर ले गये हो, या दूसरे झुण्डो मे जा मिले

हो, अपने झुण्ड से बिछड गए हों और फिर उन्हें सुरक्षित लौटाने का प्रयत्न किया जाता था।

विनष्ट—वे थे जो दलदल मे फस जाते थे, कगार आदि से गिर जाते थे, बीमार, बूढे, जल की धारा मे बहे हुए, वृक्ष, कगार, लकडी तथा शिला आदि के गिर जाने से घायल हो, बिजली गिर जाने, हिंसक जानवरो की झपेट मे आ जाने तथा साँप—नाकू और जगली जानवरो से सताये हुए हो। उनका उपचार करना पशुपालन की अनिवार्य शाखा मानी जाती थी।

क्षीरघृत सजात—प्रणाली मे गौ और भैस किसी व्यक्ति को हिस्से पर पालने के लिए दी जाती थी। जो दूध कम होने लगता था और गाय-भैस ग्याभन हो जाती थी तो बच्चा पैदा होने तक रक्षक दूध-घी का मालिक होता था और बाद मे गाय-भैस के मूल्य के हिस्से लगा दिये जाते थे और आपसी समझौते से पशु मालिक या रक्षक के पास चला जाता था।

जो ग्वाला पशुओ की हत्या कर देता था या दूसरे को ऐसा करने के लिए उकसाता था, स्वय अपहरण कर लेता था या दूसरे को ऐसा करने की प्रेरणा देता था उसे मृत्यु दण्ड दिया जाता था। उन दिनो पशु व्यक्ति एव राज्य की मुख्य सम्पत्ति समझे जाते थे और चोरी, डाके, अपहरण आदि की सभी घटनाए प्राय पशुओ से सम्बन्धित होती थी। अत ऐसे कठोर नियमो का होना अनिवार्य माना जाता था। जैसे कौटल्य कालीन भारत मे दो राज्यो के बीच युद्ध का एकमात्र कारण एक दूसरे की भूमि का छीनना माना जाता था, इससे पहले के काल मे ये युद्ध एक-दूसरे के चरागाह तथा पशुओ का अपहरण करने के लिए होते थे। इस अराजकता पर रोकथाम लगाने के लिए राज्य मे इसके विरुद्ध कठोरतम दण्ड की व्यवस्था थी। जो राज कर्मचारी गैरसरकारी पशुओ पर राजचिह्न अकित करके उन्हे राजकीय चरागाह मे दाखिल कर देता था या राजकीय चिह्न मिटा कर उन्हे निजी पशु की तरह चरागाह से बाहर लाता था, उसे भी कठोर दण्ड दिया जाता था।

चोरी गये पशुओ का पता बताने वालो को भारी पुरस्कार दिये जाते थे। विदेशी पशुओ का अपहरण करके राज्य मे लानेवाले व्यक्तियो को राज्य की

ओर से आधा हिस्सा पुरस्कार मे दे दिया जाता था। इस प्रकार, अपने राज्य मे पशुओ की चोरी, हत्या एव अपहरण आदि पर जो प्रतिबन्ध थे वे ही दूसरे के राज्य के सम्बन्ध मे छूट के रूप मे बदल जाते थे।

बियाबान जगलो मे पशुओ का पालन खतरे से खाली नही था। इसीलिए जिन जगलो मे शिकारी और कुत्ते पालनेवाले घूमते रहते थे, जहाँ चोरो, हिंसक पशुओ तथा शत्रु राज्य के लोगो का भय नही रहता था ऐसे जगलो मे गोपालक पशु पालते थे। राज्य की ओर से राजकीय एव निजी पशुओ के सरक्षण की पूरी व्यवस्था की जाती थी। सर्प तथा हिंसक प्राणियो को पशुओ से दूर रखने के लिए उनकी गर्दनो मे घटियाँ तथा घटे बाँधे जाते थे। इनकी आवाज से उनके चरने और घूमने के स्थान एव गतिविधि का बोध भी होता रहता था।

चरागाह के अध्यक्ष के अधिकार

जो अधिकारी विशेष रूप से चरागाह, उनके मार्गो तथा पशुओ की रक्षा का कार्य करवाया करता था उसे विवीताध्यक्ष या चरागाह का अध्यक्ष कहते थे। उसके अधिकार पर्याप्त रूप से व्यापक थे।

आम एव प्रचलित मार्गों से न चल कर जो लोग अटपटे मार्गों से चलते थे विवीत (चरागाह) का अध्यक्ष उनकी मोहर देखा करता था। जिन स्थानो पर पशुओ के चोरो तथा शत्रुओ के भेदियो का प्रकोप रहता था वहाँ विवीत की स्थापना करके सुरक्षा की व्यवस्था की जाती थी। चोर तथा हिंसक जन्तु आम-तौर पर ऊँचे-नीचे स्थानो पर रहते थे। राज्य की ओर से ऐसे स्थानो की छान-बीन करने की प्रथा थी। रेगिस्तानी क्षेत्रो मे राज्य की ओर से मार्गो पर कुएँ खुदवाये जाते थे, तालाब बनवाये जाते थे और फल तथा फूल से लदे छायादार वृक्ष लगवाये जाते थे। जगलो मे राज्य की ओर से शिकारी एव शिकारी कुत्तो वाले आदमी लगातार चक्कर काटते रहते थे ताकि आने-जाने वालो को आकस्मिक सकट का सामना न करना पडे।

इन सब सरक्षणो के बावजूद जगलो एव जनपदो मे चोरो, दस्युओ तथा शत्रुओ के गिरोह घूमा करते थे। उनके आगमन की सूचना शख तथा ढोल बजा कर, पहाड़ तथा ऊँचे वृक्षो पर चढे आदमी आवाज दे कर एव तेज गति

के घोडे आदि की सवारी से दौड कर राज रक्षको को दी जाती थी। पूरे देश मे यद्यपि शान्ति एव व्यवस्था का राज्य कायम करने के प्रयत्न किये जा रहे थे, फिर भी जन-जीवन असुरक्षित था, एक दूसरे जनपद एव राज्य के आक्रमण का आतक हर समय लोगो के मनो पर छाया रहता था और जब जगलो मे शत्रुओ के प्रबल गिरोह उतर आते थे तो राजा की मोहर से युक्त पत्रसन्देश पालतू कबूतर से अथवा एक के बाद दूसरे आदमी से कहलवा कर राजा तक पहुँचाया जाता था।

(विवीताध्यक्षो मुद्रा पश्येत् । भयान्तरेषु च विवीत स्थापयेत्। चोर-व्याल भयान्निम्नारण्यानि शोधयेत् । अनुदके कूप सेतुबन्धोत्सान् स्थापयेत् पुण्यफल वाटांश्च । लुब्धक श्वगणिनः परिव्रजेपुरण्यानि । तस्करामित्राभ्यागमे शख दुन्दुभि शब्दमग्राह्या कुर्यु शैलवृक्ष विरूढा वा शीघ्रवाहना वा। अमित्राटवी सचार च राज्ञो गृहकपोतैर्मुद्रायुक्तै हारयेयु, धूमाग्नि परम्पराया वा)

राजकीय चरागाहो के गोपालको के लिए यह आवश्यक समझा जाता था कि वे प्रत्येक मरे हुए पशु की सूचना तुरन्त गोऽध्यक्ष को दे। ऐसा न करने पर उनमे हरजाना माँगा जाता था। परन्तु केवल सूचना देना ही पर्याप्त नही था। इसे प्रमाणित करने के लिए उन्हे राजचिह्न से अकित गाय, भैस और दूसरे पशुओ का चमडा पेश करना पडता था और बकरी तथा भेड आदि छोटे पशुओ के राजचिह्नित कान जमा करने पडते थे। मरे हुए पशु के मास, अस्थि, पित्ता, स्नायु (आँत) दाँत और खुर एव सीग आदि पर गोपालक का नही बल्कि राज्य का ही अधिकार माना जाता था और वे उसे जमा करने पडते थे।

पशुओ के व्यापारी पशुओ की बिक्री पर पौन पण बिक्री कर देते थे। अर्थशास्त्र पढने से प्रतीत होता है कि उस युग मे गाय और भैस की भाँति बकरी तथा भेड का दूध एव घी भी आम व्यवहार मे लाया जाता था। गाय और भैस, साण्ड तथा भैंसो के साथ खिलवाड करना, उन्हे आपस मे लडा कर

मनोरंजन करना अपराध समझा जाता था। उनकी हत्या करने पर उत्तम साहस दण्ड दिया जाता था एव भेडो तथा बकरियो की ऊन प्रत्येक छमाही मे उतार ली जाती थी।

(स्वय हन्ता घातयिता हर्त्ता हारयिता च वध्य । परपशूना राजाङ्केन परिवर्त्तयिता रूपस्य पूर्व साहस दण्ड दद्यात् । स्वदेशीयानां चोरहृत प्रत्यानीय पणिकं रूप हरेत् । परदेशीयानां मोक्षयिताऽर्ध ह रेत् । कारणमृतस्य गोमहिषस्य कर्ण लक्षणमजाविकानां पुच्छमकचर्म चाश्वखरोष्ट्राणा बालचर्म वस्ति पित्त स्नायु दन्त खुर भृगास्थीनि चाहरेयु ।

गौ-भैंस की भाँति ही घोडे, खच्चर, हाथी एव दूसरे प्राणियो के पालने की एव उनसे विभिन्न कार्य लेने की विशाल स्तर पर समाज मे प्रथा प्रचलित थी और उसके लिए विभिन्न व्यापक नियम बने हुए थे।

भूमि सम्बन्धो मे वर्गीय आर्थिक स्थिति

जो किसान दूसरो के चरागाहो और साधारण कर्मक्षेत्रो का मार्ग रोकते थे उन्हे अपराधी माना जाता था। दूसरो की भूमि का अपहरण करने के लिए उसकी भूमि पर देवालय आदि पवित्र स्थान बनवाना भी दण्डनीय समझा जाता था। परन्तु ग्रामवासियो को यह अधिकार था कि यदि देवालय आदि पवित्र स्थानो का मालिक छोड कर चला गया हो और वे भग्न अवस्था मे हो तो मिल कर मरम्मत कर ले और सामूहिक उपयोग मे ले आवें। जो सामूहिक उपयोग के लिए बने मार्गों को हानि पहुँचाते थे, वे भी अपराधी माने जाते थे।

राज्य की ओर से प्रत्येक स्थान को आने-जाने वाले मार्गों की केवल व्यवस्था ही नही थी बल्कि यह नियम था कि पैदल, गाडी, रथ और घोडा आदि के लिए कितना मार्ग छोडना आवश्यक है। प्रत्येक को उतना मार्ग अवश्य छोडना पडता था और बने हुए मार्गों का रोकना विशेष अपराध माना जाता था।

किसानो को अपने व्यक्तिगत खेत भी परती या बजर छोडने का एव इस प्रकार खेती की पैदावार मे हानि पहुँचाने का अधिकार नहीं था। लगान देने वाले किसानो को अपनी भूमि बेचने या गिरवी रखने का अधिकार था। परन्तु

वे उन्ही किसानो के हाथो अपनी भूमि बेच या गिरवी रख सकते थे जो राज्य को लगान देते हो।

(करदा करदेष्वाधान विक्रय वा कुर्यु)

हाँ, जो लोग लगान नही देते थे वे केवल लगान न देनेवाले लोगो को ही अपनी भूमि बेच या गिरवी रख सकते थे ।

(ब्रह्म देयिका ब्रह्मदेयिकेषु)

किसी किसान को यह अधिकार भी नही था कि वह लगान से बचने के लिए लगान देनेवाले गाँव का रहना छोड कर लगान न देनेवाले गाँव मे जा कर रहने लगे। हाँ, यदि वह पुराना गाँव छोड कर किसी ऐसे गाँव मे जाकर रहना चाहे जहाँ लगान दिया जाता हो तो राज्य को कोई अपत्ति नही थी।

(करदस्य वाऽकरदग्राम प्रविशशत । करद तु प्रविशत सर्वद्रव्येषु प्राकाम्य स्यात्)

जो किसान अपनी भूमि नही जोतता था उसके पडोसी किसान को यह अधिकार था कि पाँच साल तक उसकी भूमि जोतता रहे। पाँच साल बाद छोडने समय उसे यह अधिकार था कि भूमि के सुधार मे आयी अपनी लागत वसूल कर ले।

(अनादेयमकुर्वतोऽन्य पञ्चवर्षाण्युपभुज्य प्रयास निष्क्रयेण दद्यात्)

लगान मुक्त किसान दूसरे गाँव मे रहते हुए भी अपनी भूमि के मालिक बने रहते थे। परन्तु लगान देनेवाले किसानो को उसी गाँव मे रह कर खेती करनी पडती थी। अन्यथा भूमि पर मिल्कियत के अधिकार छिन जाते थे। इस प्रकार, भूमि सम्बन्धो मे एक ऐसे वर्ग का जन्म हो रहा था जिसे विशेष अधिकार प्राप्त थे और जो खेती से अनुपस्थित रह कर भी कृषि भूमि का स्वामी माना जाता था। जैसे-जैसे समय बीता, इस वर्ग के अधिकारो मे वृद्धि होती चली गयी।

(अकरदा परत्र वसन्तो भोग मुपजीवेयु)

गाँव के किसी कार्य से जब ग्रामिक (ग्राम मुख्य) कही बाहर जाता था तो ग्रामवासियो मे से कुछ को अनिवार्य रूप से उसके साथ जाना पडता था।

इसके लिए वह किन्ही विशेष व्यक्तियो को बाध्य कर सकता था और वे उसकी आज्ञा का उल्लघन नही कर सकते थे। इस व्यवस्था ने ग्राम मुख्य के चारो ओर खुशामदियो की भीड इकट्ठी कर दी और वे उसे प्रसन्न रखना आवश्यक समझने लगे। इससे राजतत्र के प्रतिनिधि ग्राम मुख्य का प्रभाव बढा। यदि कर मुक्त कृषि भूमि ने आर्थिक विशेषाधिकार प्राप्त वर्ग को जन्म दिया तो इस व्यवस्था ने राजनीतिक विशेषाधिकार प्राप्त वर्ग को जन्म दिया।

(ग्रामार्थेन ग्रामिक व्रजन्तमुपवासा पर्यायेणानुगच्छेपुरननु गच्छन्त पणार्ध-पणिक योजन दद्यु)

यद्यपि ग्राम मुख्य पर प्रतिबन्ध लगाने तथा मनमानी रोकने के लिए यह व्यवस्था की गयी थी कि वह बारी-बारी से उन्हे साथ ले जा सकता था। फिर भी एकबार यदि किसी वर्ग एव व्यक्ति का विशेषाधिकार समाज मे चालू हो जाता है तो प्रतिबन्ध अधिक प्रभावशाली सिद्ध नही होते।

राजतत्र की ओर से ग्राम मुख्य पर कुछ दूसरे प्रतिबन्ध भी थे। वह चोरो तथा अपराधियो से भिन्न किसी व्यक्ति को गाँव से बाहर नही निकाल सकता था। और यदि मुखिया पूरे गाँव को अपने साथ ले कर किसी निर्दोष व्यक्ति को देश निकाला देता था पूरे गाँव पर उत्तम साहस (एक हजार पण तक) आर्थिक दण्ड दिया जा सकता था। इस प्रकार, सामन्तवाद ने सामूहिक जुरमानो की प्रथा का सूत्रपात कर दिया था जिसे साम्राज्यवादियो ने अन्त तक भारत पर लागू रखा था।

इसमे ग्राम मुख्य को २४ पण दण्ड पृथक् से दिया जाता था।

(ग्रामिकस्य ग्रामावस्तेन पारदारिक निरस्यतश्चतुर्विंशति पणो दण्ड:। ग्रामस्योत्तम:। निरस्यत: प्रवेशो ह्यभिगमेनव्याख्यात)

इसी प्रकार, मुखिया और पूरा गाँव मिल कर भी किसी चोर एव व्यभि-चारी व्यक्ति को गाँव मे आ कर बसने से नही रोक सकते थे।

गाँव के समीप ही चारो ओर से घिरा हुआ एक बाडा बनाया जाता था जिसमे गाँव के सभी पशु रात्रि मे विश्राम करते थे। प्रत्येक गाँव के सन्निकट राज-कीय चरागाह होते थे जहाँ किराया देकर जनपद निवासी पशु चराते थे। यदि

वे रात मे भी वही विश्राम करते थे तो किराया अधिक देना पडता था। सभी पशुओ के किराये की विभिन्न दरे तय थी।

(स्तम्भे समन्ततो ग्रामाद् धनु शतापकृष्ट मुपशाल कारयेत् । पशु प्रचारार्थ विवीतमाल वनेनोपजीवेयु)

बडे नगरो तथा दुर्गो का निर्माण कार्य

कौटल्य कालीन भारत का सामन्तवाद वास्तव मे एक महान् निर्माणकर्त्ता के रूप मे कार्य कर रहा था।

चारो दिशाओ मे देश की सीमाओ पर युद्ध के लिए स्वाभाविक रूप से उपयोगी स्थानो पर दुर्गो का निर्माण करवाया जा रहा था। दुर्ग मुख्यत चार प्रकार के होते थे। औदक, पार्वत, धान्वन और वनदुर्ग। इनमे प्रत्येक भेद के दो रूप होते थे। और इस प्रकार कुल मिला कर ८ प्रकार के दुर्ग बनाये जाते थे। औदक दुर्ग चारो ओर नदियो से घिरा हुआ था या विशाल जलाशय मे टापू के समान बना हुआ रहता था। पार्वत दुर्ग बडे-बडे पत्थरो तथा प्रस्तर दीवारो का बना हुआ अथवा, स्वाभाविक रूप से किसी पर्वत की कन्दराओ मे बनाया जाता था। धान्वन दुर्ग ऐसे स्थान पर बनाया जाता था जिसके चारो ओर दूर-दूर तक पानी एव घास तथा छाया का अभाव हो और शत्रु सेना को जल पीने आदि की कही सुविधा प्राप्त न हो। वनदुर्ग चारो ओर से झाडियो तथा वृक्षो से घिरा रहता था और या फिर उसके चारो ओर विशाल दलदल होता था जिससे शत्रु सेना के लिए घेरा डालना कठिन होता था।

नदी दुर्ग और पर्वत दुर्ग सकट के समय जनपद की रक्षा के लिए विश्वसनीय साधन समझे जाते थे। धान्वन एव वन दुर्ग आरविको की रक्षा के लिए लाभ-दायक माने जाते थे। विशेष अपत्तियो के समय राजा भी इनमे शरणलेता था।

इन दुर्गों के बीच मे जनपदो (ग्राम समुदायो) तथा स्थानीयो (स्थानीय निकायो-बडे शहरो) की स्थापना की जाती थी जिससे कि आर्थिक विकास एव आदान-प्रदान की सुविधा हो। स्थानीय निकायो का निर्माण विशेष योजना के अनुसार किया जाता था और उनके भूभागो की योजना पहले से तैयार कर ली जाती थी।

किसी भी स्थानीय निकाय की स्थापना से पहले वास्तु विद्या मे विशारद शिल्पी भूमि की परीक्षा करते थे, वहाँ के जल की परीक्षा की जाती थी और विशेष रूप से बडी नदियो के किनारे एव बडे जलाशयो के तट देख कर स्थानीय निकायो का नक्शा तैयार किया जाता था।

(स द्वादश द्वारो युक्तोदकभूमिच्छन्नपथ)

दुर्गों तथा स्थानीय निकायो का आकार भूमि के आकार के आधार पर गोल या चौकोर रखा जाता था। स्थानीय निकायो मे नहरो के जल की व्यवस्था की जाती थी। वहाँ हर प्रकार के पण्य (विक्रेय माल) के लिए हाटको (बाजारो) की रचना की जाती थी और यह प्रयत्न किया जाता था कि प्रत्येक पण्य हाटक मे अवश्य मिल सके। स्थानीय निकायो मे पण्य लाने और ले जाने के लिए स्थल एव जल दोनो प्रकार के मार्गों की व्यवस्था की जाती थी।

इन दुर्गों तथा नगरो के चारो ओर एक-एक दण्ड के फासले से चार खाइयाँ खोदी जाती थी (चार हाथ का एक दण्ड)। ये खाइयाँ क्रमश चौदह, बारह और दस दण्ड चौडी रखी जाती थीं। चौडाई का तीसरा हिस्सा गहराई रखी जाती थी। खाई का फर्श समतल एव पथरीला रखा जाता था। दीवारें पक्की रखी जाती थी। पत्थर न मिलने पर पक्की ईंटो से किनारे मजबूत बनाये जाते थे। दीवारे चिकनी और मजबूत होती थी। कही-कही खाई इतनी गहरी खोदी जाती थी कि नीचे का पानी निरन्तर ऊपर बहता रहता था। खाइयाँ नदियो के पानी से भरी जाती थीं। इनके पानी की निकासी का प्रबन्ध रहता था और कमल आदि पौधे एव मगर मच्छ आदि जीवजन्तु जल मे रखे जाते थे।

खाई (परिखा) से चार दण्ड के अन्तराल पर छ दण्ड ऊँचा और इतनी ही गहरा तथा चिकना सफील (वप्र) बनाया जाता था। खाई खोदने से जो मिट्टी निकलती थी वही प्रयोग मे लायी जाती थी। वप्र तीन प्रकार के होते थे—ऊर्ध्वचय, (ऊपर से चौडा और नीचे से बेडा) कम्भचय (नीचे तथा ऊपर से बेडा एव बीच मे चौडा) मचपृष्ठ (ऊपर तथा नीचे से एक समान चौडा) वप्र बनने के बाद पशुओ के झुण्ड ऊपर से गुजारे जाते थे ताकि जमीन पक्की हो जाए और जहरीले पौधे उगाये जाते थे। वप्र के ऊपर एक प्राकार (दीवार-सी

खडी की जाती थी जो अधिक से अधिक चौबीस हाथ ऊँची होती थी। इसके ऊपर से आसानी से रथ गुजर जाता था। प्राकार लकडी का कभी नही बनाया जाता था, जो अपने गर्भ मे आग छिपाये रहता हो। केवल पत्थर और ईट का चूरा ही काम मे लाया जाता था। इन प्राकारो पर बहुत ऊँचे अट्टालक बनाये जाते थे जिनके बीच मे थोडा फासला रखा जाता था। इनसे थोडा आगे की ओर प्रतोली बनायी जाती थी, जिनमे एक-एक मे कई-कई धनुर्धर बैठ कर दूर से बाहर की ओर शत्रु पर बाण-वृष्टि कर सकते थे। दुर्गों मे देवपथ (गुप्त-मार्ग) भी बनाये जाते थे जो प्राय सकटकाल मे प्रयोग मे लाये जाते थे।

स्थानीय निकायो के घरो के सामने चबूतरे, वापी (बावडी) शाला और सीमागृह बनाये जाते थे और ऊपर की ओर चोटियो पर बुर्जों का का बनाना आवश्यक था। हर्म्य (मकान की दूसरी मजिल) की ऊँचाई पहली मजिल से आधी रखी जाती थी और उसकी छत के नीचे खम्भो का सहारा आवश्यक समझा जाता था। इसी प्रकार, तीसरी और चौथी मजिल आदि की ऊँचाई पहली से कम होती जाती थी।

तीन राजमार्ग पश्चिम तथा पूर्व की ओर, तीन-तीन उत्तर तथा दक्षिण दिशा की ओर रखे जाते थे। इस प्रकार १२ राजमार्ग रखे जाते थे। चार दण्ड चौडी रथ्या (गली) की चौडाई रखी जाती थी। इसी प्रकार, द्रोणमुख, स्थानीय, राष्ट्र, चरागाह, सपातीय (मण्डी) आदि के प्रमुख केन्द्रो के लिए जाने वाले मार्गों की निश्चित चौडाई रखी जाती थी। जिन मार्गों से सेना गुजरती थी या जो श्मशान घाट तक अथवा एक गाँव को दूसरे गाँव से जोडते थे उनकी चौडाई भी सभी स्थानो पर समान रूप से निश्चित होती थी।

स्थानीय निकायो तथा दुर्गों मे खाली पडे छोटे-छोटे कोने भी बेकार नही रहने दिये जाते थे। जो व्यक्ति नगरो के मान्य नियमो का तिरस्कार करते थे उन्हे कठोर दण्ड दिया जाता था। नगर मे रहने वाले व्यक्तियो को मनचाहे स्थानो पर मकान बनाने तथा बसने का अधिकार नही था। उन्हे अपने ही समान व्यवसाय के व्यक्तियो के मुहल्लो मे रहना पडता था। नगर मे खाली पडी भूमि मे गन्दगी रहती है इसीलिए वहाँ शाक-सब्जी, फल एव फूल आदि

लगा कर नगर की शोभा बढाई जाती थी। दैनिक उपयोग की सामग्री का पूरा भण्डार इनमे सदा ही रखा जाता था, ताकि आकस्मिक विपत्ति के समय निर्वाह चलता रहे।

नट, नर्त्तक, वादक आदि को नगर के बाहर बसाया जाता था, जिनके सम्बन्ध मे यह धारणा प्रचलित थी कि वे प्रजा को कुमार्गो की ओर अग्रसर करते हैं।

(चतुर्दण्डान्तरा रथ्या । राजमार्ग द्रोणमुख स्थानीय राष्ट्र विवीतपथ सपातीय व्यूह श्मशान ग्रामपथाश्चाष्ट दण्डा)

न च वाहिरिकान् कुर्यात् पुरराष्ट्रोपघातकान्।

क्षिपेज्जनपदस्यान्ते सर्वान्वा दापयेत्करान् ॥ (अधि० २, अध्याय ४)

आयात निर्यात एव आन्तरिक व्यापार

खेती पशुपालन के साथ-साथ वाणिज्य प्रारम्भिक अवस्था से निकल कर विकास की मध्यम अवस्था मे पहुँच रहा था और उसके लिए समाज मे विस्तृत नियम प्रचलित थे।

व्यापार आमतौर पर तीन प्रकार का समझा जाता था। बाह्य, आभ्यन्तर और आतिथ्य। इन तीनो प्रकार के व्यापारो पर दो प्रकार का शुल्क (चुगी) ली जाती थी—निष्क्राम्य और प्रवेश्य। निर्यात व्यापार पर लिया जानेवाला कर निष्क्राम्य तथा आयातित पण्य पर लिया जाने वाला शुल्क प्रवेश्य कहलाता था। अपने ही देश मे राजधानी तथा दुर्ग से भिन्न स्थानो पर उत्पन्न पण्य बाह्य कहलाता था एव राजधानी तथा दुर्ग मे उत्पन्न पण्य को आभ्यन्तर कहते थे। विदेशो से आयातित पण्य आतिथ्य अथवा निर्याततित कहलाता था।

(शुल्क व्यवहारो बाह्यमाभ्यन्तर चातिथ्यम् । निष्क्राम्य प्रवेश्यञ्च शुल्कम्)

शुल्क (चुगी) की दरे प्रत्येक प्रकार के पण्य एव व्यापार के लिए भिन्न-भिन्न थी। बाहर से आने वाले पण्यो पर मूल्य का पाँचवाँ भाग प्रवेश्य शुल्क लिया जाता था। प्रत्येक पण्य के मूल्य के आधार पर उसकी सूची बनाकर प्रवेश्य शुल्क लेने की व्यवस्था प्रचलित थी। राजधानी मे विदेशी माल के प्रवेश पर विशेष शुल्क लेने की प्रथा थी और विदेशी माल के मुक़ाबिले स्वदेशी माल को प्रोत्साहन दिया जाता था।

(द्वारादेय शुल्क पञ्च भागम्, आनुग्राहिके वा यथादेशोपकार स्थापयेत्। जाति भूमिषु च पण्यानामविक्रय)

जिन प्रदेशो मे जो माल बहुतायत से पैदा होता था उसे दूसरे प्रदेशो मे बेचना अधिक लाभदायक माना जाता था। परन्तु खानो मे से निकाले हुए कच्चे माल के बेचने तथा खरीदने पर कठोर प्रतिबन्ध लगा हुआ था। जिस खेत, बाग या स्थान मे जो सामान पैदा होता था उसका वही बेचने पर भी कडा प्रतिबन्ध था।

किसी भी स्थिति मे चुगी का चुराना राज्य के प्रति घोर अपराध था।
(अधि० २, अध्या० २२)

जल मार्गो की स्थापना

जैसा कि आगे बताया गया है कौटल्य कालीन भारत मे राज्य की छत्र-छाया मे व्यापार का प्रसार हो रहा था और राज्य स्वय भी सबसे बडा व्यापारी था। इसके लिए व्यापार मार्गों का विकास एव उनकी सुरक्षा सर्वोपरि समझी जाती थी। भारत का, स्थल मार्ग से जहाँ उत्तरापथ मे ईरान एव यूनान तक व्यापार था, वहाँ समुद्र मार्ग से पूरे दक्षिणी एव दक्षिण पूर्वी एशिया के देशो के साथ गहरा आर्थिक सम्बन्ध था। यदि राज्य स्वय इस दिशा मे पहल अपने हाथ मे न लेता तो कठिन जलमार्गों तथा अत्यन्त असुरक्षित स्थलमार्गों का विकास करना सभव नही था।

राज्य की ओर से समुद्र तथा नदी सगमो, समुद्रो, महानदियो के व्यापार-मार्गों, विशाल सरोवरो, मध्यम सरोवरो, छोटी नदियो के सरोवरो तथा तटों पर स्थानीयो (नगरो) की स्थापना की जाती थी और राज्य की ओर से नौका-ध्यक्ष जलमार्गों तथा तत्सम्बन्धी व्यापार की व्यवस्था करता था। जलमार्गों से होने वाली राजकीय आय का भी वही सग्रह करता था। इनके तटो पर रहने वाले ग्रामवासी 'क्लृप्त' (फुसलाने) के रूप मे राजकर देते थे जिनकी देखादेखी आगन्तुको से कर लेना आसान होता था।

राज्य की ओर से बडी-बडी नावे तथा डोगियाँ किराये पर चलती थीं। मछुवे भी इन नौकाओ पर समुद्र तथा नदियो मे मछली मारा करते थे एव

उनकी आय का छठा भाग राज्य को मत्स्यकर के रूप मे मिलता था। इसी मे नाव का किराया भी सम्मिलित रहता था। पत्तनो (समुद्रतटीय नगरो) मे प्रचलित प्रथाओ के अनुसार बनिये अपनी आय का पाँचवाँ या छठा भाग राज्यकर मे देते थे। परन्तु सरकारी नावो से माल ढोने का किराया पृथक् देना पडता था।

(नौकाध्यक्ष समुद्र सयान नदी मुखतर प्रचारान् देवसरो विसरो नदीतरांश्च स्थानीयेष्ववेक्षेत। तद्बेलाकूल ग्रामा क्लृप्त दद्यु। मत्स्यबन्धका नौका भाटक षड्भाग दद्यु। पत्तनानुवृत्त शुल्कभाग वणिजो दद्यु। यात्रावेतन राजनौभिः सपतन्त। शङ्खमुक्ताग्राहिणो नौकाभाटक दद्यु। स्वनौभिर्वा तरेयु)

पत्तनाध्यक्ष दोनो प्रकार के—आयात एव निर्यात, व्यापार के लिए विशेष नियम बनाता था और नौकाध्यक्ष, जिसके अकुश मे व्यापारी रहते थे, उन नियमो का उनसे पालन करवाता था। यदि व्यापारी समुद्र मे दिशा भूल जाते थे (मूढानाम्) तथा तूफानो मे उनकी नाव फम जाती थी तो राज्य की ओर से मौके पर सरक्षण दिया जाता था। जो पण्य (माल) पानी मे खराब हो जाता था उस पर शुल्क आधा कर दिया जाता था या पूरी छूट दे दी जाती थी। ऐसी विपत्तिग्रस्त नौकाओ के बारे मे राज्य की ओर से पण्यपत्तन को स्पष्ट आदेश दे कर भेज दिया जाता था।

नौकाएँ जो पण्य पत्तन पर पहुँचती थी सबसे पहले उनसे राज्यकर लिया जाता था। दस्युओ तथा चोरो की नौकाओ का पीछा करके नष्ट कर दिया जाता था। ऐसी नावे भी नष्ट कर दी जाती थी जो शत्रुदेश की ओर से आ रही हो या जिन्होने राज्य के नियमो का खुला उल्लघन किया हो।

(पत्तनाध्यक्ष निबन्ध पण्यपत्तन चारित्र नौकाध्यक्ष पालयेत्। मूढवाताहतानां पितेवानुगृह्णीयात्। उदकप्राप्त पण्यमशुल्कमर्धशुल्क वा कुर्यात्। यथा निर्दिष्टाश्चैता पण्यपत्तन यात्राकालेषु प्रेषयेत्। सयान्तीनाव क्षेत्रानुगता शुल्क याचेत्। हिंस्रिका निर्घातयेत्। अभित्राविषयातिगा पण्यपत्तन चारित्रोपघातिकाश्च)

महानौकाओ मे अग्रेलिखित अधिकारियो तथा कर्मचारियो का रहना अनिवार्य समझा जाता था—

शासक—जिसके आदेश से नाव चलती और रुकती थी—कप्तान।

नियामक—जो नाव का सचालन (रेगुलेशन) करता था।

दात्रग्राहक—लकडी आदि काटने का हाथियार हाथ मे रखनेवाला।

रश्मिग्राहक—पतवार एव मस्तूल की रस्सी हाथ मे रखनेवाला।

उत्सेचक—नाव मे आये पानी की निकासी करने वाला।

सिन्धु आदि महानदियो तथा समुद्रो मे पूरे अधिकारियो एव साधनों के साथ ही नौका उतारने की परम्परा थी। छोटी नावें छोटी नदियो मे उतारी जा सकती थी। जहाँ ये महानावे आकर रुकती थी वहाँ पक्के स्थान बनाये जाते थे (बद्धतीर्था) इससे राजद्रोहियो के आने-जाने पर भी प्रतिबन्ध लगता था।

(बद्धतीर्थाश्चैता कार्या राजद्विष्टकारिणा तरणभयात्। अकालेऽतीर्थे च तरत पूर्व साहस दण्ड·)

महानदियो तथा समुद्रो के मार्गों की व्यवस्था एव सुरक्षा के अलावा छोटी-बडी सभी नदियो के पार उतरने के लिए जो घाट बनाये जाते थे उनके लिए भी नियम थे। इस प्रकार घाट भी राज्य की आय के एक साधन थे। बिना समय और बिना घाट के जो व्यक्ति नदी पार करता था उसे कठोर दण्ड मिलता था। ठीक समय पर तथा घाट से पार होने के लिए भी राज्य की ओर से नियुक्त व्यक्ति की स्वीकृति अनिवार्य मानी जाती थी।

हाँ, मछली मारनेवाले और केवट आदि के लिए अपवाद था। पैदल यात्री से ले कर बडी-बडी सवारियो के साथ पार होनेवालो के लिए पार होने के विभिन्न शुल्क नियुक्त थे। महानदियो को पार करने का शुल्क दुगना होता था और इन करो का सग्रह करने मे पूरी कठोरता से काम लिया जाता था।

यदि नौकाध्यक्ष की अव्यवस्था से अर्थात् राजकीय नौका की खराबी के कारण व्यापारियो का पण्य खराब या नष्ट हो जाता था या किसी की मृत्यु हो जाती थी तो राज्य की ओर से स्पष्ट आदेश थे कि नौकाध्यक्ष उनकी पूरी क्षतिपूर्ति करे।

(पुरुषोपकरणहीनायामसस्कृतायां वा नावि विपन्नायां नौकाध्यक्षो नष्ट विनष्टं वाभ्यावहेत्) (अधि० २, अध्याय २८)

राज्य और राजकीय व्यापार

जैसे सामाजिक जीविका के दो अन्य मुख्य साधनो—खेती और पशुपालन में राज्य का प्रभावशाली हस्तक्षेप था। इसी प्रकार, व्यापार के क्षेत्र मे राज्य का भाग न केवल महत्त्वपूर्ण था प्रत्युत् उसका बडा भाग राजकीय क्षेत्र मे था और राज्य स्वय भी सबसे बडी व्यापारिक सस्था थी। यहाँ तक कि निजी क्षेत्र के व्यापारी भी राज्य से अनुमति लेकर तथा उसके सरक्षण मे अपना कारोबार चलाते थे। कौटल्य की परिभाषा मे पण्य उस माल का नाम था जो केवल बाजार के लिए तैयार किया जाता था अथवा वह माल पण्य था जो बाजार मे बिक्री के लिए लाया जाता था। इस प्रकार पण्य शब्द अग्रेजी भाषा के कम्योडिटी शब्द का पूर्ण पर्यायवाची है। राज्य की ओर से जो सबसे बडा अधिकारी राजकीय व्यापार की देखरेख करता था एव निजी व्यापारियो को पण्य-अनुमति (लैसेस) देता था उसे पण्याध्यक्ष कहते थे। पण्याध्यक्ष अपनी ओर से प्रत्येक बडी मण्डी मे प्रतिनिधि नियुक्त करता था जो सस्थाध्यक्ष कहलाता था और उसी की देखरेख मे व्यक्तिगत व्यापारी बाजारो (हाटकेषु) मे अपना व्यापारिक कारोबार चलाते थे। उसके अधिकार बहुत व्यापक एव विस्तृत थे। वह राजकीय क्षेत्र मे उत्पन्न पण्य के विक्रय की व्यवस्था करता था और व्यापारिक क्षेत्र से होने वाली आय के लिए सीधा राज्य के प्रति उत्तरदायी होता था।

पण्याध्यक्ष स्थल तथा जल मे पैदा होनेवाले पण्य पदार्थों, उनके गुण-दोषो, लाने ले जाने वाले मार्गों तथा साधनो, विभिन्न देशो तथा समयो—जहाँ और जब वे पण्य उत्पन्न होते थे, उनके मूल्यो के अन्तर तथा उनकी लोकप्रियता एव अप्रियता का पूरा विवरण रखता था। उसे यह पता भी रखना पडता था कि किस काल और देश मे पण्य का अधिक सग्रह करे तथा कब और कहाँ उसे तुरन्त निकाल दे।

व्यापार के क्षेत्र मे एकाधिकारी प्रवृत्ति सिर उठा चुकी थी। यद्यपि वह एकाधिकारी प्रवृत्ति आधुनिक पूंजीवाद की श्रेणी मे नही थी, फिर भी एकाधिकार प्रथा पूंजीवाद के जन्म तथा विकास के साथ अनिवार्य रूप से जुडी हुई

रहती है और वह कौटल्य कालीन भारत मे प्रत्यक्ष रूप से अनुभव की जा सकती थी। कौटल्य पण्याध्यक्ष को सलाह देते है कि जब पण्य की अधिकता के कारण बाजार मे उसका मूल्य गिर जाए तो आस-पास का सारा पण्य अपने अधिकार मे कर लिया जाए और बनावटी कमी पैदा करके मूल्य बढा देना चाहिए। ज्यो ही अर्घ्य (उत्पादन मूल्य) लौट आवे त्यो ही पुन दाम गिरा कर सस्ता बेच देना चाहिए। यहाँ अथशास्त्र के सिद्धान्त की सूक्ष्मता विचारणीय है कि अर्घ्य तथा मूल्य के अन्तर को अर्थशास्त्र ने ग्रहण कर लिया था। मूल्य का अथ बाजार भाव था और अर्घ्य का अथ पैदावार का लागत खर्च था।

(यच्च पण्य प्रचुर स्यात्तदेकीकृत्यार्घमारोपयेत्। प्राप्तेऽर्घे वार्घान्तरे कारयेत्। स्वभूमिजाना राजपण्यानामेकमुख व्यवहारे स्थापयेत्। परभूमिजानामनेक मुखम्। उभय न प्रजानामनुग्रहेण विक्रापयेत्। स्थूलमपि न लाभ जानामौपघातिक वारयेत्)

इसका अर्थ हुआ कि अपने और पराये राज्य म उत्पन्न माल के हानि-लाभ पर पूंजीवादी ढग से विचार किया जाने लगा था। इसीलिए, अपने राज्य मे उत्पन्न माल का मूल्य ऊँचा रखने के लिए एक मुस्त से (एक ही ठेकेदार या व्यापारी से) पण्य बेचने की व्यवस्था की जाती थी ताकि आपसी स्पर्द्धा मे उसका मूल्य नीचा न गिरे। राज्य केवल पण्य के व्यवहार मे ही दिलचस्पी नही रखता था बल्कि उसका उत्पादन सगठित करता था जो कि 'राजपण्यानाम्' शब्द से स्पष्ट है।

परन्तु राजकीय व्यापार एकाधिकारी नही था जिसने निजी व्यापार क्षेत्र का गला घोट दिया हो। आर्थिक लाभ पर सबसे अधिक बल देनेवाले कौटल्य ने राज्य को सलाह दी है कि पण्य चाहे देशी हो या विदेशी, चाहे राजकीय सस्थाओ मे बेचा जाता हो या निजी सस्थानो मे प्रजाजनो का हित सर्वोपरि रखा जाना चाहिए तथा अतिशय लाभ के लिए प्रजा का निर्मम शोषण करना वर्जित था। यह सलाह जोरदार शब्दो मे—'स्थूलमपि च लाभम्' के रूप मे कही गयी है।

जो माल जल्दी खराब हो जानेवाला होता था उसे जल्दी निकालने की कोशिश की जाती थी और बार-बार ठेका बदलने पर प्रतिबन्ध लगाया जाता था (संकुल दोषम्) को बुरा माना जाता था। यदि स्पर्द्धा अधिक हो और राज्यपण्य के बाजार मे रुके रहने की सभावना हो तो बहुत से वैदेहको (व्यापारियो) द्वारा राज्यपण्य बेचे जाते थे, परन्तु उन्हे एक ही मूल्य पर वह पण्य बेचना पडता था। **(बहुमुख वा राजपण्य वैदेहका कृतार्घं विक्रीणीरन्)**

ऐसी स्थिति मे राज्य अपने नियत करो के अलावा व्यापार कर भी लेता था। जो पण्य माप कर बेचे जाते थे उनके मूल्य का १६वाँ भाग, तौल कर बेचे जानेवाले पण्यो का बीसवाँ तथा गिन कर बेचे जानेवाले पण्यो पर ग्यारहवाँ भाग राज्यकर लिया जाता था। यह विक्रय कर कहलाता था।

परन्तु राजकीय पण्या के बारे मे थोडा सकुचित दृष्टिकोण रहते हुए भी आमरीति यही थी कि विदेशी माल को प्रोत्साहन दिया जाना और यह प्रयत्न किया जाता था कि विदेशी सौदागर बार-बार अपने देश मे आवे तथा देशी सौदागर विदेशो मे पहुँचे। इसीलिए, कौटल्य ने कहा है कि विदेशी माल को प्रोत्साहन देना चाहिए और नाव का किराया तथा कारवा (सार्थवाह) के सरक्षण का व्यय जहाँ तक सभव हो न लिया जाए। इसके अलावा, उन्हे आश्वासन दिया जाता था कि भविष्य मे भी उन्हे ऐसी ही सुविधाए प्राप्त होती रहेगी। **(परभूमिज पण्यमनुग्रहेणावाहयेत् । नाविक सार्थवाहेभ्यश्च परिहार मायतिक्षम दद्यात्)**

विदेशी व्यापारियो के कर्ज की अदायगी सख्ती के साथ वसूल नही की जाती थी। परन्तु विदेशी व्यापार मे सहयोग करनेवालो का ही यदि विदेशी व्यापारियो से विवाद होता था तो वह आसानी से और यथासभव शीघ्र सुलझाया जाता था।

(अनभियोगश्चार्थेष्वागन्तूनामन्यत्र सभ्योपकारिभ्य:)

विदेशी व्यापारियो को प्रोत्साहन दे कर कौटल्य भारत को पूरे ससार का व्यापारिक केन्द्र बनाने के स्पप्न देखते थे।

कौटल्य कालीन भारत मे राज्य राजकीय व्यापार मे कितनी दिलचस्पी रखता था यह इसी से प्रकट है कि उन्होने विस्तार के साथ उन बहीखातो और हिसाब रखने की विधि तक का वर्णन किया है जिनसे उच्च अधिकारी राजकीय एव निजी क्षेत्र के व्यापारियो की देखभाल, निरीक्षा एव सचालन करते थे। जहाँ विशेष रूप से राज्य द्वारा निर्मित पण्यो का क्रय-विक्रय होता था उन स्थानो की विशेष निरीक्षा की जाती थी।

माल का निर्यात करने के लिए भी विशेष आर्थिक करणो का तुलनात्मक विवेचन किया जाता था। केवल यह जान लेना पर्याप्त नही था कि निर्यातित पण्य का निर्यानित देश मे अपेक्षाकृत मूल्य क्या है, प्रत्युत इसकी विवेचना करना भी आवश्यक समझा जाता था कि वहाँ क्या शुल्क देना होगा, वर्त्तनी अर्थात् सार्थवाह (कारवाँ) के मार्ग मे सरक्षण का कितना व्यय अदा करना होगा, गुल्मदेय (जगलो से पार होते समय जगल रक्षक सेना) का भुगतान कितना करना होगा, तरदेय (नौका आदि का किराया तथा घाट का शुल्क) भक्त (मार्ग मे भोजन व्यय) और भाटक (किराया) क्या होगा आदि। यदि इन सभी खर्चो को निकाल कर आर्थिक लाभ होता था तो पण्य का निर्यात किया जाता था अन्यथा नही।

(परविषये तु पण्यप्रतिपण्ययोरर्घमूल्य चागम्य शुल्क वर्त्तन्यातिवाहिक गुल्म तरदेय भक्त भाटक व्ययशुद्धमुदय पश्येत् । असत्युदये भाण्ड निर्वहणेन पण्यपूर्तिं पण्यार्घेन वा लाभ पश्येत् । तत सारपादेन स्थलव्यवहारमध्वना क्षेमेण प्रयोजयेत्)

इस प्रकार, इन खर्चो को काट कर यदि निर्यात लाभदायक होता था तो किया जाता था और यदि पहले ही वहाँ कुछ माल जा चुकता था तो माल रोक कर अनुकूल समय की प्रतीक्षा की जाती थी कि जब पण्य के मूल्य उठ जाते थे तो बेच दिया जाए। यह आवश्यक नही था कि व्यापार जल मार्ग से ही किया जाए। परन्तु उसे सस्ता एव लाभदायक माना जाता था। सुरक्षित स्थल मार्ग भी अपनाये जाते थे।

व्यापार के सम्बन्ध मे विचार करते समय कौटल्य बार-बार सुरक्षा एव सरक्षण के साधनो की चर्चा करते है। प्रतीत होता है कि उस समय भारतीय व्यापार के प्रसार मे सबसे बडी बाधा दस्युको का बाहुल्य था जो स्थान-स्थान पर गिरोह बना कर जमे रहते थे और राज्य की ओर से समुचित सरक्षण मे शिथिलता आते ही उत्पात मचा देते थे। यही कारण था कि सार्थवाहा को अपने निजी सरक्षणो की भी व्यवस्था करनी पडती थी। वे केवल राजकीय सरक्षण का भरोसा नही करत थे। इससे व्यापार सूखता रहता था, जिसका उन्मूलन करने के लिए कौटल्य ने अफगानिस्तान से बर्मा और लका तक चक्र-वर्त्ती राज्य की स्थापना के स्वप्न देखे थे, जिससे स्थान-स्थान पर सरक्षण एव शुल्कदान से मुक्ति मिलती थी। दस्युको तथा चोरो का कितना आतक था यह इस बात से भी प्रकट होता है कि कौटल्य ने अपने अथशास्त्र मे वैदेहको को सलाह दी है कि वे सीमा रक्षको, अरण्यपाल, अटवीपाल एव दूसरी सुरक्षा-सस्थाओ के उच्च अधिकारियो के साथ सदा गठबन्धन एव मित्रता कायम रखे। उन्हे यह भी सलाह दी गयी है कि जिस देश मे वे व्यापार कर रहे हो वहाँ के राज्य के सभी देयाश पूरे तौर पर तथा समय पर देते रहे ताकि आकस्मिक राजकोप का सामना न करना पडे।

(**अटव्यन्तपाल मुख्यैश्च प्रति ससर्ग गच्छेदनुग्रहार्थम्**)

व्यापारियो को और अधिक सावधान करते हुए कौटल्य कहते है कि समुद्रीय व्यापार मार्ग से व्यापारिक यात्रा करते समय यानभाटक (जहाज का किराया) पथ्यदन (मार्ग भोजन) पण्य प्रतिपण्यार्घ (निर्यातित एव आयातित पण्य की मूल्य विवेचना) यात्राकाल, भयप्रतीकार (समुद्रीय दस्युको का प्रतीकार) पण्यपत्तन (किस बन्दरगाह पर कितने समय रुकना है आदि) और वहाँ के आचार-विचार आदि का ज्ञान रखना चाहिए।

(वारिपथे च यानभाटक पथ्यदन, पण्यप्रतिपण्यार्घ प्रमाण यात्राकाल भयप्रतीकार पण्यपत्तन चारित्राण्युपलभेत)

समुद्रीय मार्ग की अपेक्षा महानदियो का मार्ग व्यापार के लिए अधिक लाभदायक माना जाता था। इसमे देश-देशान्तरो के आचार-विचार का विशेष

ध्यान रखा जाता था। व्यापार का मुख्य उद्देश्य लाभ प्राप्त करना एव घाटे से दूर रहना था।

(यतो लाभस्ततो गच्छेदलाभ परिवर्जयेत्) (अधि० २, अध्याय १७)

वित्त कार्यालय के कार्य-कलाप

राजकीय धन के आय-व्यय का लेखा जिम कार्यालय मे होता था उसे अक्ष-पटल या वित्तकार्यालय कहते थे और महालेखाधिकारी अक्षपटलाध्यक्ष कहलाता था जिसके अधीन बहुत से सख्यापक एव गाणनिक कर्मचारी कार्य करते थे।

अक्षपटल यद्यपि राजकोश या खजाना नही था और उसमे केवल आय-व्यय का व्यौरा रखा जाता था, परन्तु फिर भी उम कार्यालय का अतिशय महत्व समझा जाता था और उसके भवन का निर्माण विशेष योजना एव लागत मे कराया जाता था। उसमे अनेक उप विभाग होते थे जिनके भिन्न-भिन्न उपाध्यक्ष एव गाणनिक कर्मचारी रखे जाते थे। वित्त कार्यालय मे वास्तव मे केवल बही-खाता नही प्रत्युत पूरा राजकीय अर्थ-विवरण उदाहरण स्वरूप रखा जाता था।

द्रव्यो के उत्पत्ति स्थान, जनपद विशेष मे उत्पन्न होनेवाला पण्य विशेष, खान, अक्ष (विभिन्न वित्त विभागो मे नियुक्त कर्मचारी) वित्तीय व्यवस्था पर व्यय, प्रयाम (जो पण्य बाजार के लिए बिलकुल तैयार हो) व्याजी (कर विशेष) योग (अच्छे और बुरे माल की मिलावट) विष्टि (बेगार कहाँ कितनी मिल मकती है) रत्नसार, फल्गु और कुप्प पदार्थो के मूल्य, प्रत्येक वस्तु का गुण-तोल-लम्बाई-ऊँचाई और चौडाई, देश-काल-ग्राम जाति-कुल तथा सभा के धर्म व्यवहार तथा विशेष परिस्थितियाँ आदि।

(तत सर्वाधिकरणाना करणीय सिद्ध शेषमायव्ययो नीवोमुपस्थान प्रचार-चरित्र सस्थान च निबन्धेन प्रयच्छेत्। उत्तममध्यमावरेषु च कर्मसु तज्जातिक-मध्यक्ष कुर्यात्)

अर्थात् ऊपर लिखी व्यवस्था के बाद सब अधिकरणो के करणीय, सिद्ध, शेष, आय, व्यय, नीवी, उपस्थान, प्रचार, चरित्र तथा सस्थान आदि लेखा-

विभाग लिख कर तैयार करता था। सामुदायिक रूप से जो कार्य किये जाते थे उनका उत्तरदायित्व उस व्यक्ति पर छोडा जाता था जो समुदाय मे योग्यतम हो। परन्तु ब्राह्मण ऐसे कार्यों का अधिकारी कभी नही बनाया जाता था। इस-लिए कि राजकीय आय का अपहरण ये अधिकारी अनिवार्य रूप से करते थे और ब्राह्मण को कठोर दण्ड देना धर्म विरुद्ध समझा जाता था। यदि अपहृत धन को ये अधिकारी वापिस नही कर पाते थे तो उनके सहग्राही (साथ काम करने वाले) जामिन (प्रतिभू) कर्मोपजीवी (मातहती मे काम करनेवाले) बेटे, भाई और पत्नी आदि उसे भरते थे।

सभी गणनाधिकारी जो राज्य के छोट कार्यालयो मे काम करते थे आषाढ महीने मे वर्ष भर का कार्य दिखाने के लिए अक्षपटल मे आते थे। उन्हे तब तक एक दूसरे से मिलने एव मत्रणा करने का अवसर नही दिया जाता था जब तक उनकी पुस्तके (रजिस्टर) और बचा हुआ धन हस्तगत नही कर लिया जाता था। यदि समय पर अध्यक्ष पुस्तक के साथ मुख्य कार्यालय मे उपस्थित नही होता था तो अपने दिये धन का दसगुना आर्थिक दण्ड भरता था। यदि कार्मिक (वित्त विभाग का मुख्य लेखाधिकारी) कार्यालय मे उपस्थित हो जाता था एव किसी अध्यक्ष को लेखा दिखाने के लिए आमत्रित किये जाने पर वह हिसाब नही दिखाता था तो उसे प्रथम साहस दण्ड दिया जाता था और यदि कार्मिक अपने आदेश के अनुसार अध्यक्ष के उपस्थित होने पर लेखा निरीक्षा नही करता था तो उसे दुगना प्रथम साहस दण्ड दिया जाता था। पुस्तक मे लेखा का रेखाकन इस प्रकार से होता था कि प्रत्येक व्यक्ति लेखा से सम्बन्धित स्थान, आगत का विवरण और सब तथ्य भली-भाँति जान सकता था।

पुस्तक मे सही तथ्य लिखना ही पर्याप्त नही था बल्कि क्रम के साथ लिखना भी अनिवार्य था। क्रम विरुद्ध लिखना अपराध समझा जाता था।

अध्यक्ष का पहला एव थोडा अपराध सहन कर लिया जाता था। यदि वह पहले वर्षों की तुलना मे राजकीय आय बढाता था तो सन्तुष्ट किया जाता था।

राजकीय आय के स्रोत

राजकीय करो का समय पर तथा उचित मात्रा मे इकट्ठा करने और उनके नियमित रखने पर राज्यशासन बहुत बल देता था। राज्य की ओर से जो सर्वोच्च अधिकारी कर सग्रह एव कर नियमन का कार्य करता था उसे समाहर्त्ता कहते थे। उसके अधिकार कलक्टर तथा मैजिस्ट्रेट (न्यायालय) दोनो के थे। परन्तु उसका अधिकार क्षेत्र अधिक विस्तृत होने से तथा एक पूरे राज्य मे एक ही समाहर्त्ता होने के कारण अधिक व्यापक थे।

समाहर्त्ता निम्नलिखित करो का सग्रह और उनकी व्यवस्था करता था जो कि राज्य के मुख्य आयस्रोत थे—

दुर्ग, राष्ट्र, खानि, सेतु, बन, व्रज तथा व्यापारी मार्ग।

निम्नलिखित कर दुर्ग के नाम से पुकारे जाते थे—

शुल्क (चुगी) दण्ड (आर्थिक जुरमाना) पौतव (बटखरे तथा गज आदि की अनियमितता का दण्ड एव कर) नगर व्यवस्थापक, लक्षणाध्यक्ष (भूमि नापने और उसका विवरण रखनेवाला राजस्व अधिकारी) मुद्राध्यक्ष (टकसाल से) सुरा (मदिरा के ठेके से) सूना (वधशाला से) सूत्र (सूत बटनेवालो से) तेल, घी और क्षार बेचनेवालो से, सौवर्णिक (सराफा से) पण्य सस्था (थोक माल के व्यापारियो से) वेश्या, जुवा, शिल्पी, बढई, लुहार तथा पुजारी आदि से जो कर सग्रह किया जाता था वह दुर्ग श्रेणी मे आता था। यह दुर्ग इसलिए है कि इसका सग्रह करने मे अधिकारियो को कठिनाई होती थी।

नीचे लिखे कर राष्ट्र के नाम से पुकारे जाते थे—

सीता (कृषि कर) भाग (पैदावार का हिस्सा) बलि (उपहार) कर, वणिक् और घाट कर, नौका, चरागाह, वर्त्तनी (सडक कर) रज्जू (भूमि मापने का कर) और चोर रज्जु (चोर पकडने का धन)

खनिकर निम्नलिखित होता था —

सुवर्ण, चाँदी, हीरा, मरकत, आदि मणि, मोती, मूँगा, शख, लोहा, लवण, भूमि, पत्थर तथा रस धातु आदि। यह भी राजकीय आय का मुख्य स्रोत था।

सेतु निम्नलिखित था—

फल फूल के बाग, केला, सुपारी आदि के खेत, अदरख और हल्दी आदि सेतु होते हैं जो नमी की भूमि मे पैदा होते हैं तथा पशु, मृग, द्रव्य हस्ति एव लकडी आदि वन कहलाते थे। इसी प्रकार, गौ, भैंस, बकरी भेड, गधा, ऊँट, घोडा, खच्चर (अश्वतर) आदि व्रज एव स्थल पथ तथा वारिपथ आदि राजकीय आय के मुख्य स्रोत समझे जाते थे।

इनमे भी राजकीय आय के निम्नलिखित साधन प्रमुख कहे गये है—

मूल—पण्य बेच कर प्राप्त किया धन।

भाग—अन्न की पैदावार का छठा भाग।

व्याजी—बिक्री कर आदि से मिला धन।

क्लृप्त—फसलाना या नियत कर।

रूपिक—नमक कर।

अत्यय—न्यायाधिकरण द्वारा किये गये जुरमाने का धन।

इसी प्रकार, राजकीय व्यय के मुख्य द्वार निम्नलिखित थे—

देवपूजा, पितृ पूजा, दान, स्वस्तिवाचन, अन्त पुर, महानस (सार्वजनिक भोजनालय) राजदूत प्रेषण, कोष्ठागार, आयुधागार, पण्यगृह, कथागृह, कर्मान्त (कारखाने) विष्टि (बेगार) पैदल सेना, अश्वसेना, रथसेना, हस्तिसेना, गौ, भैंस, बकरी आदि, जगली पशु, लकडी और इसी प्रकार के दूसरे कारोबार एव व्यवस्थाए।

हिसाब रखते समय समाहर्त्ता को निम्नलिखित पाँच बातो पर विशेष ध्यान देना पडता था—करणीय, सिद्ध, शेष, आय, व्यय और नीवी।

करणीय छ प्रकार का होता था—

सस्थान—स्थान विशेष से मिले धन की राशि।

प्रचार—आय के स्थान का विवरण।

शरीरावस्थापन—कितनी आय जनपदो से और कितनी नगरो से।

आदान—कितना मिल चुका है।

सवसमुदयपिण्ड—इकट्ठा किया गया धन जहाँ जमा किया गया हो।

सजात—जिस उपाय से जो साधन इकट्ठा किया गया हो।

सिद्ध भी छ प्रकार का होता था—

कोशार्पित—जो खजाने मे जमा किया जा चुका हो।

राजहार—जिसे राजा अपने लिए मँगवा लेता था।

पुरव्यय—जो नगर की व्यवस्था पर खर्च कर दिया गया हो।

परमसम्वत्सरानुवृत्त—पछले साल की बकाया वसूलयाबी जो अभी तक न जमा की गयी हो और जो धन राजा या नगर के खच मे न आया हो।

शासनमुक्त—जिसके सम्बन्ध मे राज्य का आदेश न मिला हो।

मुखाज्ञप्त—जिसके सम्बन्ध मे राजा का केवल मौखिक आदेश मिला हो।

इनमे पहले तीन प्रविष्ट एव बाद के तीन आयतनीय कहलाते थे।

शेष भी छ प्रकार का होता था—

सिद्धिप्रक्रम योग—करदाताओ के तैयार रहने पर भी कर का सग्रह न करना

दण्डशेष—सेना के उपयोग से बचा धन। (ये दोनो सुखपूर्वक सग्रह योग्य होने के कारण आहरणीय कहलाते थे।)

बलात्कृत प्रतिस्तब्ध—राजा के मुँह लगे व्यक्तियो द्वारा समाहर्त्ता को न दिया गया और बलपूर्वक रोका हुआ धन।

अवसृष्ट—बार-बार टालमटोल करके प्रभावशाली व्यक्तियो द्वारा रोका गया धन।

असार—जिसका सग्रह करने मे आय के समान व्यय हो गया हो।

अल्पसार—जिसका सग्रह करने मे हुए खर्च के मुकाबिले बहुत कम बचत होती हो।

आय—तीन प्रकार की होती थी—वर्त्तमान, पर्युषित और अन्यजात। दैनिक आय को वर्त्तमान कहते थे। पर्युषित धन वह था जो पिछले साल के खर्च से बच गया हो, या पिछले वर्ष का बकाया वसूल हो गया हो, अथवा पहले अध्यक्ष के सम्मुख घोटाले मे फँसा धन जो साफ हो गया हो तथा मिल गया हो अथवा शत्रु के हाथ से निकला धन।

आय-व्यय के स्रोतो एव करो के सम्बन्ध मे विस्तृत विवेचना करने का उद्देश्य केवल यही है कि सरकार का वित्त विभाग, उसके करो की व्यवस्था एव वसूल-याबी के प्रकार उन्नत थे एव उनकी विस्तृत रूपरेखा सामने आ चुकी थी।

फुटकर व्यापार और दुकानदारी

कौटल्यकालीन भारत मे व्यापार तथा वाणिज्य तीन प्रकार से चलता था—राजकीय वाणिज्य, थोकव्यापार एव फुटकर दुकानदारी। फुटकर वाणिज्य करने वाले दुकानदार या तो एक ही स्थान या सस्था मे बैठ कर व्यापार करते थे और या घूम घूम कर एव फेरी देकर। परन्तु वे राजकीय क्षेत्र या थोक व्यापारियो से पण्य ले कर वाणिज्य करते थे। थोक व्यापारी या तो राजकीय क्षेत्र का पण्य ठेके के रूप मे लेते थे और या फिर देश-देशान्तरो मे माल इकट्ठा करते थे जिसका उल्लेख किया जा चुका है। परन्तु फुटकर व्यापारी सबसे बडा शोषण करते थे। इसीलिए छूट (कमीशन) की दरे तय होती थी और उनका उल्लघन करने पर कडी सजा मिलती थी।

फुटकर व्यापारी देश-काल के अनुसार अपने माल के दाम वसूल करके थोक व्यापारियो के माल का मूल्य और सूद दोनो अदा करते थे, जब कि वह माल उन्हे बिना अग्रिम मूल्य दिये मिल जाता था। परन्तु पण्य का मूल्य गिर जाने पर उसका मूल्य और सूद दोनो उसी अनुपात से कम हो जाते थे। ऐसा केवल इसी-लिए किया जाता था जिससे फुटकर व्यापारियो का योगक्षेम चलता रहे। परन्तु यदि यह तय हो जाता था कि माल के दाम गिरने और बढने पर उसी अनुपात से मूल्य गिरा कर या बढा कर व्यापारी थोक व्यापारी का भुगतान कर रहे है तो सूद देना अनिवार्य नही समझा जाता था। इसका अर्थ हुआ कि फुटकर व्यापारी जब किसी थोकदार या राजकीय क्षेत्र मे पण्य लेते थे तो वे केवल पण्य के मूल्य का भुगतान करने के ही उत्तरदायी नही होते थे बल्कि उतनी अग्रिम राशि के धन का सूद अलग से देते थे जितने मूल्य का वह पण्य होता था।

इस प्रकार, यह देखा जा सकता है कि थोक व्यापारियो से माल के रूप मे धन लेने पर भी सूद लेने की प्रथा चालू हो गयी थी और इस तरह, आधुनिक पँजीवाद का दृढ बीजारोपण किया जा रहा था।

आमतौर पर कुल मिला कर छोटे और फुटकर व्यापारियो के लिए राज्य मे सहानुभूतिपूर्ण नियम प्रचलित थे। कारणवश माल के दाम एकदम गिर जाने पर थोक व्यापारी उसे भुगतान के लिए बाध्य नही कर सकता था। परन्तु इस सुविधा का अनुचित लाभ उठाने नही दिया जाता था। छोटे व्यापारियो को यह सुविधा भी थी कि वे पण्य का छीजन निकाल कर मूल्य अदा कर दे।

राजकीय भण्डारो की व्यवस्था

राजकीय अर्थ व्यवस्था मे स्थायित्व लाने के लिए राज्य की देखरेख मे आवश्यक वस्तुओ का सग्रह करने की प्रथा चल पडी थी। परन्तु ये उपयोगी साधन सामग्रियाँ राजकीय भण्डारो के बिना कैसे सुरक्षित रहती और कहाँ रखी जाती ? इसीलिए बडे-बडे राजकीय भाण्डार बनाये जाते थे जहाँ ये सामग्रियाँ सुरक्षित रखी जाती थी। विभिन्न वस्तुओ के गुण-दोष आकार-प्रकार एव स्वभाव के अनुसार विभिन्न प्रकार के भाण्डागार बनाये जाते थे। सन्निधाता नामक अध्यक्ष की देखरेख मे कम से कम छ प्रकार के भाण्डागार बनवाये जाते थे और वही उनकी देखभाल किया करता था। वे थे कोशगृह, पण्यगृह, कोष्ठागार, कुप्यगृह, आयुधागार और बन्धनागार।

कोशगृह चारो ओर से सुरक्षित एव भीड भडक्के के सन्निकट पक्की ईंटो तथा पत्थरो से बनवाया जाता था, जिसे तोडना कठिन था और जहाँ दीमक तथा नमी का प्रभाव नही होता था। उसमे ध्रुवनिधि (स्थायी कोष) जो, घोर सकट के समय मे ही काम मे लाया जा सकता था, साधारण कर्मकरो से नही बल्कि ऐसे योग्य कारीगरो से बनवाया जाता था, जिन्हे राज्य की ओर से मृत्युदण्ड मिल चुका हो तथा निर्माण के पश्चात् जिन्हे मरवा दिया जाता था। ऐसा करने से ध्रुवनिधि के रहस्यो का ज्ञान किसी बाहरी व्यक्ति को नही हो पाता था।

पण्यगृह के चारो ओर खुले मकान तथा बरामदे होते थे, उसमे अनेक कोठरियाँ तथा मजिले होती थी, चारो ओर खम्भो पर टिके चबूतरो से वह घिरा होता था और ऐसा हर समव प्रयत्न किया जाता था जिससे कि चारो ओर की वायु प्रवेश कर सके तथा किसी प्रकार भी नमी का प्रभाव न हो।

ऐसा ही कोष्ठागार होता था। कुप्यगृह भीतर की ओर बनाया जाता था जिसमे लम्बी लम्बी शालाएँ तथा कोठरियाँ होती थी। तहखाने से युक्त कुप्यगृह ही आयुधागार हो जाता था जिसमे शस्त्र रखे जाते थे। बन्धनागार मे धर्मस्थ (सामाजिक अपराध निर्णेता न्यायालय) और महामात्र (राजकीय अध्यक्षो की ओर से) दण्ड पाये अधिकारियो के लिए पृथक्-पृथक् स्थान रखे जाते थे। इनमे पुरुष एव स्त्री अपराधियो को पृथक्-पृथक् रखा जाता था एव प्रवेशद्वार पर विशेष नियत्रण रखा जाता था।

इन छहो प्रमुख स्थानो की अग्नि, जल, प्राकृतिक प्रकोप तथा हानिप्रद कीट आदि क्षुद्र जन्तुओ से रक्षा का वैसा ही प्रबन्ध किया जाता था जैसा कि रक्षा के अन्त पुर निवास स्थान का किया जाता था।

प्रत्येक कोष्ठागार मे वष्टिमापक यन्त्र रखा रहता था।

राजकीय भाण्डागारो मे यो ही कूडा-करकट इकट्ठा नही किया जाता था बल्कि प्रत्येक पण्य के विशेषज्ञ व्यक्तियो द्वारा प्रमाणित पण्यो का सगृह होता था।

जो भी व्यक्ति या अधिकारी इन भाण्डागारो से असली रत्न आदि पण्य हटा कर नकली रख देता था, अथवा असली के दाम दे कर नकली खरीदवा कर जमा कर देता था, उत्तम पण्य के मूल्य मे अधम पण्य का क्रय करता था उसे कडे से कडा दण्ड दिया जाता था। यही नियम निकृष्ट शस्त्र आदि के सम्बन्ध मे था।

जो कोशाधिकारी स्वय या दूसरो से मिल कर तथा सुरग आदि खुदवा कर कोश का अपहरण करते थे, उन्हे मृत्युदण्ड से कम दण्ड नही दिया जाता था। परन्तु उनके आधीनस्थ कर्मचारियो का यदि इसमे हाथ नही होता था तो वे आतक का विषय नही बनते थे। यदि पेशेवर चोर राजकोश आदि भाण्डागारो मे ऐसी हानि पहुँचाते थे तो तडफा-तडफा कर मारे जाते थे।

शुल्क (चुगी) की व्यवस्था और विभिन्न मात्रा

राज्य ने शुल्क (चुगी) के रूप मे अपनी आय का एक विश्वसनीय स्रोत निकाल लिया था। कौटल्य ने जिस विस्तार तथा दृढता के साथ इसका प्रतिपादन किया है उससे प्रतीत होता है कि उनके बाद के राजतत्रो ने इस स्रोत

का और भी जम कर शोषण किया था और शुल्काध्यक्ष, जिसकी देखरेख मे राज्य को शुल्क मिलता था, राज्य का वैसा ही प्रभावशाली अधिकारी माना जाता था जैसा समाहर्त्ता ।

नगरो के सबसे प्रमुख प्रवेश द्वार पर पूर्व या उत्तर दिशा मे शुल्कशाला बनवायी जाती थी और उस पर एक ऊँची पताका लगायी जाती थी ताकि शुल्क देने वाले दूर से देख ले। वहाँ शुल्क लेने वाले पाँच बनिये बैठे रहते थे जो पुस्तक मे लिखते थे कि पण्य किसका है, कितना है, कहाँ से आया है, कहाँ जाएगा तथा उस पर पिछले सरकारी स्थान की मोहर भी लगी है या नही ? आदि। जो पिछले स्थान पर मोहर नही लगवाते थे उन्हे दुगना शुल्क देना पडता था और जाली मोहर लगा लेते थे तो आठ गुना दण्ड भरते थे। (कूटमुद्राणा शुल्काष्टगुणो दण्ड)जो लोग लगी मोहर तोड देते थे उन्हे चुगी के खुले स्थान पर चार घडी तक खडा करके लज्जित किया जाता था। जब वे मोहर बदल देते थे या पण्य का नाम परिवर्तन कर देते थे तो सवापण आर्थिक दण्ड भुगतते थे।

चुगीघर के पास ही व्यापारियो के माल की बोली लगा करती थी। इस प्रकार, चुगीघर स्वय मे एक व्यापार केन्द्र भी था। यदि बोली मे अधिक दाम लग जाते थे तो फालतू पैसा राजकोष मे चला जाता था। आज की भाँति ही व्यापारी उस समय की चुगी से सबसे अधिक घृणा करते थे एव उससे बचने का हर समय प्रयास करते थे। परन्तु ऐसा करने पर उनका फालतू माल और पैसा जप्त कर लिया जाता था और या उन्हे 'शुल्क का आठगुना दण्ड भरना पडता था। यही दण्ड उन व्यापारियो को देना पडता था जो माल के बर्तन या बोरी आदि के मुंह पर घटिया माल रख कर नीचे बहुमूल्य माल छिपा लेते थे। अपने प्रतिस्पर्द्धी व्यापारियो को नीचा दिखाने के लिए जब कोई व्यापारी पण्य का दाम बढा कर बोली बोलता था तब बोली के फालतू दाम राज्य वसूल कर लेता था या उससे चुगी वसूल की जाती थी। चुगी दुगनी देनी पडती थी। यदि चुगी अधिकारी ऐसा अपराध करता था तो वह आठगुना दण्ड भरता था। इसीलिए, चुगी लेने से पहले पण्यो के तोलने, नापने और मापने तथा गिनने की परिपाटी चालू थी। केवल व्यापारी द्वारा दी गयी सूचना पर्याप्त नही

समझी जाती थी। हाँ, कम मूल्य के पण्यो का शुल्क अनुमान से भी लिया जा सकता था। जो व्यापारी चुगी कर से बच कर निकलने की कोशिश करते थे उनसे आठगुना शुल्क लिया जाता था।

चुगी के मामले मे यद्यपि राज्यतत्र अत्यधिक कठोर था और निर्दयता से शुल्क का सग्रह करता था परन्तु फिर भी निम्नलिखित अवसरो तथा पण्यो पर शुल्क नही लिया जाता था—विवाह सम्बन्धी सामग्री, गौना, यज्ञोपवीत, यज्ञकार्य, प्रसव काय, देव पूजा और इसी प्रकार के अन्य धार्मिक कार्यकलाप। परन्तु यदि कोई व्यक्ति इनका झूठा नाम ले कर शुल्क से बचने का प्रयत्न करता था तो उसे चोरी का दण्ड भुगतना पडता था।

जो लोग चुगी दिये हुए माल के साथ बिना चुगी दिया माल ले जाते थे तथा एक माल के लिए लगायी गयी मोहर की ओट मे बिना मोहर लगा माल ले जाते थे उन पर चुगी जितना ही दण्ड फालतू लिया जाता था और बिना चुगी का माल जब्त कर लिया जाता था।

जिन वस्तुओ के राज्य से बाहर ले जाने या लाने पर प्रतिबन्ध हो और जिनके सम्बन्ध मे स्पष्ट आदेश हो चुके हो, फिर भी यदि कोई इन आदेशो का उल्लघन करता था तो कठोर दण्ड का भागी समझा जाता था। इस प्रकार राज्य न केवल व्यापार करने की अनुमति ही देता था बल्कि वह व्यापार विशेष पर प्रतिबन्ध भी लगा सकता था।

इसके अलावा राज्य से सम्बन्धित दूसरे मालो पर भी राज्य अपना अश लेता था। जैसे माल ढोने वाले लोग प्रत्येक गाडी पर सवापण वर्त्तनी (मार्ग-रक्षा व्यय) कर देते थे। बैल आदि पर आधा और बकरी आदि क्षुद्र पशुओ से सामान ढोने वाले चौथाईपण वर्त्तनी का भुगतान करते थे। इसके बदले मे राज्य अपना यह कर्त्तव्य समझता था कि मार्ग मे दस्यु आदि के प्रकोप का निराकरण करे।

विदेशो मे आने वाले व्यापारियो के बहुमूल्य सामान पर मोहर लगा कर और एक सूची बना कर अन्तपाल चुगी अधिकारियो के पास भेजता था। इन

व्यापारियो के कारवा (सार्थवाहो) मे राजा के गुप्तचर रहते थे जो व्यापारियों की सम्पूर्ण आर्थिक स्थिति का बोध रखते थे।

परन्तु आदर्श राजा आय मे दिलचस्पी रखते हुए भी ऐसे पण्यों के आयात की स्वीकृति नही देते थे जिनसे प्रजा को हानि हो, वे व्यसनो में फँस कर नष्ट होते हो तथा उनके नैतिक मनोबल का पतन होता हो। ऐसे पण्य के आयात पर विशेष बल दिया जाता था, जिनसे राज्य की समृद्धि बढती हो। खाद्यपदार्थों के उन्नत बीजो का आयात करने को राज्य सदा प्रोत्साहन देता था। ऐसे सामानो पर शुल्क भी नही लिया जाता था।

राष्ट्रपीडाकर भाण्ड मुच्छिन्द्यादफल च यत्।
महोपकारमुच्छुल्क कुर्याद् बीज तु दुर्लभम्॥ (अधि० २, अध्याय २१)

सूत कातने तथा बुनाने का राजकीय उद्योग

राज्य के उपयोग एव व्यापार दोनो के लिए राजकीय क्षेत्र मे वस्त्र उद्योग चलाया जाता था और इसके लिए पृथक् राजकीय विभाग था जिसका मुख्य अधिकारी सूत्राध्यक्ष था।

सूत कातने का काम आमतौर पर स्त्रियाँ करती थी और वे राजकीय कर्मान्तो (उद्योगशालाओ) के अलावा अपने घरो पर भी यह कार्य करती थी। विधवा, अगविकल स्त्रियाँ जिनका विवाह होना कठिन हो, कन्या (अविवाहिता स्त्रियाँ), अपराधिनी (जिन्हे कारावास का दण्ड मिल चुका हो) बूढ़ी, राजदासी, वेश्याओ की वृद्धा माताए, बूढी वेश्याएँ और देवदासियाँ, जो देवालयो के लिए अनुपयोगी हो गयी हो, सूत कातने का काम उद्योगशाला मे या घरो पर करती थी।

(विधवान्यगका, कन्या, प्रव्रजिता दण्डप्रतीकारिणी रूपाजीवामातृकाभि-र्वृद्धराजदासीभिर्व्युपरतोपस्थानदेवदासीभिश्च कारयेत्)

कौटल्य कालीन भारत मे वेश्याओ के बिना कोई सभ्य सभा अलकृत नही होती थी और किसी मन्दिर या देवालय का काम देवदासी (जो कि वेश्या ही थी) के बिना अधूरा बना रहता था।

सूत की बारीकी, मोटापन, चिकनापन तथा परिमाण देख कर इनका वेतन तय किया जाता था और विशेष कार्य करनेवाली स्त्रियो को प्रोत्साहन देने के

लिए तैल, उबटन, आदि दे कर अनुगृहीत किया जाता था। यह काम दैनिक वेतन के आधार पर तय होता था। कम काम करने पर वेतन से कटौती की जाती थी।

इसके अलावा, वेतन तय करके पुरुषो से भी यह कार्य करवाया जाता था।

कते हुए इस सूत से राजकीय कर्मान्तो मे वस्त्र तथा कवच आदि का निर्माण कराया जाता था।

जो स्त्रियाँ घर से बाहर न निकलनेवाली होती थी, जिनके पति परदेश गये होते थे, अगविकल एव अविवाहिता होती थी एव परदे मे रह कर अपनी आजीविका चलाती थी, उनके पास दासियो द्वारा रुई कपास आदि भेज कर घर पर ही सूत कतवाया जाता था। जो स्वय सूत्रशाला मे आकर काम लेती थी उन्हे अन्धेरे मे ही प्रात काल काम दे दिया जाता था और दीपक के लिए उतना ही तेल दिया जाता था जितने से धागा भर दीख सके। जो कर्मचारी इनका मुख देखता था एव अनावश्यक बात करता था उसे पूर्वसाहस दण्ड दिया जाता था। समय पर वेतन न देने और काम न करने पर भी वेतन दे देने पर यही दण्ड दिया जाता था।

जो स्त्री वेतन ले कर काम नही करती थी उसका अगूठा कटवा लिया जाता था और जो सरकारी माल खा जाती या अपहरण कर लेती थी या छिप कर भाग जाती थी उसका भी। कर्मचारियो को भी अपराध के अनुसार दण्ड दिया जाता था।

शिल्पियो की कमी थी। इसीलिए उनके प्रति थोडा नरमी का व्यवहार रखा जाता था।

खान, सिक्के और नमक कानून

यदि किसी खान के खोदने मे अधिक व्यय होता था और राज्य के अलावा दूसरे व्यक्तियो का धन भी उसमे लगाया जाता था तो ऐसी बहुव्यय साध्य खान का खर्चा इस तरह चुकाया जाता था कि जो सोना, चाँदी आदि पैदा होता था उसे बेच कर पहले व्यक्तिगत आदमियो का भुगतान कर दिया जाता था अथवा राजा ही उसका एक अश खरीद कर राजकोश मे से धन दे देता

था ताकि उनका पैसा लौटा दिया जाए। इस प्रकार बहुत खर्चीली खानो का खोदा जाना राज्य पूंजी एव निजी पूंजी के गठबन्धन से होता था और कम खर्चीली खानो का खोदने आदि का प्रबन्ध स्वय राज्य अपने ही खर्चे से कर लेता था।

(व्ययक्रिया भारिकमाकर भागेन प्रक्रयेण वा दद्यात् । लाघविकमात्मना कारयेत्)

लक्षणाध्यक्ष (सिक्को के निर्माण तथा परीक्षा का अधिकारी) अपनी देख-रेख मे राजकीय सिक्को का निर्माण करवाता था।

चाँदी का सिक्का चार प्रकार का होता था—पण, अर्द्धपण, पादपण तथा अष्टभाग पण। पण मे १६ मासा भार होता था जिसमे ११ मासा चाँदी ४ मासा ताँबा और शेष एक मासा लोहा, रॉगा, शीशा और भजन मे से एक होता था। इसी मात्रा मे अर्द्धपण, पादपण और अष्टभाग पण बनाया जाता था।

पण के चौथे हिस्से का व्यवहार करने के लिए ताँबे का अलग से भी एक सिक्का बनाया जाता था। इसमे ११ मासा ताँबा, ४ मासा चाँदी और एक मासा लोहा, रागा, शीशा एव अजन मे से कोई एक होता था। इसी सिक्के का नाम माषक होता था और इसका भार भी १६ मासा होता था। यह भी चार प्रकार का होता था—माषक, अर्द्धमाषक, पादमाषक और अष्टभाग माषक। पादमाषक एव अष्टभाग माषक के लिए काकणी एव अर्द्धकाकणी सिक्के बनाये जाते थे।

रूपदर्शक (सिक्को का परीक्षक) अधिकारी इस बात का निर्णय करता था कि कौन से सिक्के चलने लायक है और कौन से कोश मे जमा कर देने चाहिए।

सौ पण पर आठ पण राज्य का लाभाश समझा जाता था जिसे रूपिक कहते थे। सौ पण पर पाँच पण का लाभाश व्याजी और सौ पण के आठवे भाग को पारीक्षिक कहते थे। यदि कोई व्यक्ति जाली सिक्के बनाता था या उन्हे दूसरो के व्यवहार मे लाता था तो प्रत्येक पण पर २५ पण अत्यय (हरजाना) भरना पडता था। परन्तु सिक्के बनाने, बेचने, खरीदने और परीक्षा करने का

अधिकार जिन्हें राज्य की ओर से मिला हुआ था उन पर यह हरजाना लागू नही होता था ।

लवणा यक्ष राज्य मे तैयार किये गये एव खान मे निकाले गए नमक का समय पर सग्रह करता था। नमक के व्यापारियो से नमक मूल्य के अलावा, रूप तथा व्याजी करो का सग्रह करता था जो कि क्रमश ८ प्रतिशत एव ५ प्रतिशत होता था। दूसरे देश के नमक बेचनेवाले व्यापारी नमक के कुल मूल्य का छठा भाग राज्य कर मे देते थे। परन्तु इस राज्याश से भिन्न ८ प्रतिशत रूप, ५ प्रतिशत व्याजी के रूप मे उन्हे कर भी देना पडता था।

उस माल को खरीदनेवाला व्यापारी नियमानुसार बिक्री कर (विक्रय-शुल्क) देता था और छीजन के अनुसार वैधरण (बाजारशुल्क) भी देता था। परन्तु राजकीय बाजार के अलावा दूसरे स्थानो से पण्य खरीदने पर व्यापारी का छ प्रतिशत हरजाना भी भरना पडता था ।

नमक के सम्बन्ध मे कडे राजदण्ड प्रचलित थे। घटिया अथवा मिलावटी नमक बेचनेवाले को उत्तम साहस दण्ड दिया जाता था। यही दण्ड उसे दिया जाता था जो राज्य से आज्ञापत्र लिये बिना नमक का व्यापार करता था या बनाता था। केवल वानप्रस्थो पर यह दड नही था। वेदपाठी, तपस्वी और विष्टि (बेगारी) केवल अपने उपयोग के लिए नि शुल्क लवण ले जा सकते थे।

'खान से राजकोश जन्म लेता है
कोश मे सेना शक्तिशाली होती है।
कोश और सेना से राज्य चलता है
कोश ही राज्य का भूषण है।"

**आकर प्रभव कोश
कोशाद् दण्ड प्रजायते।
पृथिवी कोश दण्डाभ्या
प्राप्यते कोशभूषणा।**

सरकार का वन विभाग

कौटल्य के भारत मे अन्य विभागो की भाँति वन विभाग भी राज्य का

अनिवार्य अंग था जो राजकीय आय का महत्त्वपूर्ण हिस्सा था। इसका सर्वोच्च अधिकारी कुप्याध्यक्ष के नाम से पुकारा जाता था। राज्य का यह अनिवार्य कर्त्तव्य समझा जाता था कि अपने वन मे देश-देशान्तरों से ला कर सर्वश्रेष्ठ लकडियो के वन खडे करे और लकडियो के निर्माण कार्य के लिए कर्मान्तो (उद्योगशालाओं) की स्थापना करें। इन जगलो से वे ही व्यक्ति लकडी काट सकते थे जिन्हें राज्य की ओर से आज्ञा मिल जाती थी और इनका वेतन पहले से नियत कर दिया जाता था।

राजकीय वनो मे जिन वृक्षो का लगाया जाना श्रेष्ठ समझा जाता था उनके नाम निम्नलिखित है—

शाक (सागोन) तिनिश (तुण पहाडी भाषा मे) धन्वन (पीपल) अर्जुन, मधूक (महुआ) तिलक, (फराश) साल, शीशम, अरिमेद (खैर) एजादन (खिरनी) खदिर, सरल (युकलिप्टिस) ताल, सर्ज (पीले रग का साल) अश्वकर्ण (साल का एक भेद-सरन) सोमवल्क (सफेद खैर) कश (बबूल) आम, (पियक (कदम्ब) धव (गूलर) और इमली आदि।

सूदखोरी और महाजनी का नागपाश

सामन्तवाद के उदय के साथ-साथ सूदखोरी और महाजनी पूंजी पाँव फैलाती है। पूरे संसार का यही अनुभव है। कौटल्य कालीन भारत मे सामन्तवाद के उन्नत विकास के साथ ही सूदखोरी तथा महाजनी का क्रूर नागपाश फैला। सूदखोरो के आतक से पूरा समाज त्राहि-त्राहि कर रहा था और ऋण लेनेवालो का वे मनमाने ढग से शोषण करते थे। पीडितो के लिए समाज मे कोई कानूनी सरक्षण भी नही था। इसीलिए कौटल्य ने सूदखोरो पर अकुश लगाते हुए कुछ नियम बनाये थे। कौटल्य ने कहा है कि "सवापण प्रतिशत से अधिक सूद धर्म्य नही होता। जो सूद पर रुपया ले कर लेन-देन का व्यवहार करते है उनसे पॉच प्रतिशत तक लिया जा सकता है। जगली जानवरो तथा लकडियो का व्यवहार करनेवालो से दस प्रतिशत तक और सामुद्रिक व्यवहार करने वालो से बीस प्रतिशत तक। इससे अधिक सूद लेनेवालो को प्रथम साहस दण्ड दिया

जाए।" इनके गवाहो को भी दण्ड भरना पडता था। राज्य उनके व्यवहार की पूरी देखभाल करता था ताकि वे उसके देयाश का अपहरण न कर ले।

अन्न सम्बन्धी व्यापार के लिए ऋण लेने पर विशेष प्रतिबन्ध थे। वह सग्रहणीय अन्न के कुल मूल्य की अपेक्षा आधे से अधिक नही हो सकता था। इसी तरह, गोदामो मे इकट्ठे किये गये अनाज के मूल्य की तुलना मे भी। अनाज के व्यापार मे होने वाले लाभ का आधा हिस्सा सूद के रूप मे ऋणदाता को मिलना था। परन्तु यदि व्यापारी की लापरवाही से माल समय पर नही निकल पाता था तो ऋणदाता घाटे मे नही रखा जाता था।

प्रतीत होता है कि ऋणदाताओ मे यह प्रवृत्ति पैदा हो चली थी कि वे अग्रिम सूद की रकम को मूलधन मे जोड कर लिखने लगे थे एव ब्याज देने की अवधि पूरी होने से पहले ही ऋण लेनेवाला का तग करने लगे थे जैसा कि आजकल करते है। कौटल्य न ऐसी प्रवृत्तियो पर कडा प्रतिबन्ध लगाया है।

(अकृत्वा वृद्धि साधयतो वर्द्धयतो वा मूल्य वा वृद्धिमारोप्य श्रावयतो बन्ध-चतुर्गुणो दण्ड)

ऐसे सूदखोरो पर माँगे गये धन का चौगुना आर्थिक दण्ड होता था।

सूदखोरो पर अकुश लगाते हुए कहा गया है कि जो सूदखोर कम देकर अधिक बतावे और इसके लिए साक्षियो को सहमत करना चाहे उससे तीन गुना और जो ऋण लेनेवाला उसके सामने झुक कर उसकी हाँ मे हाँ मिलावे उन दोनो को उस रकम के समान आर्थिक दण्ड दिया जाए जो माँगी जा रही हो। इस प्रकार दोनो पर अकुश लगा कर सूदखोरी प्रवृत्ति पर प्रतिबन्ध लगाया जा रहा था। निम्नलिखित व्यक्तियो से केवल मूलधन लिया जा सकता था, सूद नही—यज्ञ मे घिरा व्यक्ति, व्याधिग्रस्त, गुरुकुल मे अध्ययनार्थ गया हुआ, बालक एव शक्तिहीन पुरुष।

यदि कोई ऋणदाता दस साल के अन्दर अपना ऋण वसूल नही कर लेता था तो इसके बाद न्यायाधिकरण मे दावा नही कर सकता था। परन्तु बालक-वृद्ध, बीमार, आपद्ग्रस्त, परदेश गया, देशत्यागी एव राजकीय कार्यों से बाहर गये व्यक्तियो पर यह नियम लागू नही होता था।

मृत व्यक्ति का ऋण उसके बेटे चुकाते थे। उसकी स्थायी सम्पत्ति के दाय-भागी, साथ काम करने वाले, उसके प्रतिभू भी ऋण अदा करने के लिए बाध्य किये जा सकते थे। बालक किसी भी दशा मे प्रतिभू नही बनाया जा सकता था।

इसी प्रकार, बहुत से सूदखोर एक ही समय किसी व्यक्ति से अपने कर्ज की वसूलयाबी के लिए धावा बोलते थे ताकि घबरा कर वह अपनी चल और अचल सम्पति उन्हे सौंप दे। इस पर रोक लगाने के लिए व्यवस्था की गयी थी कि सिवाय ऐसे व्यक्ति के जो विदेश को प्रस्थान कर रहा हो किसी भी व्यक्ति से एक ही समय पर अनेक ऋणदाता वसूलयाबी का दबाव नही डाल सकते। न्यायाधिकरण भी अनेक अभियोग एक साथ किसी व्यक्ति के विरुद्ध स्वीकार नही कर सकते थे। और यदि अधिकरण सभी के अभियोग स्वीकार भी कर लेता था तो एक साथ सब की वसूलयाबी नियम वर्जित थी। पहला-पहले और बाद का बाद मे वसूल होता था। हाँ, राजा और ब्राह्मण का ऋण सबसे पहले भुगतान किया जाता था।

किसान और राजकर्मचारी जो राजसेवा एव फसल के मौके पर खेती के कार्य मे व्यस्त हो, उन्हे कोई भी ऋणदाता गिरफ्तार नही करवा सकता था। (अग्राह्या कर्मकालेषु कृषका राजपुरुषाश्च)

समाज मे राज कर्मचारियो तथा ब्राह्मणो का प्रत्येक क्षेत्र मे विशेष स्थान था। अपने पेशे के बढते हुए प्रभाव एव गौरव तथा सामाजिक उपयोगिता के कारण किसान भी समाज मे विशेष स्थान ग्रहण करते जा रहे थे।

यदि कोई पत्नी अपने पति द्वारा लिये गये ऋण का भुगतान करना स्वय स्वीकार नही करती थी तो सामाज एव न्यायाधिकरण उसे अदा करने के लिए बाध्य नही कर सकते थे। परन्तु गोपालक और अर्द्धसीतिक लोग जिनकी स्त्रियाँ जीविकोपार्जन मे प्रत्यक्ष सहयोग करती थी, उन्हे बाध्य किया जा सकता था। हाँ, पत्नी द्वारा लिये गये ऋण के लिए पति को अवश्य ब्राध्य किया जा सकता था।

(सपादपणा धर्म्या वृद्धि पणशतस्य। पचपणा व्यावहारिकी। दशपणा कान्तारकाणाम्। विंशतिपणा सामुद्रायाणाम्। तत पर कर्त्तु कारयितुश्च पूर्वः

साहस्रबन्धः । श्रोतृपानेकैकं प्रत्यर्धबन्धः । राजन्य योगक्षेमवहे तु धनिक धारणि-क्योश्चरित्रमपेक्षेत् ।

धान्यवृद्धिः सस्यनिष्पत्तावुपार्धाना मूल्यकृता वर्धेत् । प्रक्षेप वृद्धिरुदयार्धं सनिधानसन्ना वार्षिकी देया । स्त्री चाप्रतिश्राविणी पतिकृतमृणमन्यत्र गोपाल-कार्धसीतिकेभ्यः । पतिस्तु ग्राह्य । (अधि० ३, अध्याय ११)

सुवर्ण का कारोबार एव आभूषण आदि

सुवर्ण का व्यापार, कारोबार, निकासी तथा आभूषण आदि का निर्माण राजकीय नियत्रण मे होता था और जो लोग व्यक्तिगत रूप मे यह कारोबार चलाते थे उन्हे राज्य मे स्वीकृति लेनी पडती थी। ऐसा कारोबार करने वाला व्यक्ति सौवर्णिक कहलाता था। सुनारो (हेमकारो) द्वारा सौवर्णिक (सर्राफ) ही नागरिको, जनपद निवासियो तथा अन्य व्यक्तियो के लिए सोने-चाँदी के आभूषण बनवाता था। समाज मे स्त्री-पुरुष दोनो ही आभूषण पहनने के शौकीन थे। सौवर्णिको तथा सुवर्णकारो, दोनो के लिए राज्य की ओर से विशेष नियम प्रचलित थे। उन्हे समय पर और अपने वायदे के अनुसार काम करना पडता था। आजकल की भाँति कौटल्य कालीन भारत मे भी दस्तकारो मे बहाने करने तथा बातो को खटाई मे डालने की आदते पड चुकी थी। इस प्रवृत्ति पर रोक लगाने के लिए राज्य की ओर से बहुत कडे नियम काम मे लाये जाते थे। काम बिगाड देने, या जैसा कहा गया हो वैसा न करने और समय पर सामान न देने पर उन दोनो से कडा दण्ड वसूल किया जाता था एव वेतन (मजदूरी) काट ली जाती थी।

सोना-चाँदी के सम्बन्ध मे जो अनियमितताए, विषमताएँ तथा भ्रष्टाचार आज देखने को मिलता है, उस समय वह सभी कुछ विद्यमान् था। इसीलिए विस्तार के साथ कौटल्य ने अपने अर्थशास्त्र मे इन दोषो का निरूपण किया है तथा उसके प्रतीकारो पर प्रकाश डाला है।

मदिरा के निर्माण तथा व्यापार के सम्बन्ध मे राजकीय नीति

यद्यपि समाज का ऊपरी ढाँचा देखने मे बहुत नीरस प्रतीत होता था, और

उसे देख कर कोई भी बाहरी व्यक्ति यही आभास लेता कि समाज मे पूजा-पाठ, कर्मकाण्ड तथा बाहरी आडम्बर के अलावा, मनोरजन एव उल्लास का स्थान ही कहाँ है ? परन्तु वास्तविकता इसके बिलकुल विपरीत थी। जिनके पास साधन थे वे पूरे मनोरजन तथा उल्लास का जीवन व्यतीत करते थे और जिनके पास ऐसे साधनो का अभाव था वे दूसरो के लिए विलास सामग्री का काम करते थे। मदिरा एव वेश्या तत्कालीन भारत के सबसे बडे मनोरजन तथा विलासिता के साधन थे जिनमे एक के सम्बन्ध मे यहाँ विचार करते है।

इसके अलावा, बहुत से अन्य आय स्रोतो की तरह मदिरा भी राज्य की आमदनी का एक बडा साधन था। मदिरा गुड, मधु तथा पिट्ठी से बनायी जाती थी। इसके निर्माण तथा व्यापार पर राज्य का एकाधिकार था। राज्य की ओर से सबसे बडा अधिकारी सुराध्यक्ष कहा जाता था। सुराध्यक्ष मदिरा के निर्माण तथा वितरण की व्यवस्था दुग, जनपदो तथा छावनियो (स्कन्धावारो) मे सुविधा के अनुसार करता था और मदिरा के व्यापारियो को या तो वह खुदरा रूप मे अलग-अलग देता था और या फिर एक ही बडे ठेकेदार को मदिरा देकर उसके द्वारा दूसरे व्यापारियो से मदिरा बिकवाता था। (**एकमुखमनेक-मुख वा विक्रय-क्रयवशेन वा**)

जो लोग नियत स्थानो के अलावा चोरी से मदिरा बनाते थे उन्हे भारी आर्थिक दण्ड भरना पडता था जो कि ६०० पण तक होता था। शराबियो पर यह पाबन्दी थी कि वे मदिरा पी कर सार्वजनिक स्थानो पर नही जा सकते थे जिससे आर्यों (श्रेष्ठ पुरुषो) की मर्यादा भग न हो तथा शराब के नशे मे साहमी व्यक्ति शास्त्रादि का प्रयोग करके प्रजा को पीडा न पहुँचावे।

(**मर्यादातिक्रमण भयादार्याणामुत्साहभयाच्च तीक्ष्णानाम्**)

राजकीय मोहर से अकित पात्र मे यदि कोई व्यक्ति अपने कर मे मदिरा ले जाना चाह तो अनुमति दी जा सकती थी। परन्तु वह एक कुडब एव आधा या एक प्रस्थ से अधिक नही हो सकती थी। ऐसी अनुमति केवल विशेष रूप से दी जाती थी। आमतौर पर लोग पानागार मे ही मदिरा पीते थे और उन्हे पीकर घूमने-फिरने की आजादी नही थी। (**असचारिण**)

इन पानागारो के चारो ओर प्राय गुप्तचरो का जाल फैला रहता था और नशे मे धुत्त सामाजिक एव राजनीतिक अपराधी यहाँ आसानी से पकडे जाते थे।

उत्तम श्रेणी की मदिरा किसी भी शर्त्त पर उधार नही बेची जाती थी। केवल घटिया मदिरा उधार दी जा सकती थी। उत्तम श्रेणी की मदिरा जहाँ बेची जाती थी वहाँ घटिया मदिरा बेचना वर्जित था। उसके लिए पृथक् पानागार होते थे। दासो तथा निकृष्ट कर्म के कर्मचारियो को घटिया मदिरा वेतन के रूप मे भी दी जाती थी। परन्तु सूअर तथा बैल आदि पालनेवालो को ही मदिरा के रूप म वेतन दिया जा सकता था, अन्यो को नही।

कौटल्य कालीन भारत के पानागार बहुत वैभवशाली, ऐश्वर्यपूर्ण बहुतसी कक्षाओ तथा गैलरियो वाले, अनेक प्रागणो तथा कमरो मे सुसज्जित और सोने-विश्राम करने एव गप्प मारने के ठिकानो से परिपूर्ण होते थे। इनमे सभी ऋतुओ म सुख मिल सकता था। वे फूलमालाओ तथा बन्दनवारो से सजे रहते थे। गुप्तचर आगन्तुको की गतिविधि की जाँच रखते थे। खरीदारो के आभूषणो तथा नगदी माल की निगरानी करना शौण्डिक का प्रधान कर्त्तव्य समझा जाता था। उन्हे हानि का दुगना दण्ड भरना पडता था। यहाँ सुन्दर स्त्रियो द्वारा भी आगन्तुको के आचरण की देखभाल की जाती थी और जो ऊपर से भले प्रतीत होते थे उनकी असलियत का यहाँ पता चल जाता था।

(दास कर्मकरेभ्यो वा वेतन दद्यात्। वाहनप्रतिपाने शूकरपोषण वा दद्यात्। पानागाराण्यनेककक्ष्याणि विभक्तशयनासनवन्ति पानोद्देशानि गन्धमाल्योदकवन्त्यृतु सुखानि कारयेत्। तत्रस्था प्रकृत्योत्पत्तिकौ व्ययौ गूढा विद्युरागन्तूश्च। क्रितृणा मत्तसुप्तानामलकाराच्छादिन हिरण्यानि च विद्यु। तन्नाशे वणिजस्तच्च तावच्च दण्ड दद्यु। वणिजस्तु सवृतेषु कक्ष्या विभागेषु स्वदासिभि पेशलरूपाभिरागन्तूना वास्तत्याना चार्यरूपाणा मत्तसुप्ताना भाव विद्यु।

इस प्रकार यह स्पष्ट है कि ये मदिरालय बहुत राजनीतिक अखाडे थे जहाँ राजा के पक्ष मे षड्यन्त्र होते थे और राजा के विरोध मे चलने वाले षड्यन्त्रो का भण्डाफोड होता था। ठेकेदार अपनी सुन्दर दासियो को गुप्त कमरो मे सोये आगन्तुको के साथ केलि करवा कर, उनकी असलियत का पता लगाते थे

और इस प्रकार इन पानागारो का प्रतिष्ठित नागरिको पर अवश्य ही आतकपूर्ण प्रभाव रहा होगा।

मेदक, प्रसन्न, असव, अरिष्ट, मैरेय तथा मधु ये छ प्रकार की मदिराएँ थी। मदिरा निर्माण मे राज्य का एकाधिकार होते हुए भी कुछ लोगो को सुराध्यक्ष यह स्वीकृति दे देता था कि वे अपनी बनायी हुई मदिरा स्वय पी सकते थे और दूसरो को बेच सकते थे। यदि वे राज्य की मदिरा नही बेचना चाहते थे तो राज्य की स्वीकृति के बाद ऐसा भी कर सकते थे। तब उन्हे पौन प्रतिशत शुल्क देना पडता था।

केवल निजी उपयोग के लिए विशेष अवसरो पर घटिया श्रेणी की मदिरा बनाने की छूट राज्य की ओर से मिल जाती थी जिसके लिए भारी शुल्क देना पडता था। (अधि० २, अध्या० २५)

वेतनजीवी मजदूरो की स्थिति

विशेषाधिकार प्राप्त वर्गों की आर्थिक स्थिति का विश्लेषण करने के बाद आर्थिक दृष्टि से शोषित वर्गों मे से एक की विशेष स्थिति पर विचार करते है।

समाज मे दासो का स्थान गौण होता जा रहा था। समाज ने दास प्रथा को लाभहीन समझ कर हटाना शुरू कर दिया था हालाँकि समाज मे अब भी दासो की अन्तहीन सेना विद्यमान थी। दासो के स्थान पर सम्पत्तिधारी लोग वेतनजीवी मजदूरो से काम लेना अधिक पसन्द करते थे जिन्हे कर्मकर कहा जाता था। सैकडो हजारो वर्णसकर जातियाँ पैदा होती जा रही थी जिनकी सख्या व्यवस्था के सकुचित घेरे से निकल-निकल कर एक ऐसे वर्णहीन समाज की रचना कर ही रही थी जिनमे द्विज या सवर्ण जातियाँ अल्पसख्या मे बदल रही थी, और जिनके पास पशु, भूमि, वाणिज्य एव दूसरे ढग की व्यक्तिगत सम्पत्ति का सर्वथा अभाव था। इन लोगो के लिए अपनी श्रम शक्ति बेच कर जीवन निर्वाह करने का दूसरा कोई साधन एव रास्ता ही नही था। पहले के युग मे दासो के साथ जो आर्थिक अन्याय होता था वही अन्याय अब इनके साथ होता था। परन्तु इन्हें बेचा, खरीदा या कत्ल नही किया जा सकता था और न दासो की तरह गिरवी रखा जा सकता था। इन्हे अकारण शरीर दण्ड भी नही दिया

जा सकता था। फिर भी इनसे काम लेने के नियम इतने कडे थे और सम्पत्ति-धारियो के पक्ष मे कानून इतना मक्रिय था कि इनकी सामाजिक एव आर्थिक स्थिति दासो से अधिक भिन्न नही थी।

जो कर्मकर वेतन लेकर काम नही करता था वह आर्थिक दण्ड का भागीदार था। बिना कारण बताये काम न करने पर उसे कारागार तक मे डाला जा सकता था। हाँ, बीमारी या पारिवारिक सकट की स्थिति मे मालिक उसे कार्य करने को बाध्य नही कर मकता था। उसे मल-मूत्र उठाने या दूसरे किसी गन्दे कार्य करने के लिए भी मजबूर नही किया जा सकता था। वह अपने काम से अधिक वेतन की माँग नही कर मकता था।

काम के मम्बन्ध मे आपसी समझौता हो जाने पर मालिक न तो उस कमकर से काम करवा मकता था और न कर्मकर ही काम छोड कर जा मकता था।

(**भर्त्ता वा करयितुनान्यस्त्वया कारयितव्यो मया वानान्यस्य कर्त्तव्यमिति-त्यवरोधे भर्त्तुरकारयतो भृतकस्याकवेतो वा द्वादशपणो दण्ड**) मालिक एव कर्म-कर जो भी इस ममझौते का उल्लघन करता था उसे १२ पण दण्ड मिलता था। हाँ, पहले मालिक का काम पूरा करके कर्मकर दूसरे मालिक से वेतन ले कर उसका काम कर सकता था।

इस सम्बन्ध मे कुछ आचाय इतने दयालु थे कि काम न करवाने पर भी यदि मालिक ने कमकर को काम पर बुला लिया है तो वह वेतन पाने का अधि-कारी हो जाता ह। परन्तु कौटल्य ने व्यवस्था दी है कि "वेतन काम का है उपस्थित होने का नही। काम करने पर ही वेतन मिल सकता है।"

(**उपस्थितमकारयत कृतमेव विद्यादित्याचार्या। नेति कौटल्य। कृतस्य वेतनमस्ति नाकृतस्यास्ति**)

हाँ, थोडा काम करवा कर यदि वह बीच मे रोक दे तो वेतन पूरा देना पडता था। जो कर्मकर ठीक समय पर एव स्थान पर तथा जैसा करना चाहिए था वैसा काम नही करता था, उसे वेतन नही दिया जाता था। मालिक के कहने से अधिक काम करने वाला अधिक वेतन पाने का अधिकारी नही माना जाता

था। जो नियम व्यक्तिगत मालिको के लिए थे, वे ही संघीय अथवा कम्पनियो के मालिको के लिए भी थे।

(तेन संघभृता व्याख्याता॰)

आमतौर पर कर्मकरो का सात दिन का वेतन रोक कर रखा जाता था।

(तेषामाधि सप्तरात्रमासीत्)

जो कर्मकर सामुदायिक कम्पनियो मे काम करते थे तथा जिनका वेतन काम के आधार पर सामूहिक रूप से ठेके पर तय होता था, वे अपनी आमदनी काम के अनुसार आपस मे बाँट लेते थे।

(संघभृता भूयसमुत्यातारो वा यथासंभाषित वेतन सम वा विभजेरन्)

दूसरा अध्याय

समाज का ऊपरी ढांचा

वर्णाश्रम व्यवस्था और श्रम का विभाजन

कौटल्य दृढता के साथ वर्णाश्रम व्यवस्था की पैरवी करते है और वेद शास्त्र को आधार मान कर वे समाज के लिए यह धम निश्चित करते ह कि वह कठोरता के साथ इस सामाजिक ढाँचे की रक्षा करे। यद्यपि इस प्रसग मे कौटल्य ने सर्वत्र धर्म शब्द का ही प्रयोग किया है और उसके लिए त्रयी-वेदशास्त्र की प्रामाणिकता का ही आधार बनाया हे, परन्तु फिर भी जिस विस्तार के साथ उन्होने वर्णो तथा आश्रमो के कार्यो का निरूपण किया है, उसमे धर्मशब्द सामाजिक कर्तव्य का पर्यायवाची बन कर रह जाता है और इसी से यह भी प्रकट होता है कि वे परम्परावादी या रूढिवादी नही थे। कौटल्य ऐसे समाज की कल्पनामात्र मे चौक जाते है जिसमे समाज के विभिन्न व्यक्ति और समुदाय अपने सम्पूर्ण जीवन की योजना न बनावे और वे समाज के लिए हित का कार्य न करे। कौटल्य की वर्णव्यवस्था काम के बँटवारे के अलावा कुछ नही थी और आश्रम व्यवस्था म व्यक्ति अपने व्यक्तिगत जीवन का सुनियोजित ढग से सचालन करने का प्रयत्न करता था।

कौटल्यकालीन भारत मे वर्णव्यवस्था के रूप मे सामाजिक श्रम एव उत्तर-दायित्वो का बँटवारा इतना सर्वमान्य था कि इनकी उपादयता के सम्बन्ध मे किसी को शका नही थी और सभी लोग यह मानते थे कि जिस समाज मे वर्ण-व्यस्वथा नही रहेगी वह अराजकता की ओर अग्रसर होकर अपने भयानक पतन मे जा गिरेगा। कौटल्य ने समाज मे परम्परागत रूप मे आ रहे इस सामाजिक सगठन को केवल मान्यता ही नही दी बल्कि राज्य शक्ति के नियत्रण मे लाकर इसे राजतत्र की दृढ शक्ति का सामाजिक आधार भी प्रदान किया।

वर्ण-व्यवस्था भारतीय सामन्तवाद का एक विशेष एव उत्कृष्ट कोटि का सामाजिक शोषण रहा है जिसके रहते हुए सामन्तवाद अपने आपको अजेय समझता था।

ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र ये चार वर्णव्यवस्था के मुख्य अग थे और यह प्रयत्न किया जाता था कि पूरे समाज को बन्धन मे जकड कर इन्ही वर्णो मे कायम रखा जाए। सभव है कि एक लम्बे समय तक समाज पर राजतत्र का यह बन्धन प्रभावशाली भी रहा हो। परन्तु कौटल्य कालीन भारत मे ये बन्धन पूरी तरह टूट चुके थे और उनका केवल आडम्बरपूर्ण बाहरी ढांचा भर रह गया था। सैकडो-हजारो प्रकार की वर्णसकर जातियाँ समाज मे सिर उठा रही थी और प्रतिदिन बढती जा रही थी जिन्हे वर्णव्यवस्था के सकुचित ढाँचे मे बन्दी बना कर रख सकना न केवल कठिन था बल्कि असभव हो रहा था। कुछ सदियो तक तो इन वर्णसकर जातियो को मुख्य जातियो की अवान्तर जातियाँ कह कर पुकारा गया और इस प्रकार वणव्यवस्था का सकुचित ढाँचा कायम रखने का प्रयत्न किया गया। बाद मे सभी अवान्तर जातियो को शूद्रो की श्रेणी मे रख कर समन्वय करने के प्रयत्न किये गये। परन्तु कालान्तर मे जब वणसकर जातियो की सख्या मुख्य वर्णो की अपेक्षा कई गुना अधिक हो गयी और ब्राह्मणो तथा क्षत्रियो के रक्त से उत्पन्न वर्णसकर जातियो को दबा कर शूद्रो की श्रेणी मे रखना असभव हो गया तो वर्णसकर जातिया की विस्तृत विवेचना करके उनकी भिन्न सामाजिक तालिका तैयार की गयी और इन्हें पाँचवे वर्ण के रूप मे प्रस्तुत किया गया। कौटल्य ने जिस गम्भीरता के साथ वर्णसकर पुत्रो तथा जातियो की विवेचना की है, उससे यही प्रतीत होता है कि उस समय भारत मे वर्णव्यवस्था के लिए इन वर्णसकर जातियो ने गभीर सकट पैदा कर दिया था और राजतत्र एव धर्मशास्त्र इसकी रक्षा के लिए कठोर एव विफल सघर्ष कर रहे थे। इस प्रश्न पर इसी अध्याय मे अगले पृष्ठो पर विस्तार से विवेचना की गयी है। आशा है पाठक इसे ध्यान से देखेंगे।

कौटल्य द्वारा प्रतिपादित वर्णव्यवस्था मे सबसे विचारणीय विषय शूद्रो के लिए जीविका के विशाल साधनो का प्रविधान है। परम्परावादी शास्त्रकारो की

भाँति कौटल्य ने शूद्रो का धर्म केवल द्विजो की सेवा करना और उसके पुरस्कार स्वरूप जीविका का साधन प्राप्त करना ही नही है बल्कि कृषि, पशुपालन और वाणिज्य को, जो उस समय के मुख्य जीविका साधन थे, शूद्रो के लिए मुक्त रखा है। इसके अलावा, दस्तकारी, मनोरजन और आधुनिक भाषा मे साम्कृतिक कार्यो पर उनका एकक्षत्र अधिकार समझा जाता था।

शूद्रस्य द्विजातिशुश्रूषा वार्त्ता कारुकुशीलव कर्म च। (अधि० १, अध्याय ३)

इस सम्बन्ध मे एक आपत्ति यह की जा सकती है कि शूद्रो को कौटल्य ने पशुपालन, वाणिज्य तथा खेती करने का वैसा ही अधिकार नही दिया है जैसा वैश्यो तथा दूसरे सवर्णों को दिया है। उन्हे असीमित अधिकार दिये हैं तथा ब्राह्मणो एव क्षत्रियो को विशेषाधिकार भी दिये है जब कि शूद्रो को दिये गये अधिकार सीमित थे। परन्तु ये काल्पनिक सीमाएँ, जो आगे चल कर पाबन्दियो मे बदल गयी, अर्थशास्त्र मे देखने को नही मिलती। विपरीत इसके, जैसे-जैसे शस्त्रधारी जातियो के हाथो मे शक्तिसचय होता गया वैसे-वैसे पैदावार के सभी साधन उनके हाथो मे सिमटते चले गये। क्षत्रियो के लिए जीविका का मुख्य साधन शस्त्र धारण करना बताया गया था और सभी पुराने शास्त्रकारो की ऐसी ही मान्यताएँ थी, एव कृषि करना वैश्यो का मुख्य धन्धा बताया गया था। परन्तु बाद मे पूरी कृषियोग्य भूमि क्षत्रियो के अधिकार मे चली गयी तथा शूद्रो के हाथो मे जो कुछ था वह भी छिनता चला गया। परन्तु कौटल्य काल तक शूद्र इतने साधनहीन नही थे जैसा कि कालान्तर मे सामन्तवाद का विकास एव शक्तिसचय होते-होते देखने को मिलता है। कौटल्य ने शूद्रो का उल्लेख केवल सेवक के रूप मे नही किया है बल्कि उन्हे मुख्य श्रमजीवी वर्ग समझा है जिनका पैदावार तथा उसके साधनो से घनिष्ठ सम्बन्ध था।

वर्णव्यवस्था के रूप मे सामाजिक जीवन को चार भागो मे विभक्त करके कौटल्य कालीन भारत आश्रम व्यवस्था के रूप मे व्यक्तिगत जीवन को भी चार भागो मे विभक्त करके उसे व्यवस्थित और नियमित करने का प्रयत्न करता था। ब्रह्मचर्याश्रम, गृहस्थाश्रम, वानप्रस्थाश्रम और सन्यासाश्रम ये चार आश्रम

थे। कौटल्य ने विस्तार के साथ इन आश्रमो के धर्मों अर्थात् कर्त्तव्यो का निरूपण किया है।

यद्यपि यह सही है कि वर्णों तथा आश्रमो की परम्परागत व्यवस्था को कौटल्य ने स्वीकार करके अपने अर्थशास्त्र मे उनकी पैरवी की है। परन्तु कौटल्य ने इन आदर्शों को किसी अन्धविश्वास के रूप मे स्वीकार नही किया है जैसा कि पहले बताया जा चुका है। कौटल्य की धारणा थी कि एक बार वर्णों तथा आश्रमो के धर्मों के उलट-पुलट हो जाने पर समाज मे ऐसी अराजकता फैल सकती है जिसमे उसका सर्वनाश हो सकता है।

(तस्यातिक्रमे लोक. सकरादुच्छिद्येत) (पूर्वोक्त)

इसीलिए, कौटल्य ने समाज के नियामक राजा का आह्वान करते हुए कहा है कि—

जिस राज्य मे सामाजिक मर्यादाओ की रक्षा होती है, जहाँ वर्णों तथा आश्रमो के धर्मों का उल्लघन नही होता, और इस प्रकार, वेदधर्म का पालन होता है, वह समाज सुखी रहता है और कभी नष्ट नही होता।

व्यवस्थितार्यमर्याद कृतवर्णाश्रमस्थिति. ।
त्रय्या हि रक्षितो लोक प्रसीदति न सीदति।।

पूरे समाज तथा व्यक्तियो पर विभिन्न नियत्रणो की पैरवी करने वाले कौटल्य ने राजतत्र को भी मनमानियो तथा स्वेच्छाचारिता से दूर रखने का भगीरथ प्रयत्न किया है। इसकी विवेचना आगे की गयी है। राजतत्र की निरकुशता का निवारण करके उसे नियत्रित एव परिपक्व करना ही कौटल्य की नीति एव राजनीति थी। यह भेद ही कौटल्य को दूसरे आचार्यों से पृथक् करता है।

कौटल्य राजा को समाज की मुख्य नियामक शक्ति के रूप मे देखते और मानते हैं और उसे ही सब की प्रेरणा, सुरक्षा एव जीविका का स्रोत कहते है। अर्थशास्त्र ऐसे सभी समाजो को हीन, निकृष्ट एव अराजकतापूर्ण मानता है जिसमे राजा सबसे ऊँचे आसन पर विराजमान न हो। वे ऐसे समाज की कल्पना तक नही करते जिसमे राजा न हो और फिर भी समाज के सारे

काम व्यवस्थित ढग से चलते हो। परन्तु इस सैद्धान्तिक धारणा के बावजूद वे राजा को सर्वेसर्वा तथा निरकुश तानाशाह के रूप मे मानने से इन्कार करते हैं। वे राजा पर भी नियत्रण रखना चाहते हैं। परन्तु राजा का नियत्रण कौन करे ! जो सर्वशक्तिमान् है। कौटल्य इस प्रश्न पर मौन नही हैं। अग्रिम पृष्ठो में इसकी भी विवेचना की गयी है।

कौटल्य अपने ग्रथ मे जब स्थान-स्थान पर वर्णआश्रम धर्मों का उल्लेख करते है तो उनका आशय केवल उपदेश देना भर नही है, बल्कि ठोस व्यावहारिक प्रश्नो की ओर समाज का ध्यान खीचना है। इनका उल्लेख करते समय वे प्रत्येक वर्ण तथा आश्रम के जीविका साधनो एव उपायो की विवेचना सबसे पहले करते हैं। वास्तव मे देखा जाए तो कौटल्य का अर्थशास्त्र पूरा धार्मिक एव सामाजिक शास्त्र रहते हुए भी इसी आर्थिक दृष्टिकोण के कारण अर्थ-शास्त्र है।

न्यायपालिका व्यक्तियो के कानूनी अधिकार तथा साम्पत्तिक सम्बन्ध और बंटवारे के सिद्धान्त

समाज मे साधारण साम्पत्तिक विवादो एव साहस (फौजदारी) सम्बन्धी विवादो का निर्णय स्थानीय स्तर पर हो जाता था। परन्तु यह पद्धति परम्परा-गत ढग से चली आ रही थी जिसे कौटल्य ने सम्पूर्ण रूप मे मान्यता दी थी और उसका निराकरण नही किया था। फिर भी, विवादो के निबटारे के लिए पहले की अपेक्षा कौटल्य कालीन भारत मे एक परिस्कृत व्यवस्था की स्थापना हो चुकी थी। न्यायाधिकरण कायम किये जाते थे और उनमे बैठ कर विवादो का निर्णय करने वाले अधिकारी धर्मस्थ कहे जाते थे। धर्मस्थ नाम न्यायाधीश का भी था और न्यायाधिकरण का भी। राज्य की ओर से चार प्रकार के धर्मस्थ या न्याया-धिकरणो की स्थापना की जाती थी। ये न्यायाधिकरण दो जनपदो के सन्धि स्थानो, दश ग्रामो के केन्द्रभूत सग्रहो, चार सौ गाँवो के केन्द्रभूत द्रोणमुखो और आठ सौ गाँवो के केन्द्रभूत स्थानीयो पर स्थापित किये जाते थे। इन अधिकरणो के सदस्यो की योग्यता अमात्यो के समान होती थी जिनकी देखरेख मे सामा-

जिक एव कानूनी व्यवहार, इकरारनामे आदि किये जाते थे एव छिप कर कपट पूर्वक तथा एकान्त मे किये गये व्यवहार तथा इकरारनामे प्रामाणिक नही माने जाते थे।

धर्मस्था स्त्रयोऽमात्या जनपदसन्धि ग्रहण द्रोणमुख स्थानीयेषु व्यावहारिकानर्थान कुर्यु । तिरोहितान्तरगाररक्तारण्यो पध्युपह्वर कृतोश्च व्यवहरान प्रतिषेधयेयु ।

न्यायाधिकरण के सदस्य भी राज्य द्वारा निर्धारित स्थानो पर बैठ कर जो निर्णय करते थे वे ही मान्य समझे जाते थे। अन्यत्र बैठ कर किये गए उनके निर्णयो को राजकीय मान्यता प्राप्त नही होती थी। न्यायाधिकरण की उपेक्षा करके व्यवहार तथा इकरारनामो के करने पर कठोर आर्थिक दण्ड देने की प्रथा प्रचलित थी। इसका अर्थ हुआ कि न्यायाधिकरण या अदालते समाज के व्यावहारिक जीवन मे महत्त्वपूण स्थान ग्रहण कर चुकी थी।

निम्नलिखित व्यक्तियो के व्यवहार न्यायाधिकरण के सम्मुख भी तब तक मान्य नही ठहराये जा सकते थे जब तक राजा की विशेष स्वीकृति न ले ली गयी हो। निराश्रित व्यक्ति, जिसका पिता जीवित हो, जिसका पुत्र जीवित हो, दास, नाबालिग (अप्राप्त व्यवहार) बहुत वृद्ध, समाज मे निन्दित, सन्यासी, लूला लँगडा और कठोर रोग से पीडित व्यक्ति। इसका अर्थ यह हुआ कि न्यायाधिकरण के कार्य राज्य की प्रत्यक्ष देखरेख मे चलते थे और न्यायाधिकरण के फैसलो के विरोध मे अन्तिम अपील स्वय राजा से की जा सकती थी।

क्रोधी, दुखी, उन्मत्त (उन्माद रोग से पीडित) तथा जनूनी (अपगृहीत) व्यक्तियो के व्यवहार भी मान्य नही थे। ऐसा व्यवहार करने और करवाने वालो तथा साक्षियो को पृथक्-पृथक् दण्ड दिया जाता था।

यह परिपाटी चली आ रही थी कि लोग व्यवहार करते समय अपने वर्ग जाति, देश और काल आदि की परीक्षा करके व्यवहार करते थे और कोई भी व्यवहार (लेनदेन) तभी मान्य ठहराया जा सकता था जब उसका विस्तृत विवरण कागज पर अंकित कर दिया गया हो। इन सब कठिन पाबन्दियो के रहते

हुए भी लोगों के व्यवहार सरलता के साथ अस्वीकार कर समाज मे अव्यवस्था एव असन्तोष नही फैलने दिया जाता था।[1]

न्यायाधिकरण मे किस प्रकार के विवाद लाये जा सकते थे उनका सक्षिप्त उल्लेख पहले किया जा चुका है। परन्तु न्यायाधिकरण मे अपना पक्ष किस प्रकार प्रस्तुत किया जाए एव प्रतिवादी किस प्रकार अपने ऊपर लगाये गये अभियोगो का प्रतीकार करे, इसके लिए भी समाज मे विस्तृत नियम प्रचलित थे। अभियोक्ता का अस्पष्ट अभियोग न्यायाधिकरण मे नही चल सकता था। इसके लिए उसे अभियुक्त के देश, जाति, ग्राम, गोत्र, नाम और व्यवसाय आदि का स्पष्ट उल्लेख करना पडता था और यह भी कि कब ऋण आदि लिया गया था, कौन सा महीना एव ऋतु थी और पक्ष, दिन, स्थान तथा साक्षी आदि कौन थे। पहले अभियोग मे ही ये सब विवरण देने पडते थे। विशेष परिस्थितियो मे ही अभियोग पत्रो मे सशोधन करने की सुविधा अभियोक्ता को मिलती थी। इस विस्तृत विवरण से न्यायाधिकरण को विवाद का वास्तविक रूप समझने मे सुविधा होती थी।

न्यायाधिकरण निम्नलिखित परिस्थितियो से अभियोक्ता या अभियुक्त के निर्बल पक्ष का आभास पा लेते थे —

जो व्यक्ति अप्रासगिक बाते करता था, जिसकी पहली बात का दूसरी बात से समर्थन नही होता था, जो पूर्वापर सम्बन्ध विहीन अनर्गल बाते करता था, जो विरोधी की किसी गलत बात को ही पकड कर बैठ जाना चाहता था, सूचना देने की प्रतिज्ञा करके बार-बार पूछे जाने पर भी सूचना नही देता था, बहकाने के लिए किसी साधारण स्थान का नाम ले देता था या बताता ही नही था, असली स्थान के बदले किसी अन्य स्थान का नाम ले लेता था, स्थान का नाम ठीक बता कर व्यवहार का निषेध कर देता था, जिसे साक्षियो का बोलना अच्छा नही लगता था। और जो साक्षियो से ऐसे स्थान एव समय पर बात करता था जिससे सन्देह उत्पन्न हो, आदि।

---

१ स्वे स्वे तु वर्गे देशे काले च स्वकरणकृता सपूर्णनरा शुद्धदेशा दृष्टरूपलक्षण प्रमाण गुणा। सर्वव्यवहारा सिद्ध्येयु।

(निबद्धं पादमुत्सृज्यान्य पाद सक्रामति । पूर्वोक्त पश्चिमेनार्थेन नाभिसधत्ते । परवाक्य मनभिग्राह्यमभिग्राह्यावतिष्ठते । प्रतिज्ञाप देश निर्दिशेत्युक्ते न निर्दिशति । हीनदेशमदेश वा निर्दिशति । निर्दिष्टोद्देशादन्य देशमुपस्थापयति । उपस्थिते देशेऽर्थवचन नैव मित्यपव्ययते । साक्षिभिरवधृत नेच्छति । असभाष्ये देशे साक्षिभिर्मिथ सभाषते । इति परोक्तहेतव) **(अधि० ३, अध्याय १)**

विवाद का निर्णय करते समय धर्मस्थ के सदस्य इस बात का ध्यान रखते थे कि अभियुक्त तथा अभियोक्ता का काम चालचलन कैसा है ? यदि वह विवादो के सम्बन्ध मे स्वय सत्य का प्रतिपादन करता रहता था तो देय धन का केवल दसवाँ भाग दण्ड भरता था और अन्त तक दुराग्रह करते रहने पर पाँचवाँ भाग।

विजयी अभियुक्त को पराजित अभियोक्ता पर उल्टा अभियोग चलाने का अधिकार नही था। परन्तु कलह (फौजदारी) साहस (डाका)एव मारधाड आदि, एव सार्थ (कारवाँ) और समवाय (कम्पनियो अथवा व्यापार सघो) के विवादो मे विजयी अभियुक्त पराजित अभियोक्ता पर उल्टा दावा कर सकते थे। अभियुक्त पर भी एक ही विवाद को ले कर बार-बार अभियोग नही चलाये जा सकते थे।

(अभियुक्तो न प्रत्यभियुञ्जीत । अन्यत्र कलहसाहससार्थसमवायेभ्य । न चाभियुक्तेऽभियोगोक्ति)

सार्थवाहो (कारवाँ) और समवायो (कम्पनियो का अस्तित्व आर्थिक क्षेत्र मे इतनी प्रमुखता लेता जा रहा था कि उनके लिए राज्य को पृथक से नियम बनाने की आवश्यकता अनुभव हो रही थी।

ये न्यायाधिकरण आमतौर पर अभियोक्ता की अपेक्षा अभियुक्त को अधिक सुविधा एव प्राथमिकता देते थे। किसी विशेष जानकारी की माँग करने पर यदि व समय पर उत्तर नही दे पाता था तो पराजित समझ लिया जाता था। इसलिए कि अभियोक्ता आगे पीछे की सब बातो पर सोच-विचार करने के बाद ही धर्मस्थ के पास आता था। इसलिए समय देने की विशेष माँग करने पर ही सूचना के लिए तीन से सात रात तक का समय दिया जाता था। न्यायाधिकरण की

कार्यवाहियाँ आमतौर पर रात के समय होती थी। इसीलिए कौटल्य ने समय देने की माँग का समर्थन करते हुए तीन से सात दिन की बात नही कही बल्कि तीन या चार रात की बात कही है। इसके बाद भी उत्तर न देने पर यह मान लिया जाता था कि अभियुक्त को केवल तंग करने के लिए ही अभियोक्ता ने उस पर अभियोग लगाया है।

(अभियोक्ता चेत्युत्युक्त सावहो च न प्रतिब्रूयात् परोक्त स्यात् । कृतकार्य-विनिश्चयो ह्यभियोक्ता नाभियुक्त । तस्याप्रति ब्रुवर्तास्त्रिरात्र सप्त रात्रमिति)

इस प्रकार यदि अभियोक्ता विजयी भी होता था तो अपने अभयाग के भुगतान स्वरूप अभयुक्त का सर्वस्व नही ले सकता था जिससे उसके जीवन निर्वाह का सहारा ही छिन जाए।

देश मे मुकदमेबाजी को प्रोत्साहन देने की प्रथा नही थी। अभियोक्ता के लिए इतनी कठोर पाबन्दियाँ थी कि वह मनचाहे ढग से न्यायाधिकरण के द्वार नही खटखटा सकता था। उदाहरण के लिए—अभियुक्त के मर जाने या आपद्-ग्रस्त हो जाने अथवा अन्य अनिवार्य कारणो से अनुपस्थित होने पर भी अभियोक्ता को अपने अभियोग के समर्थन के लिए पूरे प्रमाण प्रस्तुत करने पड़ते थे और न्यायाधिकरण को यह अधिकार था कि वह अभियुक्त के पक्ष समर्थक की भाँति कार्य कर सके। पराजित अभियोक्ता से दण्ड का सगृह करके न्यायाधिकरण अभियुक्त को दे सकता था अथवा अभियोक्ता को ब्राह्मणो के यज्ञ आदि कार्यों मे विघ्न डालनेवाले तत्त्वो के निराकरण मे लगाया जा सकता था। केवल अभियोक्ता ब्राह्मणो को यह दण्ड नही दिया जा सकता था और प्राणसकट कार्यों मे नही लगाया जा सकता था।

(प्रेतस्य व्यसनिनो वा साक्षीवचनमसारमभियोक्तार दण्डयित्वा कर्म कारयेत् । अधिवासकर्म प्रवेशयेत् । रक्षोघ्नरक्षित वा कर्मणा प्रतिपादयेत् । अन्यत्र ब्राह्मण विति)

प्रत्येक न्यायाधिकरण की अन्तिम अपील राजा के यहाँ होती थी और राजा की आज्ञा अन्तिम शासन समझी जाती थी।

तत्र सत्ये स्थितो धर्मो व्यवहारस्तु साक्षिषु।
चरित्र सग्रहे पुसां राज्ञामाज्ञा तु शासनम् ॥

कानून बहुत उलझे हुए नही थे। और न्यायाधिकरण आमतौर पर जटिलताओ मे न फस कर प्राकृतिक न्याय की भावना से प्रेरित हो कर कार्य करते थे। यह समझा जाता था कि जिस बात मे चरित्र तथा लोकाचार का धर्मशास्त्र से विरोध हो, वहाँ लोकाचार के मुकाबिले धर्मशास्त्र को ही प्रमाण माना जाता था। परन्तु यदि कही धर्मशास्त्र एव राजाज्ञा मे विरोध होता था तो न्यायाधिकरण राजाज्ञा का अनुसरण करते थे।

सस्थया धर्मशास्त्रेण शास्त्र वा व्यावहारिकम्।
यस्मिन्नर्थं विरुध्येत धर्मेणार्थं विनिर्णयेत ।
शास्त्र विप्रतिपद्येत् धर्मन्यायेन केचित् ।
न्यायस्तत्र प्रमाण स्यात् तत्र पाठो हि नश्यति ॥

निम्नलिखित पाँच बातो पर न्यायाधिकरण विवाद का निर्णय करते समय विशेष ध्यान रखते थे—

१ जिसका अपराध पहले भी देखा जा चुका हो
२ जिसने स्वय अपना अपराध स्वीकार कर लिया हो।
३ जो प्रश्नो का उत्तर सरलता के साथ देता हो ।
४ जो कारणो (प्रमाणो) को सम्पूर्ण रूप से उपस्थित करता हो। और
५ जिसने शपथ खाई हो।

दृष्टदोष स्वयवाद स्वपक्षपरपक्षयो ।
अनुयोगार्जव हेतु शपथश्चार्थसाधक ॥

अभियोगो मे आजकल पूरे ससार मे कसम खाने की प्रथा चली हुई है। कौटल्य कालीन भारत के न्यायाधिकरणो मे शपथ खाने की प्रथा ने प्रमुखता प्राप्त कर ली थी । साक्षियो की गवाही तथा गुप्तचर विभाग की जाँच रिपोर्टों को न्यायाधिकरण के कार्यों मे विशेष स्थान प्राप्त हो चुका था । जब अभियुक्त एव अभियोक्ता समान रूप से प्रमाण प्रस्तुत करते थे तो उनकी बातो पर ध्यान न देकर न्यायाधिकरण साक्षियो से जिरह करके सच्चाई का पता लगाते

थे या फिर गुप्तचरो द्वारा विवादास्पद तथ्य की वास्तविकता का ज्ञान प्राप्त करते थे।

पूर्वोत्तरार्थ व्याघाते साक्षि वक्तव्यकारणे।

चारहस्ताच्च निष्पाते प्रदेष्टव्य पराजय ॥ (अधिकरण ३, अध्याय १)

गवाहो की योग्यता और व्यवहार के सम्बन्ध मे

न्यायाधिकरण के कार्यकलाप मे साक्षियो की स्थिति बहुत महत्त्वपूर्ण हो गयी थी। समाज मे मुकदमेबाजी ने सिर उठा लिया था और एक दूसरे के प्रति विरोध की भावनाओ से प्रेरित व्यक्ति भी न्यायधिकरण की शरण लेने लगे थे। उनके मिथ्या अभियोग भी नियमो के अन्तर्गत रहने के कारण न्यायाधिकरण के लिए जटिल परिस्थिति पैदा करते थे, जिससे साक्षियो की आवश्यकता कदम-कदम पर अनुभव होती थी। प्रत्येक विवाद का आमतौर पर और ऋण-सम्बन्धी विवादो का विशेष रूप मे निबटारा साक्षियो की गवाही के आधार पर होता था। उस समय तक यह सभव नही हो पाया था कि प्रत्येक विवाद का लिखित रूप प्रस्तुत किया जा सके। परन्तु साक्षी ऐसे व्यक्ति ही रखे जाते थे जो समाज मे प्रतिष्ठित स्थान रखते हो, पवित्र आचरण के हो और यथासभव दोनो पक्षो के लिए मान्य हो। केवल एक साक्षी पर्याप्त नही समझा जाता था। निम्नलिखित व्यक्ति साक्षी नही हो सकते थे—

अभियोगी तथा अभियुक्त का साला, सहायक, आबद्ध (दूसरे पर आश्रित) ऋण लेने और देने वाला, अत्यधिक कर्ज से दबा हुआ, शत्रु, अगहीन तथा राज्य की ओर से दण्डित।

निम्नलिखित व्यक्ति अपने ही जैसे के साक्षी हो सकते थे, सर्वसाधारण के नही—राजा, वेदपाठी ब्राह्मण, गाँव का मुखिया, कोढी, पतित, चाण्डाल, नीच कर्म करनेवाला, अन्धा, बहरा, गूंगा, अहकारी, स्त्री और राजकर्मचारी। परन्तु शारीरक दण्ड, चोरी और व्यभिचार के मामलो के अलावा, शत्रु, साला, और सहायक को छोड कर शेष लोग साक्षी हो सकते थे। छिपे हुए गुप्त मामलो के अभियोगो मे स्त्री राजा और तपस्वी छोड कर बाकी लोग अकेले अकेले भी गवाह हो सकते थे यदि उन्होने स्वय अपराध देखा या सुना हो।

मालिक नौकरो के, आचार्य शिष्यो के, माता-पिता अपने पुत्रो के और इसी प्रकार नौकर मालिक के, शिष्य आचार्य के तथा पुत्र अपने माता-पिता के गवाह नही हो सकते थे।

साक्षी यदि ब्राह्मण होता था तो उसके हाथ मे जलपूर्ण घडा दे कर अथवा अग्नि के पास उसे खडा करके शपथ दिलाई जाती थी— जो कुछ कहूँगा सच-सच कहूँगा।

(तत्र ब्राह्मण ब्रूयात्-सत्य ब्रूहीति)

साक्षी यदि क्षत्रिय एव वैश्य होते थे तो उनसे शपथ मे कहलाया जाता था कि—"मै सत्य न कहूँ तो मेरे समस्त यज्ञो तथा सभी पुण्य कार्यों का फल नष्ट हो जाए, शत्रु सेना मुझे पराजित कर दे और मै भिक्षा पात्र लेकर भीख माँगता फिरूँ।"

(राजन्य वैश्य वा मा तवेष्टा पूर्त्त फल कपालहस्त शत्रुबल भिक्षार्थी गच्छेरिति)

शूद्र साक्षी से शपथ दिलाई जाती थी कि—

"असत्य कहने पर मेरे जन्म-जन्मान्तरो के सुकर्मों का फल राजा को मिले और उसके बुरे कर्मों का फल मै भोगूँ। झूठ बोलने पर मुझे दण्ड भी मिले और जेल भी भेजा जाए। बाद मे सारी बातें तो मालूम हो ही जाएँगी और फिर भी मै सच न कहूँ तो पूरा दण्ड दिया जाए।

गवाहो मे मतभेद होने पर न्यायाधिकरण जिसे न्यायसगत, सत्यवादी एव पवित्र आचरण का समझता था उसी की गवाही पर फैसला दे देता था। गवाहो के अल्पमत एव बहुमत का भी ध्यान रखा जाता था।

अभियोक्ता यदि मूर्ख हो और उसकी मूर्खता के कारण अभियोग मे त्रुटि रह जाती थी तो न्यायाधिकरण साक्षियो के मत के आधार पर भी विवाद का निर्णय कर सकता था।

(बालिश्यादभियोक्तुर्वा दुःश्रुत दुर्लिखित प्रेताभिनिवेश वा समीक्ष्य साक्षि प्रत्ययमेव स्यात्)

मिथ्यावादी साक्षियो को उनके अपराध के अनुसार कडे से कड़ा आर्थिक दण्ड दिया जता था। शुक्राचार्य के अनुयायियो का यही मत था। मनु के

अनुयायियो का भी यही मत था और आचार्य बृहस्पति के अनुयायी कूट साक्षियो को तड़फा-तड़फा कर मारने की पैरवी करते थे। परन्तु आचार्य कौटल्य इस प्रकार के कठिन दण्डो का विरोध करते थे। उनका तर्क था कि "कोई भी साक्षी पूरी बात जानता हो यह कैसे सभव हो सकता है ? जितना जानते है न्यायाधिकरण की सहायता के लिए, बताते है। उनकी बात सुनकर सत्य का अश स्वीकार कर लेना चाहिए । हाँ, यदि वे जानबूझ कर सत्य पर आवरण डालते हो तो दण्डनीय है।'

साक्षी आमतौर पर ऐसे व्यक्ति रखे जाते थे जो सम्बद्ध घटना के समीपस्थ हो। परन्तु न्यायाधिरकण को यह अधिकार था कि वह दूर गये साक्षियो को भी बुला सकता था। और इसके लिए राज्य के आदेश का सहारा लिया जा सकता था।

देशकालाविदूरस्थात् साक्षिण प्रतिपादयेत् ।
दूरस्थानप्रसादान्वा स्वामिवाक्येन साधयेत ।

न्यायाधिकरण को अपनी ओर से समन (आदेश) निकाल कर साक्षियो को बुलाने का अधिकार नही था।

विशेष रूप से आर्थिक विवादो का निबटारा केवल साक्षियो की गवाही पर निर्भर करता था। इसलिए समाज मे यह प्रथा प्रचलित थी कि प्रत्येक व्यवहार साक्षियो की देखरेख मे होता था और उसमे देश काल तथा साक्षियो आदि का स्पष्ट एव पूर्ण उल्लेख किया जाता था।

समाज मे व्यक्तिगत सम्पत्ति और उसकी चेतना ने पूरी तरह पाँव पसार लिए थे और पूरे समाज के आर्थिक ढाचे मे कुटुम्बकालीन या दास प्रथा कालीन व्यवस्था के आर्थिक अवशेष केवल परिपाटी के रूप मे कही-कही प्रचलित थे। ऋण लेने और देने के साथ-साथ अपनी सम्पत्ति गिरवी रखना, उसे किसी के यहाँ धरोहर के रूप मे रखना या बन्धक रूप मे उससे लाभ उठाना आदि समाज मे इतने प्रबल वेग से प्रचलित था कि यही कार्य करनेवाले लोगो का एक खासा अच्छा वर्ग पैदा हो गया था जिनकी जीविका का मुख्य साधन सूदखोरी करना और बन्धक आदि रखना था। इसीलिए, कौटल्य ने अपने अर्थशास्त्र मे विस्तार के साथ विचार किया है तथा सामाजिक नियम निर्धारित किये हैं।

व्यक्तिगत सम्पत्ति और उसके बंटवारे का सिद्धान्त

जिनके माता-पिता दोनो जीवित हो या केवल पिता जीवित हो, वे पुत्र सम्पत्ति के मालिक नही समझे जाते थे। पिता की मृत्यु के पश्चात् वे पैतृक सम्पत्ति का आपस मे बँटवारा कर सकते थे। परन्तु यदि कोई भाई अपने ही द्वारा अर्जित धन से सम्पत्ति इकट्ठी करता था और इस कार्य मे पैतृक धन का प्रयोग नही करता था तो अन्य भाइयो को उस सम्पत्ति का बँटवारा करके हिस्सा प्राप्त करने का अधिकार नही था। पिता की सम्पत्ति का आपस मे बँटवारा न करके सामूहिक परिवार के रूप मे रहनेवाले भाई चार पीढी तक भी यदि बँटवारा करना चाहते थे तो उन्हे सम्पत्ति मे समान भाग मिलता था। परन्तु इसके बाद बँटवारा करने पर समानता के आधार पर नही प्रत्युत् व्यक्तियो की सख्या के आधार पर सम्पत्ति का अश मिलता था। पिता से सम्पत्ति न मिलने पर अथवा बँटवारे के बाद इकट्ठा काम करने वाले भाई अलग होते समय फिर से समान बँटवारे के हकदार समझे जाते थे। व्यक्तियो की योग्यता एव कार्यक्षमता को प्रोत्साहन देने के लिए अधिक कार्य करनेवाले व्यक्ति को सम्पत्ति का थोडा हिस्सा अधिक दिया जाता था। पुत्रहीन व्यक्ति की सम्पत्ति उसके सगे भाई अथवा उसके साथ मिल कर कार्य करनेवाले व्यक्तियो (सहजीविन) को मिल जाती थी। पुत्रवान व्यक्तियो की सम्पत्ति उसके पुत्रो अथवा उन लडकियो को मिल जाती थी जो पहले चार धार्मिक विवाहो से उत्पन्न हो। उनके अभाव मे पिता मालिक समझा जाता था। पिता के न होने पर उसके भाई एव भतीजे मालिक थे।

एक सामाजिक प्रथा प्रचलित थी कि पिता की उपस्थिति ही उसकी पत्नी से अनेक पुत्र दूसरे पिताओ से उत्पन्न हो सकते थे और उनका सम्पत्ति मे अधिकार समझा जाता था। कौटल्य ने व्यवस्था दी है कि उनके मूल पिता को अपने जीवन काल मे ही पुत्रो मे सम्पत्ति के बँटवारे की व्यवस्था कर देनी चाहिए। अन्यथा उपपिताओ से उत्पन्न सन्तानो को सम्पत्ति मे भाग मिलना कठिन हो जाता था। जो पिता पुत्रो मे किसी एक के प्रति पक्षपात करता था उसे बुरी दृष्टि से देखा जाता था। वह अकारण किसी पुत्र का भाग भी नही

मार सकता था। पिता के न रहने पर बडे भाई का यही कर्त्तव्य समझा जाता था कि वह छोटो को समान हिस्सा दे, उनकी देखभाल करे और यदि वे असन्मार्ग का अनुसरण करते हो तो रोक दे।

बालिक (प्राप्त व्यवहार) होने पर ही सम्पत्ति मे हिस्सा मिलता था। न,बालिग की सम्पत्ति के सरक्षक उसके मामा अथवा ग्राम-वृद्ध माने जाते थे और यही प्रथा उन लोगो के लिए भी थी जो परदेश चले जाते थे। विवाहित बडे भाई अपने छोटे भाइयो के विवाह आदि का व्यय वहन करते थे। अविवाहित बहनो के विवाह तथा दहेज आदि का प्रबन्ध करते थे। ऋण तथा आभूषणो को भाइयो मे समान मात्रा मे बाँट देता था। इस सम्बन्ध मे आचार्य कौटल्य ने व्यवस्था दी है कि बँटवारा साक्षियो के सामने होना चाहिए, मनमाने रूप मे नही। एकान्त मे किया गया बँटवारा छलमात्र समझा जाता था। यदि बँटवारे के बाद नयी सम्पत्ति का पता चलता था या बँटवारे मे ही अन्याय हो जाता था तो पीडित व्यक्ति को दुबारा बँटवारा करवाने का अधिकार था।

समाज मे गिरे हुए, या उनसे पैदा हुए और नपुसको को सम्पत्ति का भाग नही मिलता था। मन्द बुद्धि (जड) उन्मत्त, अन्धे, और कोढियो को भी भाग नही मिलता था। परन्तु ऐसे अशक्त व्यक्तियो की स्त्रियो मे यदि उनके बन्धु-बान्धव सन्तान उत्पन्न कर देते थे तो सन्तानो को सम्पत्तियो मे हिस्सा पाने का अधिकारी समझा जाता था।

तेषा च कृतदाराणा लुप्ते प्रजनने सति।
सृजेयुर्बान्धवा पुत्रा स्तेषामशात् प्रकल्पयेत् ॥ (अध्याय ३, अध्याय ५)

सम्पत्ति के बँटवारे के सम्बन्ध मे एक प्रथा यह भी प्रचलित थी कि यद्यपि पिता की सम्पत्ति के उत्तराधिकारी उसके सभी लडके होते थे परन्तु फिर भी बडे लडके को सम्पत्ति का कुछ अधिक भाग दिया जाता था ताकि वह पिता के उन कर्त्तव्यो का पालन करा सके जिन्हे पिता जीवित होते तो कार्यान्वित करते।

इसी प्रकार ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य तथा शूद्र पत्नियो से उत्पन्न पुत्रो को क्रमश न्यून होता हुआ भाग मिलता था। परन्तु ब्राह्मण के घर मे यदि केवल ब्राह्मणी तथा क्षत्राणी, क्षत्रिय के घर मे केवल क्षत्राणी तथा वैश्या और वैश्य

के घर में केवल वैश्या तथा शूद्रा पत्नियाँ ही होती थी तो उनकी सन्तानो को पिता की सम्पत्ति का समान भाग मिलता था।

फौजदारी सम्बन्धी कानून

सामन्तवाद अपने विकास के साथ-साथ समाज मे अनुशासन कायम रखने का प्रयत्न कर रहा था और समाज की प्रत्येक क्रिया मे नियमो का बन्धन डाल कर उसे नियमन मे रख रहा था। फौजदारी सम्बन्धी कुछ घटनाएँ और विवाद ऐसे थे जिनका सीधा सम्बन्ध व्यक्तिगत सम्पत्ति से था और कुछ घटनाए तथा विवाद ऐसे थे जिनका सम्बन्ध व्यक्तिया के स्वभाव से था। सामन्तवाद सभी को एक धारा मे मोड कर समाज मे शान्ति एव व्यवस्था की स्थापना कर रहा था और इसके लिए प्रत्येक अपराध की सामाजिक तथा धामिक विवेचना करके समाज को एक सूत्र मे बाँध रहा था।

नीचे के अध्यायो मे व्यक्तिगत सम्पत्ति तथा मानव स्वभाव सम्बन्धी सभी सामाजिक अपराधो के सम्बन्ध मे जो प्रचलित नियम तथा दण्ड विधान थे उनकी सक्षिप्त रूपरेखा दी जाती है—

१ **डाका या साहस**—खुले तौर पर और घोषणा करके किसी की सम्पत्ति का अपहरण करना साहस कहलाता था। छिप कर किसी वस्तु का अपहरण करना या ले कर मुकर जाना चोरी था।

इन अपराधो के सम्बन्ध मे मनु के अनुयायियो का मत था कि साहस या चोरी मे जितना माल गया हो उतना ही और दण्ड अपराधियो को दिया जाए। शुक्राचार्य के अनुयायी दुगना दण्ड देने की पैरवी करते थे। परन्तु आचार्य कौटल्य ने अपराध के अनुसार दण्ड देने की व्यवस्था दी है।

शाक, सब्जी और खाने-पीने की साधारण वस्तुओ का अपहरण करनेवाला को १२ पण से २४ पण तक दण्ड दिया जाता था। लोहा, लकड़ी, रस्सी आदि का अपहरण करने पर २४ से ४८ पण तक, ताँबा, पीतल, काँच और काँसे का अपहरण करने पर ४८ से ९६ पण तक, बडे पशु, मनुष्य, खेत, मकान, हिरण्य और सुवर्ण आदि का अपहरण करने पर २०० पण से ५०० पण तक दण्ड दिया जाता था। पहला पूर्व साहस तथा यह दूसरा मध्यम साहस दण्ड कहलाता था।

इसी प्रकार, स्त्री या पुरुष को जबरदस्ती बाँध कर और उठा कर ले जाना, राजाज्ञा से बँधे किसी व्यक्ति को छुडाकर ले जाना ५०० से १००० पण का अपराध समझा जाता था। इसे उत्तम साहस दण्ड कहते थे।

जो व्यक्ति जानबूझ कर और कह कर साहस कार्य करवाता था उसे करने वाले से दुगना दण्ड दिया जाता था। साहसी व्यक्तियो को हर प्रकार से सहायता, सरक्षण एव प्रोत्साहन देनेवालो को अपराधियो की तुलना मे चौगुना दण्ड दिया जाता था।

आमतौर पर ऐसे साहस कार्यों मे, जहाँ व्यक्तियो की जान न गयी हो और केवल सम्पत्ति को ही हानि हुई हो, अपराधियो से जो दण्ड वसूल किया जाता था वह पीडितो को दे दिया जाता था और राज्य केवल व्याजी आदि के रूप मे अपना कर मात्र वसूल करता था जो कि कुल मिला कर १३ प्रतिशत से अधिक नही होता था।

परन्तु प्रजाओ मे अपराध की मनोवृत्ति बढ जाने एव राज्य की बेईमानी के कारण समाज मे अव्यस्था फैल जाने पर शास्त्रकारो की मर्यादा के अनुसार राज्य को यह कर वसूल करने का भी अधिकार नही था।

प्रजाना दोष बाहुल्याद्राज्ञा वा भाव दोषत ।
रूपव्याज्यवधर्मिष्ठे धर्म्यानुप्रकृति स्मृता ॥

२ **धमकाना और गाली देना**—गाली देना, निन्दा करना और घुडकना वाक्पारुष्य कहलाते थे। वाक्पारुष्य आमतौर पर पाँच बातो को ले कर चलते थे—किसी के शरीर मे ऐब दिखाना, किसी की प्रकृति या ब्राह्मण आदि जाति पर आक्षेप करना, उसके जीविकासाधनो को धिक्कारना, किसी के श्रुत अर्थात् पाण्डित्य की मिट्टी पीटना और किसी के देश की निन्दा करना।

(शरीर प्रकृति श्रु वृत्ति जनपदाना शरीर.पवादेन काणखजादिभि·)

किसी के शरीर की रचना पर आक्षेप करते हुए उसे गजा, काना, लूला या लगडा आदि कह कर गाली देना पहली श्रेणी का वाक्पारुष्य समझा जाता था और इसके लिए तीन पण दण्ड लिया जाता था।

यदि कोई काना, गजा आदि न हो और फिर भी उसे ऐसा कहा जाता था तो दुगना दण्ड लिया जाता था। यदि कोई व्याजस्तुति से ऐसी निन्दा करता था, जैसे काने को समदर्शी और अन्धे को नयनसुख आदि तो उससे चौगुना दण्ड लिया जाता था। अपने से अधिक सम्मानित व्यक्तियो के साथ ऐसा व्यवहार करने पर दुगना दण्ड दिया जाता था। हीनो के साथ ऐसा व्यवहार करने पर आधा। दूसरो की स्त्रियो के साथ ऐसा व्यवहार करने पर भी दण्ड दुगना ही दिया जाता था।

हाँ, यदि कोई प्रतिवाद करता था कि उसने सच्ची बात कही है तथा आक्षेप नही किया है तो उसके सम्बन्ध मे विशेषज्ञो की सम्मति ली जाती थी। कोढ़ी तथा उन्मादी कहने पर चिकित्सको से पूछा जाता था। नपुसक आदि कहने पर स्त्रियो से परीक्षा करवायी जाती थी और यदि ऐसा करना सम्भव न होता था तो उसके मलमूत्र मे यह देख कर कि फेन उठते है या नही तथा मल पानी मे डूब जाता है या नही उसकी नपुसकता की परीक्षा की जाती थी।

जाति को लेकर निन्दा करने एव गाली देने वालो को तीन से बारह पण तक दण्ड भरना पडता था। यदि ब्राह्मण का इस प्रकार तिरस्कार किया जाता था तो दण्ड अधिक मिलता था।

जो लोग गाने, बजाने, अध्ययन एव इसी प्रकार के विद्या एव ज्ञान सम्बन्धी कार्य करके जीविका चलाते थे उन्हे भी ऐसा ही दण्ड दिया जाता था। यदि कोई व्यक्ति केवल धमकाता था जैसे कि मै तेरे हाथ-पाँव तोड दूंगा, तेरा दिमाग दुरुस्त कर दूंगा—परन्तु उसे पीटे नही और न उसका सिर फोडे तो उसे भी यही दण्ड दिया जाता था एव ऐसा करने मे सर्वथा असमर्थ व्यक्ति यदि केवल क्रोध आदि के कारण कह भर देता था तो उसे भी यही दण्ड मिलता था।

हाँ, यदि कोई व्यक्ति पुरानी शत्रुता के कारण इस प्रकार की धमकी देता था और उसे कार्यान्वित करने की क्षमता भी रखता था तो उसे आय के अनुसार अधिक दण्ड दिया जाता था।

यदि कोई व्यक्ति स्वय ही अपने देश, जाति एव कुल तथा ग्राम की निन्दा करता था तो वह प्रथम साहस दण्ड का भागी समझा जाता था। अपनी जाति

एव समाज की अनवरत निन्दा करने वाले को मध्यम साहस और देव मन्दिरो की निन्दा करनेवालो को उत्तम साहस दण्ड दिया जाता था।

स्वदेश ग्रामयो पूर्व मध्यम जाति सघयो ।

आक्रोशाद् देवचैत्यानामुत्तमे दण्ड मर्हति ।। (अधि० ३, अध्याय १८)

३ **मारपीट या दण्डपारुष्य**—किसी को धक्का देना, डण्डा या हाथ उठाकर मारना, अथवा मारने की धमकी देने के लिए हाथ या डण्डा उठाना दण्डपारुष्य कहलाता था। नाभि के नीचे राख, कीचड, एव धूल आदि फेंक कर मारने पर तीन पण दण्ड मिलता था। किसी पर थूकना, धक्का देना, गन्दे हाथो या पाँवो से छूना ६ पण दण्ड का अपराध था। उल्टी, मल-मूत्र आदि फेंकने पर १२ पण। यदि ये ही अपराध नाभि से ऊपर किये जाते थे तो दुगना दण्ड मिलता था। सिर पर चौगुना, यदि पीडित व्यक्ति समान वर्ग तथा जाति का हो। परन्तु ये ही अपराध यदि सम्मानित व्यक्तियो के प्रति किये जाते थे तो दण्ड दुगना हो जाता था। नीच लोगो के प्रति आधा। दूसरे व्यक्ति की स्त्री के प्रति ऐसा अपराध करने पर भी दुगना दण्ड देना पडता था।

किसी को पकड कर मसलना, बाहो मे घोट कर रगडना, मुँह काला करना, जमीन पर घसीटना और नीचे डाल कर उसके ऊपर चढ बैठना प्रथम साहस दण्ड का अपराध था। इसका आधा भूमि पर गिरा कर भाग जाने वाले को मिलता था। शूद्र जिस अग से ब्राह्मण के प्रति अपराध करता था, वही अग काट लिया जाता था।

यदि साधारण लोगो को वह हाथ से धकेलता था या झटका देता था तो तीन से बारह पण तक दण्ड भरता था। पैर से अपराध करने पर दुगना। दु खोत्पादक सुई आदि से ऐसा करने पर प्रथम साहस और प्राणो का भय उपस्थित करने वाले अपराध पर मध्यम साहस।

मार-पीट मे खून न निकलने पर २४ पण दण्ड दिया जाता था। खून निकल आने पर ४८ पण। यदि बिना खून निकले ही गुप्त चोट से किसी को अधमरा कर दिया जाता था या उसके हाथ-पर के जोड खोल दिये जाते थे तो प्रथम साहस दण्ड मिलता था। हाथ-पैर तोड देने पर या नाक और कान

काट लेने पर भी यही दण्ड दिया जा था। जो अपराधी किसी के ऐसे अगो को भग कर देता था जिनसे उसकी आजीविका चलती हो तो उसे मध्यम साहस दण्ड भरना पडता था और यदि बहुत से व्यक्ति मिल कर किसी के प्रति ऐसा अपराध करते थे तो सभी को दुगना दण्ड भरना पडता था।

कुछ आचार्यों का यह मत था कि पारुष्य (फौजदारी) के अभियोग मे जो पक्ष न्यायाधिकरण मे पहले आता था उसे पीडित समझा जाए। परन्तु आचार्य कौटल्य की व्यवस्था के अनुसार पहले आने मात्र से किसी को पीडित नही माना जा सकता। वे साक्षियो की गवाही के आधार पर ही सत्य-असत्य के निर्णय करने पर बल देते हैं। साक्षियो के न मिलने पर अन्य कारणो से अपराध का पता लगाया जाता था।

दूसरो की दीवार धक्का देकर तोडने पर तीन से छ पण दण्ड एव हर-जाना देना पडता था।

छोटे जानवरो को लकडी मारने पर एक से दो पण, खून निकल आने पर दो से चार पण, गाय-भैंस आदि बडे पशुओ के प्रति ऐसा करने पर दुगना दण्ड दिया जाता था और चिकित्सा का खर्च भी लिया जा था।

नगर के उपवनो तथा छायादार वृक्षो को हानि पहुँचाने पर ६ पण, छोटे पौधो को १२ पण, छोटी शाखाओ के काटने पर २४ पण, तना काटने पर प्रथम साहस और पेड को जड से काट देने पर मध्यम साहस दण्ड दिया जाता था। फल, फूल और छायावाली झाडियाँ नष्ट करने पर इसका आधा दण्ड और पवित्र स्थानो-देवताओ आदि के वृक्षो का विनाश करने पर भी वही दण्ड दिया जाता था।

निम्नलिखित वृक्षो को हानि पहुँचाना विशेष रूप से दण्डनीय समझा जाता था---सीमाओ के वृक्ष, मन्दिरो मे खडे वृक्ष, राज्य की ओर से सीमा सकेत के रूप मे लगाये गये वृक्ष तथा सरकारी वन विभाग के वृक्ष।

> सीमावृक्षेषु चैत्येषु द्रुमेष्वालक्षितेषु च।
> त एव द्विगुणा दण्डा. कार्या राजवनेषु च॥

वनो में वृक्षारोपण का कार्य विशेष महत्त्व रखता था। राज्य की ओर से आजकल की भाँति ही सरकारी वृक्षो पर चिह्न अकित किये जाते थे जो कि "आलक्षितेषु" शब्द से प्रकट होता है।

४ फौजदारी के फुटकर अपराध—राज्य की ओर से नियत स्थान से भिन्न किसी स्थान पर जुआ खेलने पर १२ पण दण्ड मिलता था। यही दण्ड उन जुवाडियो से लिया जाता था जो खेल मे जीत हासिल करने के लिए तरह-तरह के छल-कपट करते थे।

यही नियम मुर्गा, तीतर और मेढे आदि जानवरो को आपस मे लडा कर जुआ खेलने वाले व्यक्तियो से लिया जाता था—यदि वे राजकीय नियमो का उल्लघन करते थे। परन्तु विद्या और शिल्प की होड से हार-जीत करने वालो को जुए की श्रेणी मे नही रखा जाता था।

निम्नलिखित अपराध करने पर १२ पण दण्ड दिया जाता था—

यदि कोई व्यक्ति अपने यहाँ रखी धरोहर को समय पर न लौटाये, ब्राह्मण से नाव या घाट का किराया माँगे और अपने घर के समीपस्थ ब्राह्मण को छोड कर दूरस्थ ब्राह्मण को निमत्रण दे। नीचे लिखे अपराधो मे ४८ पण दण्ड देना पडता था—जो प्रतिज्ञात धन न लौटाए, भाई की स्त्री को हाथ से पकडे, दूसरे व्यक्ति द्वारा रोकी गयी वेश्या के साथ समागम करने की चेष्टा करे, दूसरे के द्वारा खरीदे हुए पण्य को दाम बढा कर स्वय खरीदे, राजचिह्नो से अकित वास्तु पदार्थों को क्षति पहुँचाये और सामन्तो के चालीस कुलो तक के व्यक्तियो को कष्ट पहुँचाये।

निम्नलिखित अपराधो मे सौ पण दण्ड दिया जाता था—

वश परम्परागत सम्पत्ति का अपव्यय करना, स्वतत्र रूप से रहने वाली विधवा के साथ बलात्कार करना, चाण्डाल स्त्री का स्पर्श करना, पडोसी के ऊपर आपत्ति आने पर सुनते ही उसकी सहायता को न दौडना, पडोसी के यहाँ अकारण आना-जाना तथा यज्ञ एव श्राद्ध आदि के अवसरो पर बौद्ध भिक्षुओ एव शूद्रा सन्यासिनियो को भोजनादि करवाना।

निम्नलिखित अपराधो पर प्रथम साहस दण्ड दिया जाता था—

जो न्यायाधिकरण की आज्ञा के बिना ही साक्षी के रूप मे शपथ ले और

फैसला करवाने का प्रयत्न करे, अनधिकारी को अधिकार दे, छोटे पशुओ का पुस्त्व नष्ट करे या उन्हे बधिया बनावे, दवा देकर दासी का गर्भ गिराये, पिता-पुत्र, पति-पत्नी, भाई-बहन, मामा-भाजा और गुरु-शिष्य, बिना पतित हुए एक दूसरे का परित्याग करे। व्यापारी सघ का कारवाँ यदि बीमार साझी को मार्ग एव बीच के गाँव मे छोड दे। परन्तु यदि ऐसे व्यक्ति को जगल मे छोड दिया जाता था तो मध्यम साहस दण्ड दिया जाता था। रास्ते या जगल मे बीमार साझी का वध कर देने पर उत्तम साहस दण्ड मिलता था।

ऐसे व्यक्तियो को एक हजार पण दण्ड मिलता था जो निरपराध व्यक्तियो को गिरफ्तार करवाते थे, कैदी को छुडवाते थे और नाबालिग बच्चो को कारागार मे डलवाते थे।

इस प्रकार के अपराधियो को दण्ड देते समय अनुग्रह किया जाता था जो दानी, तपस्वी, बीमार, बुभुक्षित, प्यासा, मार्ग चलने से थका हुआ, परदेशी और जो अनेक बार दण्ड भुगत चुका हो तथा जो अकिचन एव साधनहीन हो गया हो।

न्यायाधिकरण का यह आवश्यक कर्त्तव्य समझा जाता था कि वह निम्नलिखित व्यक्तियो के हितो की स्वय पैरवी करे तथा उन्हे सरक्षण दे—

देवसम्पत्ति, ब्राह्मण, तपस्वी, स्त्री, बालक, बूढा, बीमार तथा वह व्यक्ति जो स्वय न्यायाधिकरण मे उपस्थित हो कर अपने पक्ष का समर्थन करने मे असमर्थ हो।

न्यायाधिकरण (धर्मस्थ) का यह कर्त्तव्य समझा जाता था कि वह छल-कपट से रहित हो, निष्पक्ष भाव से सब के हितो का निरीक्षण करे, उसे प्रजा का विश्वास प्राप्त होना चाहिए एव प्रजाओ मे उनकी लोकप्रियता होनी चाहिए।

वर्णव्यवस्था समाज को बन्धन में न डाल सकी

कौटल्य कालीन भारत मे सामन्तवाद के उदय तथा विकास के साथ-साथ यद्यपि परम्परावादी शास्त्रकार एव राजतन्त्र समाज को वर्ण व्यवस्था के सकुचित बन्धन मे डालने का हजार प्रयत्न करते थे, परन्तु फिर भी समाज अपनी ही

गति से चल रहा था और इन बन्धनो की कदम-कदम पर उपेक्षा करता था। अन्त मे समाज मे इतनी बडी सख्या मे अवान्तर जातियाँ एव वर्णसकर जातियाँ पैदा हो गयी थी कि यह वर्णव्यवस्था के सकुचित सामाजिक चौखटे मे उन्हे बाँध कर रखना सर्वथा असमव हो गया था और वर्णसकर जातियो को आर्थिक अधिकारो से वचित रख सकना कठिन हो रहा था।

स्त्री-पुरष सम्बन्धो के बारे मे जैसी धारणाएं आजकल प्रचलित है वैसी कौटल्य कालीन भारत मे नही थी। इसी प्रकार, पारिवारिक सम्पत्ति पर स्वामित्व की धारणाओ मे भी अन्तर था और आज की भाँति केवल एक-आध प्रकार के पुत्रो को ही पारिवारिक सम्पत्ति पर स्वामित्व का अधिकार नही मिलता था बल्कि इसके लिए अधिक व्यापक नियम प्रचलित थे।

विस्तृत परिचय देने से पहले पुत्रो की कुछ मुख्य-मुख्य श्रेणियो का नामोल्लेख करना अधिक सुविधाजनक होगा। पुत्रो की प्रमुख श्रेणियाँ निम्नलिखित थी—

औरस, क्षेत्रज, द्विपितृक या द्विगोत्रक, गूढज, कानीन, सहौढ, पौनर्भव दायाद, दत्तक, उपगत, कृतक और क्रीत आदि।

ये भेद केवल समान वर्ण मे उत्पन्न पुत्रो के है, परन्तु विभिन्न वर्णो मे यानी भिन्न वर्ण की माता और भिन्न वर्ण के पिता के सम्पर्क से उत्पन्न पुत्रो के भेद अगणित है और उनमे पारिवारिक सम्पत्ति के विभाजन सम्बन्धी नियम बहुत अधिक जटिल एव समस्यापूर्ण थे।

उन दिनो इस प्रश्न पर बहुत अधिक विवाद था कि यदि पर पुरुष की पत्नी मे किसी अन्य पुरुष के सम्पर्क से पुत्र हो जाता है तो वह किसकी सन्तान माना जाए और उसे किसकी सम्पत्ति मे से दायभाग मिलना चाहिए। इस सम्बन्ध मे अधिकाश एव प्राचीन आचार्यो का मत था कि जैसे दूसरे के खेत मे बोई फसल का मालिक बोनेवाला नही प्रत्युत् खेत का मालिक होता है उसी प्रकार उस बच्चे का पिता नही बल्कि उसकी माता का पति ही उसका स्वामी माना जाना चाहिए तथा वह उसी की सम्पत्ति का अधिकारी माना जाए। परन्तु दूसरे और अर्वाचीन काल के आचार्यो को यह मत मान्य नही था। वे कहते थे कि यदि इस स्त्री के पति की प्रार्थना पर दूसरा पुरुष उसकी स्त्री के

साथ सम्पर्क करता है तो उत्पन्न पुत्र स्त्री के पति का माना जा सकता है, अन्यथा वह उसी पुरुष का है जिसके सम्पर्क से उत्पन्न हुआ है।

वास्तव मे देखा जाए तो इस विवाद के दो मुख्य कारण थे—एक तो इससे स्त्री और पुरुष के पारस्परिक सम्बन्धो की पवित्रता पर आघात लगता था और समाज मे अभिसारिकावाद को भारी प्रोत्साहन मिलता था जिससे कि सामाजिक व्यभिचार को खुली छूट मिलती थी एव दूसरी बडी आपत्ति थी पारिवारिक सम्पत्ति का बँटवारा। दूसरे पुरुष के सम्पर्क से उसकी स्त्री मे उत्पन्न बालक पहले सम्पत्ति का विभाजन न करके जिसकी स्त्री मे उत्पन्न हुआ है उसी की सम्पत्ति का विभाजन करता था। इस सामाजिक परिपाटी पर प्रतिबन्ध लगाने के लिए ये अर्वाचीन आचार्य इस सिद्धान्त का प्रतिपादन करते थे कि यद्यपि दूसरे की स्त्री से सम्पर्क करने के सिद्धान्त का निषेध नही किया जा सकता परन्तु बालक का स्वामी वही माना जाना चाहिए जिसके सम्पर्क मे वह उत्पन्न हुआ है।

आगे चल कर इस विवाद ने उग्र रूप धारण किया और महामात्य कौटल्य ने इन दो परस्पर विरोधी सिद्धान्तो मे सामञ्जस्य स्थापित करने का प्रयास किया। उन्होने कहा कि—"**विद्यमानमुभयमिति कौटल्य ।**" अर्थात् समाज मे दोनो ही प्रकार की रीतियाँ चल रही है तथा परिस्थितियो के अनुसार बालक का स्वामी उसकी माँ का पति भी हो सकता है और वह परपुरुष भी जो वास्तव मे बालक का पिता है।

परन्तु इससे भी असली विवाद का अन्त नही हो पाया। एक बात तो स्पष्ट ही है कि मध्यकालीन भारत मे विवाह प्रणाली इतनी सकुचित एव रूढिगत नही थी कि विशिष्ट पुरुष को किसी विशिष्ट नारी के साथ आधुनिक मान्यताओ की भाँति सयुक्त कर सके।

ऊपर वर्णित पुत्रो के भेदो के यदि वास्तविक अर्थों की विवेचना की जाए तो प्राचीन काल के स्त्री-पुरुष सम्बन्धो की आशिक झलक तो मिल ही सकती है। उदाहरण के लिए—

अपनी विधिवत् विवाहित स्त्री मे अपने ही द्वारा उत्पन्न पुत्र औरस कहलाता था।

परन्तु अपनी ही स्वीकृति या प्रार्थना पर अपनी स्त्री मे अपने सगोत्र एव विभिन्न गोत्र के किसी पुरुष द्वारा उत्पन्न कराया गया पुत्र क्षेत्रज कहलाता था और परिस्थितियो के अनुसार वह अपनी माता के पति की सम्पत्ति का स्वामी होता था।

(सगोत्रेणान्य गोत्रेण वा नियुक्तेन क्षेत्रजात क्षेत्रज पुत्र ।)

यदि उत्पन्न करने वाले पुरुष का कोई दूसरा पुत्र नही होता था तो वह उसकी सम्पत्ति का स्वामी होता था और अपनी माता के पति की सम्पत्ति का भी वही स्वामी माना जाता था।

गूढज पुत्र वह कहलाता था जो अपने मातृकुल मे रहती हुई माता मे मातृकुल के ही किसी पुरुष के सम्पर्क से उत्पन्न हुआ हो। इस पुत्र को अच्छी दृष्टि से नही देखा जाता था और वह आमतौर पर मामा या छोटे नाना का पुत्र समझा जाता था। परन्तु वह सम्पत्ति से वचित नही किया जाता था और उसका अधिकार पितृकुल की सम्पत्ति मे नही बल्कि मातृकुल की सम्पत्ति मे ही माना जाता था। वह बालक पालने के लिए प्राय दूसरो को दे दिया जाता था और या फिर चुपके से देवालय मे छोड दिया जाता था। ऐसी स्थिति मे वहाँ से उठा कर जो उसका पालन-पोषण करता था उसी की सम्पत्ति का वह अधिकारी माना जाता था।

(तत्सधर्मा बन्धूनां गृहे गूढ जातस्तु गूढज)

इसी प्रकार, जो लडका अविवाहित कन्या, स्त्री के गर्भ से उत्पन्न होता था वह कानीन कहलाता था। वह उसी पुरुष की सम्पत्ति का भागीदार समझा जाता था जिसके सम्पर्क से वह जन्म लेता था।

(कन्यागर्भ कानीन)

गर्भवती का विवाह होने पर जो बच्चा जन्म लेता है उसे सहोढ (खडी बोली मे कढेलड) कहते थे और यद्यपि उसकी माता का पति उसका पिता नही होता था, फिर भी वह उसकी सम्पत्ति का अधिकारी माना जाता था।

जब एक विवाहित पुरुष से बच्चा न होने पर किसी स्त्री का पहले पति के रहते हुए दूसरे पुरुष के साथ विवाह कर दिया जाता था और इस प्रकार उसके

दो पति हो जाते थे तो इस द्विपतिका स्त्री से उत्पन्न पुत्र पौनर्भव कहलाता था। वह दोनो की सम्पत्ति का अंशभागी माना जाता था।

यदि कोई पिता, भाई अथवा चाचा अपनी लडकी, बहन या भतीजी में स्वय पुत्र उत्पन्न करता था तो वह 'दायाद' कहलाता था और मातृकुल सम्पत्ति मे वह उचित भाग का स्वामी माना जाता था।

(स्वयजात पितृबन्धूना च दायाद)

इस प्रकार, किसी बालक के माता-पिता हाथ मे जल ले कर शास्त्रीय पद्धति से जब किसी दूसरे को उसे सौप देते थे तो वह दत्तक कहलाता था एव उसका अपने पिता की सम्पत्ति पर नही बल्कि लेनेवाले की सम्पत्ति पर अधिकार माना जाता था।

जो स्वय किसी को पिता के रूप मे स्वीकार कर लेता था या उस बालक के बन्धु-बान्धव किसी विशेष परिस्थिति मे उसे किसी के पास छोड जाते थे तो वह बालक 'उपगत' कहलाता था एव उसका सम्पत्ति पर आशिक अधिकार माना जाता था।

जिसे स्वय पुत्र के रूप मे स्वीकार कर लिया गया हो वह कृतक पुत्र एव जिसे पैसा देकर खरीदा गया हो वह क्रीतपुत्र कहलाता था।

औरस पुत्र उत्पन्न हो जाने पर दूसरी सवर्ण स्त्री मे उत्पन्न दूसरे पुत्रो को सम्पत्ति का केवल तीसरा भाग मिलता था और यदि वे बालक असवर्ण स्त्री मे उत्पन्न हुए हो तो केवल भोजन-वस्त्र के भागीदार समझे जाते थे।

उस समय तक एक विचित्र सामाजिक प्रथा प्रचलित थी। यदि ब्राह्मण क्षत्राणी को, क्षत्रिय वैश्य स्त्री को और वैश्य शूद्रा को अपने घर मे रख ले अर्थात् विवाह कर ले तो उनसे उत्पन्न सन्ताने सवर्ण ही मानी जाती थीं और दायभाग मे उनका समान हिस्सा समझा जाता था।

पूर्वोक्त पद्धति से पुत्रो के भेद तथा अवान्तर भेदो का निर्णय हो जाने के बाद भी तथा सम्पत्ति विभाजन के। विस्तृत सिद्धान्तो की स्थापना के बाद भी कौटल्य कालीन भारत मे ऐसे निर्विवाद और सर्वमान्य सिद्धान्तो की स्थापना नही हो पायी थी, जिनके आधार पर जटिल सम्पत्ति-विभाजन के सभी विवादो

का निबटारा किया जा सके। इसीलिए, अधिकाश विवादो का निर्णय ग्राम सामन्त एव नगर श्रेष्ठी किया करते थे जो स्थानीय परिस्थितियो को ध्यान मे रखते हुए एसा करते थे। उस समय के कुशल राजनेता और धर्मशास्त्री सभी जनपदो, जातियो और अवसरो पर सम्पत्ति विभाजन के एक ही नियम लागू करते हुए घबराते थे। इस सम्बन्ध मे निर्णयकर्त्ताओ को काफी छूट एव स्वतत्रता दी जाती थी। इसीलिए कौटल्य ने व्यवस्था दी थी कि सम्पत्ति के विभाजन के प्रश्न बहुत जटिल एव महत्त्वपूर्ण है और उनके विवाद का निबटारा उस देश, जाति, धर्म क्षत्र या ग्राम मे प्रचलित रीति-रिवाजो को ध्यान मे रख कर करना चाहिए।

देशस्य जात्या सघस्य धर्मो ग्रामस्य वापि य।
उचितस्तस्य तेनैव दायधर्म प्रकल्पयेत्॥

स्त्री-पुरुष के सामाजिक व पारिवारिक सम्बन्धो को ले कर आज समाज मे जिन विश्वासो तथा धारणाओ को प्रश्रय मिला है वे बाद की ऐतिहासिक परिस्थितियो की देन है और जैसे-जैसे ऐतिहासिक परिस्थितियाँ बदली वैसे-वैसे व्यक्ति, परिवार तथा समाज की रचना सम्बन्धी धारणाओ तथा सामाजिक रूढियो मे परिवर्त्तन होता गया।

इस अवसर पर एक और भी महत्त्वपूर्ण सैद्धान्तिक प्रश्न उठता है। पुरानी वर्ण व्यवस्था के सिद्धान्तो के अनुसार अनुलोम विवाहो मे उत्पन्न सन्तानो को सवर्ण ही माना जाता था एव सम्पत्ति मे अश प्राप्त करने का उनका धर्म सम्मत अधिकार समझा जाता था। उदाहरण के लिए यह बताया जा चुका है कि यदि ब्राह्मण ब्राह्मणी के साथ-साथ क्षत्राणी से विवाह कर ले, क्षत्रिय-क्षत्राणी के साथ-साथ वैश्य स्त्री से विवाह कर ले और वैश्य शूद्रा से तो ये अनुलोम विवाह माने जाते थे और उनके बच्चे पिता के सवर्ण या सजातीय माने जाते थे, बशर्ते कि वे एक वर्ण से नीचे की स्त्री के साथ न किए गये हो। परन्तु यदि प्रतिलोम विवाह होते थे अर्थात् शूद्र वैश्य स्त्री से, वैश्य क्षत्राणी से और क्षत्रिय ब्राह्मणी से विवाह करता था तो ये विवाह शास्त्र-सम्मत नही माने जाते थे और उनकी

सन्तानो को न तो सजातीय समझा जाता था और न उन्हे सम्पत्ति से अश मिलता था। समाज मे उन्हे धिक्कृत स्थान प्राप्त होता था।

समाज मे सम्मानित स्थानो से गिरे हुए एव पारिवारिक सम्पत्तियो से वचित ये लोग आगे चल कर समाज मे विभिन्न प्रकार की जटिल सामाजिक समस्याओ को जन्म देते है और नट, नर्त्तक, वादक, कुशीलव, और इसी प्रकार के सैकडो-हजारो वर्णो को समाज मे उतार कर लाते है।

अनुलोम असवर्ण निम्नलिखित कहलाते थे—

ब्राह्मण का वैश्य स्त्री से उत्पन्न पुत्र अम्बष्ठ, शूद्रा से निषाद, या पारशव और क्षत्रिय का शूद्रा मे उत्पन्न पुत्र उग्र कहलाता था। कौटल्य ने इन सब के सम्बन्ध मे विस्तार के साथ विचार किया है।

परन्तु प्रतिलोम विवाहो मे उत्पन्न सन्ताने गर्हित समझी जाती थी और यज्ञ तप, अनुष्ठान एव पवित्र कार्यो मे हाथ डालने का उन्हे कोई अधिकार नही समझा जाता था।

शूद्र से ब्राह्मणी मे उत्पन्न पुत्र चाण्डाल, क्षत्राणी मे क्षत्ता एव वैश्य स्त्री मे अयोगव कहलाता था। इसी प्रकार, वैश्य से क्षत्राणी और ब्राह्मणी मे उत्पन्न पुत्र क्रमश मागध और वैदेहक कहलाते थे और क्षत्रिय से ब्राह्मणी मे उत्पन्न पुत्र सूत कहलाता था।

इसी प्रकार, उग्र नामक वर्णसकर जाति के व्यक्ति से निषाद नामक वर्ण-सकर जाति की स्त्री मे उत्पन्न सन्तान कुक्कुट कहलाती थी और निषाद पुरुष के सम्पर्क से उग्र जाति की स्त्री मे उत्पन्न सन्तान को पुल्कस कहा जाता था। अम्बष्ठ नामक वर्णसकर जाति के पुरुष के सम्पर्क से वैदेहक जाति की स्त्री मे उत्पन्न पुत्र वैण और अम्बष्ठ जाति की स्त्री मे वैदेहक पुरुष के सम्पर्क से उत्पन्न पुत्र कुशीलव कहलाता था। उग्र नामक वर्णसकर जाति के पुरुष के सम्पर्क से क्षत्ता जाति की स्त्री मे उत्पन्न पुत्र श्वपाक कहलाते थे।

इन सभी वर्णसकर जातियो को विशेष तप तथा अनुष्ठान आदि करने पर शूद्र जाति का सम्मानित सदस्य बनने का अधिकार मिल जाता था। परन्तु चाण्डाल का उद्धार किसी भाँति सभव नही था।

वास्तव मे देखा जाए तो प्राचीन भारत मे दास प्रथा की समाप्ति के बाद और सामन्तवादी अर्थव्यवस्था के अनुकूल वर्ण व्यवस्था पर आधारित समाज रचना काल मे इन वर्णसकर जातियो के सामने नट, वादक, नर्त्तक और गायक आदि का कार्य करने के अलावा और ग्रामीण अर्थव्यवस्था के अनुरूप, चमडा, लकडी, लोहा एव अन्य धातु सम्बन्धी और शिल्प कार्यों के अलावा जीविका का दूसरा साधन ही कहाँ रह गया था। समाज उन्हे तिरस्कार की दृष्टि से देखता था, व्यक्तिगत सम्पत्तियो के नाम पर उनके पास कुछ भी नही था और विशाल सम्पत्तिधारी वर्गों के मनोरजन एव उत्पादन साधनो मे नित्य नवीनता लाना उनके अस्तित्व के लिए अनिवार्य हो गया था।

ज्यो-ज्यो समाज मे वर्णसकर जातियो की सख्या बढी, तत्कालीन भारत के धर्मशास्त्री कुछ समय तक तो उनकी विवेचना करते रहे और उन्हे नए नाम देकर ऐसा दिखाते रहे जैसे कि समाज वास्तव मे उन्ही के द्वारा निर्द्धारित पगडडी का अनुसरण कर रहा है और जहाँ कही थोडा भटक जाता है वहाँ वे उसे अनुशासन मे बाँध लेते हैं। परन्तु बाद के अनुभव ने उन्हे बता दिया कि यह उनकी आत्मवचना सिद्ध हो रही है तथा वर्णव्यवस्था का कच्चा धागा सामाजिक जीवन के विशाल एव उन्मत्त हाथी को बाँध कर रोक रखने मे अस-मर्थ है। बाद मे जब वर्णसकर जातियो की सख्या गणना तथा विवेचना की शक्ति से बाहर जाने लगी तो इन धर्मशास्त्रियो के हाथ-पाँव फूल गए। वर्ण व्यवस्था की कच्ची दीवार इन वर्णसकर जातियो के अनवरत भूकम्पो के सामने धराशायी होती चली गयी और धीरे-धीरे विस्मृति के अन्ध गह्वर मे विलीन हो गयी।

यद्यपि सामन्तवादी समाज ने इन वणसकर जातियो का तिरस्कार एव बहिष्कार ही किया था, परन्तु यह एक कठोर सत्य है कि सामन्ती समाज की सम्पूर्ण अर्थ-व्यवस्था एव सास्कृतिक जीवन का अभ्युदय इन वर्णसकरो के सहारे चल रहा था और पनप रहा था। इस कथन मे अतिशयोक्ति नही होगी कि कादम्बरी और हर्षचरित के अमर गद्यकार शायद कही इस पदवी को प्राप्त न कर पाते यदि बचपन मे अवारा हो कर नट, नर्त्तक, वादक और कुशीलव

मण्डली मे भरती हो कर देश-देशान्तरो का भ्रमण न करते। महाकवि दण्डी भी इसी सम्पर्क की देन हैं। और सामन्तवाद का ही इसमे क्या दोष है कि जो वर्ग तथा व्यक्ति उसे समृद्ध कर रहे थे, उसकी अर्थव्यवस्था एव सांस्कृतिक जीवन मे चारचाँद लगा रहे थे उन्हीं वर्णसकर जातियो के लोगो को उसने अपग बना दिया था। यह बात तो उससे पहले की समाज-व्यवस्था—दास-प्रथा पर भी लागू होती है जिसने दासो के क्रूर शोषण, क्रदन तथा उत्पीडन पर दास स्वामियो का वैभव बढाया था। यही बात पूँजीवाद भी करता है। मजदूर वर्ग उसे समृद्ध तथा विकसित करता है, परन्तु वह अपनी प्रगति की मात्रा की न्यूनाधिकता के साथ ही मजदूर वर्ग का क्रूर से क्रूरतम शोषण करता है तथा समाज मे उसे दयनीय दशा मे डाल कर रखता है।

भारतीय वर्णव्यवस्था के अन्दर चार वर्णों से भिन्न अवान्तर भेदो की ये श्रणियाँ भयकर सामाजिक विषमता एव उत्पीडन का मूक क्रदन रहती रही है। परन्तु यह सत्य सिद्धान्त स्वीकार करने मे शायद किसी का साहस न हो कि भारतीय सामन्तवाद और सस्कृति ने जिन वर्णसकर जातियो का तिरस्कार किया है, उन्ही के बलिदानो और सुप्रयत्नो का फल भारत की सामन्ती अर्थ-व्यवस्था और सस्कृति का विकास है।

दास प्रथा अन्तिम साँस ले रही थी

कौटल्य कालीन भारत मे दास प्रथा अन्तिम साँस ले रही थी। दासो का स्थान वर्णसकर जातियो, स्वतत्र पेशा दस्तकारो तथा वेतनजीवी मजदूरो ने लेना प्रारम्भ कर दिया था। परन्तु दास प्रथा की इस अन्तिम अवस्था मे भी उनकी दशा बहुत शोचनीय थी। वे बेचे जाते थे, गिरवी रखे जाते थे और उनकी हत्या की जा सकती थी। उनके प्रति अमानवीय व्यवहार किया जाता था और वे किसी न्यायाधिकरण मे जा कर अपने लिए सामाजिक न्याय की याचना नही कर सकते थे। दास अपने स्वामी की व्यक्तिगत सम्पत्ति थे और प्रत्येक स्वामी को अपनी सम्पत्ति के साथ मनमाने ढग से व्यवहार करने की स्वतत्रता थी।

प्राचीन शास्त्रकारो मे कदाचित् कौटल्य ही पहले शास्त्रकार है जिन्होने दासो की दयनीय दशा पर सहानुभूति के साथ विचार किया है और डरते-डरते ही सही परन्तु दृढ सकल्प के साथ ऐसे सामाजिक नियमो की स्थापना की है जिनका आश्रय लेकर दास न्यायाधिकरणो मे जा कर सरक्षण प्राप्त कर सकते थे और उन्हे व्यक्तिगत सम्पत्ति की परिभाषा से निकाल कर स्वतत्र मानव का अधिकार प्रदान किया गया है।

परन्तु फिर भी प्रत्येक आय (स्वतत्र) परिवार अपने यहाँ उदर दास अवश्य रखता था। कौटल्य ने उदर दास को आर्यो का प्राण बताया है (उदर-दासमार्यप्राणम्) इसे छोड कर यदि कोई नाबालिग (अप्राप्त व्यवहार) शूद्र को किसी के यहाँ गिरवी रखता था, या बेचता था, अथवा बहका कर ले जाता था और ऐसा करने वाला व्यक्ति शूद्र ही हो तो १२ पण दण्ड पाता था। यदि वह वैश्य, क्षत्रिय तथा ब्राह्मण बालक को कही ले जा कर बचता या गिरवी रखता था तो क्रमश २४, ३६ तथा ४८ पण दण्ड का भागी समझा जाता था। समाज मे दास प्रथा काल के ऐसे भयानक अवशेष थे कि बच्चो को उठा कर ले जाना और बेचना तथा गिरवी रख देना दैनिक जीवन की रीति बन गयी थी। इस पर कठोरता से प्रतिबन्ध लगाये जा रहे थे।

यदि कोई भिन्न जातीय व्यक्ति नाबालिग शूद्र, वैश्य, क्षत्रिय तथा ब्राह्मण को बहका कर ले जाता था, बेचता या गिरवी रखता था तो उसे पूव, मध्यम तथा उत्तम साहस दण्ड मिलता था और यही दण्ड खरीदारो तथा साक्षियो को मिलता था। हॉ, म्लेच्छ जातियो को अपनी सन्तान बेचने या गिरवी रखने का अधिकार था। परन्तु स्वतत्र व्यक्तियो को नये सिरे से किसी भी मूल्य पर दास नही बनाया जा सकता था।

(म्लेच्छानामदोष पुत्रो विक्रेतुमाधातु वा। नत्वेवार्यस्य दासभोत)

परन्तु इन बन्धनो के रहते हुए भी सामाजिक जीवन असुरक्षित था और आर्थिक परिस्थितियो से बाध्य होकर लोगो को दासता के बन्धन स्वीकार करने ही पडते थे। इसीलिए घोषणा की गयी थी कि यदि स्वतत्र (आर्य) व्यक्तियो को बाध्य होकर स्वय तथा अपना परिवार बेचना तथा गिरवी रखना पडता था

तो उनके लिए नियम बनाया गया था कि वे विशेष परिस्थितियो मे जब कुल पर संकट आ पडा हो तो ऐसा कर सकते हैं। परन्तु सबसे पहले नाबालिग बच्चों का निष्क्रय (छुटकारा) मूल्य देकर छुडाना चाहिए तथा बाद मे धीरे-धीरे परिवार के दूसरे सदस्यो को।

(अथवार्यमावाय कुलबन्धन आर्याणामापदि निष्क्रय चाधिगम्य बाल साहाय्यदातार वा पूर्व निष्क्रीणीरन्)

कितना बुरा एव दुखदायी समय होगा वह जब पूरा का पूरा स्वतत्र परिवार ऋण आदि का भुगतान करने के लिए दूसरो की दासता स्वीकार करता होगा और जो एक बार दास बन जाता था उसे जीवन मे आर्य (स्वतत्र) बनने की कभी आशा नही रहती थी। परन्तु कौटल्य की पूर्वोक्त स्थापना मे समाज के असख्य व्यक्तियो की लुप्त स्वतत्रता के वापस लौटाने मे असीम योगदान किया होगा।

फिर भी दासो को आसानी से छुटकारा नही मिलता था। दासो का जीवन इतना यातनामय था कि भाग जाने के अलावा उन्हे मुक्ति प्राप्त करने का दूसरा मार्ग ही नही मिलता था। परन्तु भागना और भी गम्भीर सकट लाने वाला था। राज्य भगोडे दास का पीछा करता था और पकड कर वापस स्वामी को लौटाता था। जो व्यक्ति स्वय अपने आपको किसी के यहाँ गिरवी रखता था, यदि घबरा कर भाग जाता था तो जीवन भर के लिए दास बना लिया जाता था। जिसे अन्य लोगो ने किसी के यहाँ गिरवी रखा हो वह दो बार भाग जाने पर जीवन भर के लिए दास बनाया जाता था।

(सकृदात्माधाता निष्पतित. सीदेत् । द्विरन्येनाहितक)

परन्तु यदि ये दोनो प्रकार के दास एक बार भी भाग कर दूसरे देश से चले जाते थे तो आजीवन दास बना लिये जाते थे।

(सकृदुभौ पर विषयाभिमुखौ)

ये दास आर्यत्व प्राप्त करने के लिए पैसा जमा करते थे। परन्तु इसके लिए केवल दो ही उपाय थे—चोरी करना या दूसरे स्वतत्र व्यक्तियो को बहका कर किसी के यहाँ बेच देना। ऐसे अपराध करने पर उन्हे कठोर दण्ड मिलता था।

भयानक शारीरिक यन्त्रणाओ मे फँसे दास प्राय बीमार रहते थे, मर जाते थे और भाग खड़े होते थे। परन्तु दास स्वामी ऐसे दासो का मूल्य उन व्यक्तियों से वसूल कर लेता था जो उन्हे गिरवी रखते थे या बेचते थे।

(निष्पतित प्रेत व्यसनिनामाधाता मूल्य भजेत)

समाज मे ऐसा कोई नीच, बुरे से बुरा और गन्दा कार्य नही था जो इन अभागे दासो से न करवाया जाता हो। परन्तु समाज मे इसे बुरा समझा जाने लगा था और कौटल्य ने व्यवस्था की थी कि जो स्वामी अपने दास को बाध्य करके मुर्दा, मलमूत्र जूठन उठवाये और स्त्री दास को अनुचित दण्ड दे, उसका सतीत्व नष्ट करे, नगा होकर उसके सामने जाए या उसे बुलवाये, ऐसे व्यक्तियो का वह मूल्य जप्त कर लिया जाता था जिसके बदले मे वे दास या दासी बनाये गए थे और यदि यही अपराध धात्री (धाय) परिचारिका, अर्द्धसीतिका (जिनकी स्त्रियाँ पुरुषो के साथ काम मे हाथ बँटाती है) तथा बाहरी दासी के साथ किया जाता था तो उन्हे तुरन्त मुक्ति दिला दी जाती थी।

और यदि कोई स्वामी ये ही बुरे कार्य किसी ऐसे दास से करवाता था जिसका जन्म उच्च कुल मे हुआ हो तो वह व्यक्ति स्वय ही अपने को मुक्त घोषित कर सकता था और स्वामी को छोड कर चला जा सकता था।

(सिद्ध मुपचारकस्याभि प्रजातस्यापक्रमणम्)

ये स्वामी प्रतिदिन दासियो के सतीत्व का अपहरण करते थे और दूसरो के सामने उन्हे प्रस्तुत करते थे। इसीलिए कौटल्य ने व्यवस्था दी है कि धात्री आदि दासियाँ जो गिरवी रखी गई हो उनके साथ स्वय दुराचार करने पर प्रथम साहस तथा दूसरे के सामने उन्हे प्रस्तुत करने पर मध्यम साहस दण्ड दिया जाता। परन्तु यदि ये दासियाँ स्वय अपनी इच्छा से ऐसा करती थी तो उस स्वामी को इतना कठोर दण्ड नही दिया जाता था।

(धात्रीमाहितिका वाकामा स्ववशामधिगच्छत पूर्व साहसदण्ड। परवशा मध्यम)

गिरवी रखी हुई कन्या को स्वय या अन्य व्यक्ति द्वारा दूषित करने या करवाने पर उसका गिरवी मूल्य जप्त कर लिया जाता था, कन्या को कुछ धन

शुल्क रूप मे देना पड़ता था और उसका दुगना धन राज्य को दण्डस्वरूप देना पड़ता था।

एक बार यदि स्वतन्त्र (आर्य) व्यक्ति अपने आपको बेच कर दूसरे की दासता स्वीकार कर लेता था तो उसकी आनेवाली पीढ़ियाँ भी दास ही समझी जाती थी। इसके विरुद्ध व्यवस्था देते हुए कौटल्य ने घोषणा की थी कि अपने आपको बेच देनेवाले व्यक्ति की सन्तानें दास नही होती बल्कि आर्य होती हैं।

(आत्मविक्रयिण· प्रजामार्यां विद्यात्)

समाज मे ऐसी परिस्थितियाँ पैदा की जा रही थी और उसके अनुकूल नियम बनाये जा रहे थे जिसमे रह कर दासो के लिए आर्य बन सकना संभव हो रहा था। यदि कोई दास स्वामि के कार्य करता हुआ उसकी स्वीकृति से दूसरे काम करके धन कमा लेता था तो वह उसकी सम्पत्ति समझी जाती थी और दायभाग के रूप मे मिली सम्पत्ति का भी वही मालिक माना जाने लगता था न कि उसका स्वामी। इस धन का उपयोग करके वह अपना मूल्य चुका सकता था और आर्यत्व ग्रहण कर सकता था। इसमे सन्देह नही है कि दास-प्रथा के विरोध मे यह बहुत बड़ा समाज सुधार था।

(आत्माधिगत स्वामिकर्माविरुद्ध लभेत पित्र्य च दायम् । मूल्येन चार्यत्वे गच्छेत्)

निष्क्रय मूल्य (छुटकारा मूल्य) ग्रहण करते समय मालिक तरह-तरह की आनाकानी करते थे और ऐसी आर्थिक माँगें प्रस्तुत करते थे जिन्हें पूरा करना दासो के लिए कठिन हो और वे बाध्य हो कर दास ही बने रहे। इसके लिए समाज ने नियम बनाया था कि दास के रूप मे व्यक्ति को खरीदते या गिरवी रखते समय स्वामी ने जितना धन दिया हो उतना ही धन ले कर उसे छुटकारा देना पड़ेगा।

(प्रक्षेपानुरूपश्चास्य निष्क्रयः)

बहुत से व्यक्ति राजदण्ड अदा न कर पाने पर भी दास बन जाते थे। उनके लिए नियम बनाया गया था कि किसी के यहाँ इतने दिन कार्य करके

जितने से दण्ड की राशि पूरी हो जाती हो दास व्यक्ति पुन आर्यत्व प्राप्त कर सकता है।

(दण्डप्रणीत कर्मणा दण्डमुपनयेत्)

युद्धो मे पराजित व्यक्ति दास बनाये जाते थे और जीवन पर्यन्त दूसरो के दास बने रहते थे। ऐसे व्यक्ति कुछ समय तक कार्य करके अथवा दासो का जो औसत बाजार भाव था उसकी आधी रकम अदा करके पुन आर्य बन सकते थे।

(आर्य प्राणो ध्वजाहृत कर्मकालानुरूपेण मूल्यार्धेन वा विमुच्येत)

परन्तु यह सुविधा केवल ऐसे दासो को थी जो आर्यों के यहाँ उदर दास आदि के रूप मे कार्य करते थे।

ऐसे दासो को, जो बेचता या गिरवी रखता था उसे कडादण्ड दिया जाता था। जो उसके घर मे ही उत्पन्न हुए हो, या दायभाग के रूप मे हिस्से मे आये हो, जिनके बन्धु-बान्धव न हो और जिनकी आयु आठ वर्ष से कम हो, दासी जो गर्भवती हो और जिसके गर्भ की रक्षा की समुचित व्यवस्था न की गयी हो, ऐसे दासो को जो खरीदता था एव गवाही देता था उसे भी दण्ड मिलता था।

(गृहे जात दायागत लब्ध क्रीतानामन्यतम दासमूनाष्टवर्ष विबन्धमकाम नीच कर्मणि विदेशे दासीं वा सगर्भा मप्रति विहित गर्भभर्मण्या विक्रयाधाने नयत पूर्व साहस दण्ड क्रेतृश्रोतृणां च)

कुछ स्वामी दास का मूल्य स्वीकार नही करते थे ताकि वे दासों को जीवन-पर्यन्त रख सके। ऐसे स्वामियो को १२ पण आर्थिक दण्ड दिया जाता था।

(दास मनुरूपेण निष्क्रयेणार्यमकुर्वतो द्वादशपणो दण्ड)

और यदि बिना कारण उसे कोठे मे मूंद देता था तो यही दण्ड पाता था।

दासो के पास जो थोडी बहुत सम्पत्ति होती थी उसे दास स्वामी अपनी ही सम्पत्ति मानते थे। इसके विरुद्ध यह व्यवस्था की गयी थी कि दास की सम्पत्ति के स्वामी उसके बन्धु-बान्धव समझे जाएँ न कि दास स्वामी। और उनके न होने पर ही स्वामी मालिक समझा जाता था।

(दासद्रव्यस्य ज्ञातयो दायादा । तेषामभावे स्वामी)

दासस्वामी दासियों के साथ मनमानी करते थे जिसकी रोकथाम के लिए नियम बनाया गया था कि यदि स्वामी से दासी मे सन्तान उत्पन्न हो जाए तो वह सन्तान तथा दासी दोनो मुक्त समझे जाए।

(स्वामिनोऽस्या दास्यो जात समातृकमदास विद्यात्)

और यदि वह दासी स्वामी के यहाँ पत्नी के रूप मे रहना पसन्द करती थी तो अपने समेत उसकी माता, भाई और बहन सभी मुक्त हो जाते थे। दास अथवा दासी को एक बार मुक्त करके पुन बेचने या गिरवी रखने पर १२ पण दण्ड मिलता था।

(गृह्या चेत्कुटुम्बार्थचिन्तिनी माता भ्राता भगिनी चास्या अदासा स्यु । दास दासीं वा निष्क्रीय पुनर्विक्रयाधाने नयतोऽर्थ द्वादश पणो दण्ड:)

दास स्वामियो ने राज्य पर दबाव डाल कर यह नियम अवश्य बनवा लिया था कि यदि ऐसे दास तथा दासी स्वय अपने आपको गिरवी रखना चाहें या बिकना चाहे तो स्वामी निरपराध समझा जाए।

ऐतिहासिक रूप से कौटल्य कालीन भारत दासप्रथा के अन्त तथा सामन्तवाद के उदयकाल का सक्रमण था जिसमे दास प्रथा के घृणित अवशेष पूर्ण रूप मे विद्यमान थे और सामन्तवाद दासप्रथा पर चोट तो कर रहा था परन्तु उसका उच्छेद करना नहीं चाहता था। वह केवल उसके ऐसे रूपो पर चोट करता था जो सामन्ती कृषि व्यवस्था के विकास मे बाधक थे और इसीलिए कर्मकरों (मजदूरो) के रूप मे ऐसे नये वर्ग का निर्माण कर रहा था जो अर्द्ध-भुखमरी के वेतनों के प्रलोभन में खेतो मे काम करके उसकी सम्पत्ति बढायें और उसकी स्वय की आर्थिक स्थिति दासो से अधिक भिन्न न हो। वह किसी मानवीय भावना से प्रेरित होकर दास प्रथा पर अकुश नही लगा रहा था, प्रत्युत यह सोच कर दासो को स्वामियो के चगुल से छुडाना चाहता था कि खेती के लिए उपयोगी श्रमशक्ति सुलभ हो सके। निठल्ले, काहिल और विलासी दास स्वामी आसानी से दासो को मुक्त करके खेती जैसे लाभदायक कार्य मे नही झोक सकते थे। स्वामियो के मुकाबिले सामन्त न केवल विकसित अर्थ-

व्यवस्था के प्रतिनिधि थे प्रत्युत अधिक साहसी, अधिक अध्यवसायी, अधिक प्रगतिशील एव इसीलिए अधिक मानवतावादी थे। सामन्तवाद के विकसित आचार्य कौटल्य ने दास प्रथा पर जितना अकुश लगाया है उसका शताश भी दूसरे आचार्यों के शास्त्रो मे दिखाई नही देता। वास्तव मे कौटल्य ने निरकुश दास स्वामियो के असीमित अधिकारो पर रोक लगा कर केवल अपने मानवतावादी दृष्टिकोण का प्रतिपादन नही किया है बल्कि उस युग की आर्थिक तथा सामाजिक समस्याओ के समाधान के रूप मे इसे पेश किया है ताकि दास प्रथा एव सामन्तवाद के अन्तर्विरोध उन्नत खेती एव सामन्तवाद के पक्ष में समाहित हो सकें।

स्त्रियो की आर्थिक स्थिति

स्त्री आर्थिक दृष्टि से पुरुष पर निर्भर हो चुकी थी और वह भी पूरी तरह। केवल कुछ अर्द्धसीतिक जातियाँ थी जिनके सम्बन्ध में कौटल्य ने लिखा है कि वे जीविकोपार्जन में अपने पुरुषो का हाथ बँटाती थीं। कौटुम्बिक अथवा कबीला अर्थव्यवस्था मे स्त्री आर्थिक दृष्टि से पुरुष के समान आत्मनिर्भर थी। परन्तु सामन्ती अर्थव्यवस्था का विकास होते-होते और सामाजिक श्रम का विभाजन होते-होते स्त्री घर की बन्दिनी होती गयी जिसकी प्रशसा मे गृह स्वामिनी नाम पड़ा जिसका वास्तविक अर्थ था गृहदासी। विवाह उसके लिए जीविका का साधन था और धीरे-धीरे वह सभी क्षेत्रो से सिमट कर घर मे बन्द हो गयी। विवाह के समय प्रत्येक परिवार को स्त्री के लिए एक सुरक्षित कोष जमा करना पड़ता था। परन्तु यह केवल नामचार की नही बल्कि ठोस रकम होती थी जिसके सहारे स्त्री सकटकाल मे अपना भरण-पोषण कर सकती थी। इसे स्त्री धन कहा जाता था। स्त्रीधन यद्यपि विशुद्ध रूप से स्त्री का होता था और उसी की इच्छा के अनुसार वह खर्च किया जा सकता था तथापि उसके लिए विशेष नियम बने हुए थे, जिनका पालन करके ही स्त्री अपना स्त्रीधन काम मे ला सकती थी।

वृत्ति और आवध्य नाम से दो प्रकार का स्त्रीधन होता था। दो हजार पण से अधिक धन वृत्ति के रूप मे नही जमा करना पड़ता और आवध्य स्त्रीधन की कोई मात्रा निश्चित नही थी।

(वृत्तिरावध्य वा स्त्रीधनम्। पर हिंसाहृता स्थाप्या वृत्ति । आवध्यानियम·)

यदि स्त्री अपने पति के विदेश चले जाने पर अपने और अपनी पुत्रवधू के जीवन निर्वाह पर स्त्रीधन खर्च करती थी तो मान्य समझा जाता था। परिवार पर आयी किसी आकस्मिक या दैविक विपत्ति के समय स्त्रीधन खर्च किया जा सकता था। परन्तु अनुकूल परिस्थितियाँ आने पर उसे परिवार को पूरा करना पडता था। इसी प्रकार, दो बच्चे पैदा होने पर स्त्री-पुरुष आपसी स्वीकृति से स्त्रीधन काम मे ला सकते थे। परन्तु यह अधिकार केवल पहले चार आर्ष विवाहो मे था। गान्धर्व तथा आसुर विवाहो मे ऐसा करने पर व्याज सहित मूल धन जमा करना पडता था और राक्षस तथा पैशाच विवाहो मे चोरी का दण्ड भी पृथक् से भरना पडता था।

पति के मर जाने पर स्त्री को यह अधिकार था कि वह अपना स्त्रीधन (जो प्राय अन्य व्यक्तियो के पास सुरक्षित रखा जाता था) एव आभूषण आदि एव विवाह शुल्क आदि तुरन्त अपने अधिकार मे कर ले। ऐसा प्रतीत होता है कि उस समय वर पक्ष से कन्या पक्ष कुछ शुल्क ग्रहण करता था और आज भी जैसा कि मुसलमानो मे कुछ धन स्त्री के लिए जमा करने की प्रथा है, पूरे भारत मे प्रचलित थी और यह धन स्त्री की स्वीकृति के बिना पति भी खर्च नही कर सकता था। धीरे-धीरे यह प्रथा उठ गयी और अब कदाचित् बहुत लम्बे समय से केवल आभूषणो के रूप मे ही स्त्री धन की प्रथा शेष रह गयी है।

यह सुविधा स्त्री को उस समय नही मिलती थी जब वह पति के मर जाने पर दूसरा विवाह करती थी। तब उसे व्याज सहित पूरा स्त्रीधन लौटाना पडता था। हाँ, यदि वह पुत्र की कामना से दूसरा विवाह करती थी तो केवल विवाह के अवसर पर ही अपने श्वसुर या पति का दिया हुआ धन प्राप्त कर सकती थी। यदि वह स्त्री अपने श्वसुर की इच्छा के विरुद्ध दूसरा विवाह करती थी तो स्त्रीधन प्राप्त करने का अधिकार छिन जाता था। यदि उसके बन्धु-बान्धव दूसरा विवाह करते थे तो उसके श्वसुर की सम्पत्ति उसे लौटानी पडती थी। दूसरा विवाह कर लेने पर दूसरे पति की सम्पत्ति मे स्त्री का अधिकार समझा जाता था परन्तु पहले पति की सम्पत्ति मे उसका अधिकार छिन जाता था।

दूसरा विवाह न करने पर ही पहले पति की सम्पत्ति मे उसका अधिकार सुरक्षित होता था। परन्तु पुत्रवती स्त्री दूसरा विवाह करने पर किसी भी तरह स्त्रीधन की अधिकारिणी नही समझी जाती थी। उस सम्पत्ति के अधिकारी पुत्र समझे जाते थे। यदि केवल पुत्रो का भरण-पोषण करने के लिए वह दूसरा विवाह करती थी तो अपना स्त्री धन उसे पुत्रो के नाम कर देना पडता था।

(पुत्र भरणार्थ वा विन्दमाना पुत्रार्थ स्फाती कुर्यात्)

परन्तु यह सभव है कि उसके अनेक पुत्र हो और वे अनेक पतियो से उत्पन्न हुए हो। ऐसी स्थिति म वह स्त्री यह जानते हुए कि कौन-सा पुत्र किस पिता से उत्पन्न हुआ है, उनकी सम्पत्ति मे पुत्रो को भागीदार कर देती थी। स्त्री से समाज यह आशा करता था कि जो धन केवल उसी के निजी उपयोग के लिए हो वह उस धन को भी अपने पुत्रो के नाम कर देगी।

इसी प्रकार, यदि पति के जीवित रहते हुए स्त्री मर जाती थी तो उसका धन पति को नही प्रत्युत पुत्रो को मिलता था। पुत्र न हो तो पुत्रियो को मिल जाता था। पति को तभी मिलता था जब मृत पत्नी पूरी तरह नि सन्तान हो। परन्तु उस स्त्री के बन्धु-बान्धवो ने विवाह शुल्क अथवा दूसरे रूपो मे जो धन उसे दिया हो वे पति से अपना धन वापिस ले सकते थे।

विवाह के भेद

देश मे आठ प्रकार के विवाह प्रचलित थे। ब्राह्म, प्राजापत्य, आर्ष, दैव, गान्धर्व, आसुर, राक्षस तथा पिशाच।

ब्राह्म विवाह—पिता द्वारा अपनी कन्या सजा कर स्वय दूसरे को दे देना।

प्राजापत्य विवाह—कन्या और वर स्वय अपनी इच्छा से सन्तान उत्पन्न करने के लिए अपने माता-पिता की स्वीकृति से जो विवाह करे वह प्राजापत्य कहलाता था।

आर्ष विवाह—वर से गायो का जोडा ले कर कन्या दे देना।

दैव विवाह—अग्नि की प्रदक्षिणा करवा कर वर को कन्या दे देना।

गान्धर्व विवाह—अपने-अपने माता-पिता की स्वीकृति या जानकारी के बिना ही वर और कन्या का आपस मे मिल कर विवाह करना।

आसुर विवाह—कन्या पक्ष को धन दे कर विवाह करना।

राक्षस विवाह—कन्या और उसके पिता दोनो की इच्छा के विरुद्ध जबर-दस्ती विवाह कर लेना।

पैशाच विवाह—रोती-बिलखती कन्या का जबरदस्ती अपहरण करके ले जाना।

यद्यपि समाज मे ये आठो विवाह प्रचलित थे और समाज ने इन्हें मान्यता दे रखी थी और सभी मे कानूनी अधिकार प्राप्त थे, परन्तु फिर भी पहले चार विवाह समाज मे प्रतिष्ठा की दृष्टि से देखे जाते थे।

इन सभी विवाहो की विवेचना का अन्तिम निष्कर्ष यही था कि विवाह सभी श्रेष्ठ है यदि उसमें पति और पत्नी का आपसी सम्बन्ध एक दूसरे की प्रीति पर आधारित हो। कौटल्य कालीन भारत मे विवाह सम्बन्धो की श्रेष्ठता पारस्परिक प्रेम पर निर्भर करती थी।

(सर्वेषा प्रीत्यारोपणमतिषिद्धम्)

स्त्रियों की स्वतन्त्रता का अन्त

कौटल्य कालीन भारत सामन्तवाद के अभ्युत्थान का युग है। इसमे स्त्रियो की वह स्वतन्त्रता कायम नहीं रह सकती थी जो उन्हें मातृसत्ता युग में या आदिम समाज व्यवस्था के युग में प्राप्त थी। जैसे-जैसे सामन्तवाद का विकास होता गया पूरा स्त्री समाज भयानक प्रतिबन्धों एव असह्य नियंत्रण में फँसता गया। यद्यपि कौटल्य व्यक्तिगत रूप से स्त्रियो के प्रति अत्यन्त सहानुभूतिपूर्ण थे और अपने अर्थशास्त्र में स्थान-स्थान पर वे स्त्रियों के प्रति उदारता के भावों का दिग्दर्शन करते है, परन्तु एक व्यक्ति के विचार फिर वह चाहे कौटल्य जैसा महान् साम्राज्य का संस्थापक ही क्यो न हो, समाज व्यवस्था के अनिवार्य नियमों का प्रतिवाद एव व्यापक अपवाद नही कर सकता था। स्त्रियो का आर्त्तनाद पूरे समाज मे गूँज रहा था। परन्तु पूरे संसार मे व्याप्त सामन्ती बन्धनो का ही वह भारतीय संस्करण था, अधिक कुछ नहीं।

किसी भी स्त्री को पतिकुल छोड कर भागने का अधिकार नहीं था। अधिक पीडा पहुँचाये जाने पर वह ज्यादा से ज्यादा किसी दयालु पडोसी के यहाँ जाकर

शरण ले सकती थी। परन्तु यह अधिकार भी दूसरे मान्य आचार्यों के मतो के विरोध मे कौटल्य ने दिया था। स्त्रियाँ यदि बिना पति की स्वीकृति के पडोसियो के यहाँ बैठती थी, भिखारियो को भीख देती थी और व्यापारी से सामान खरीदती या बेचती थी तो दण्डनीय समझी जाती थी। ऐसी स्त्रियो के विरुद्ध न्यायाधिकरण तक मे अभियोग चलाया जा सकता था। किसी बदनाम व्यक्ति के साथ बात करने पर तो उस पर मुसीबतो का पहाड ही टूट जाता था। यदि दूसरे पडोसी की स्त्री को उसके यहाँ आ जाने पर आपत्ति न हो, तो भी उसे ऐसा करने पर १०० पण दण्ड भरना पडता था। स्त्रियो के लिए यह प्रतिबन्ध था कि वे घर की चहारदीवारी से बाहर पाँव न रखे। किसी भी व्यक्ति को यह अधिकार नही था कि वह पडौसी की स्त्री को अपने यहाँ शरण दे सके। यदि पति अपनी पत्नी पर घोर अत्याचार एव यातना ढाता था तो पडोसियो को स्त्री की सहानुभूति मे मुँह खोलने का अधिकार नही था। मुँह खोलने पर वे लांछित समझे जाते थे।

इस निरकुश व्यवहार से जब स्त्रियो की व्यथाओ से पूरा समाज व्यथित हो उठा था तो कौटल्य एव दूसरे आचार्यों ने व्यवस्था दी थी कि ऐसे अत्याचार होने पर स्त्री अपने सगे-सम्बन्धियो, सुखी एव प्रभावशाली ग्राममुख्य, स्त्रीधन के रक्षक, भिक्षुकी (तपस्विनी) आदि के घर मे, जहाँ पुरुष न रहते हो, जा कर शरण ले सकती है। कौटल्य ने इससे भी अधिक अधिकार देते हुए व्यवस्था दी थी कि अपने पातिव्रत धर्म का पालन करती हुई साध्वी पत्नियाँ सभी सकटकालीन स्थितियो मे अपने सम्बन्धियो तथा पारिवारिको का सहारा ले सकती हैं और ऐसा करने पर उन्हे राजदण्ड का भागी नही समझा जा सकता। उन्होने कहा कि मृत्यु, बीमारी, आपत्ति एव प्रसव के समय अपने सम्बन्धियो के यहाँ जाना स्त्री के लिए वर्जित नही है।

(पतिविप्रकारात् पति ज्ञाति सुखावस्थग्रामिकान् वाधिभिक्षुकी ज्ञातिकुलानामन्यतममपुरुष गन्तुमदोष इत्याचार्या । सपुरुष वा ज्ञातिकुल कुतो हि साध्वीजनस्य छल सुखमेतदवबोद्धमिति कौटल्य·)

इसमे "कतो हि साध्वीजनस्य छलम्" शब्द से, जिसका अर्थ हुआ कि वे

साध्वी पत्नियाँ छल क्या जानें, से स्पष्ट है कि कौटल्य के मन मे पीडित स्त्रीसमाज के प्रति कितनी गहरी सहानुभूति थी ? इसीलिए, उन्होने कहा कि यदि ये साध्वी स्त्रियाँ पुरुषवाले घरो मे जाकर भी शरण ले ले तो क्या हानि है ?

कौटल्य ने इस व्यवस्था को स्त्रियो के अधिकार के रूप मे मानते हुए कहा है कि—जो पुरुष ऐसे अवसरो पर स्त्री को मायके (सम्बन्धियो के यहाँ) जाने से रोके उसे राजदण्ड मिलना चाहिए। इसका अर्थ हुआ कि यह अधिकार पति की इच्छा पर नहीं प्रत्युत पीडित पत्नी की इच्छा पर निर्भर करता था।

(प्रेत व्याधि व्यसनगर्भ निमित्तमप्रतिषिद्धमेव ज्ञातिकुल गमनम्। तन्निमित्तं वारयतो द्वादशपणो दण्डः)

परन्तु यह सुविधा दे कर भी कौटल्य ने पीडित स्त्री पर कुछ प्रतिबन्ध लगाये थे। उदाहरण के लिए वह ऊपर लिखे कारणो का बहाना करके मायके नही जा सकती थी। उसके सम्बन्धियो को स्त्री के आगमन की सूचना उसके पति कुल मे तुरन्त देनी पडती थी।

स्त्रियो को यह अधिकार नहीं था कि वे अपना घर और गाँव छोड कर किसी दूसरे गाँव मे प्रवेश करें। उन्हें परपुरुष के साथ समागम करने एव निषिद्ध व्यक्तियो के साथ यात्रा करने पर कठोर दण्ड मिलता था।

जिन स्त्रियो के पति परदेश चले जाते थे वे वर्ष पर्यन्त उनके आगमन की प्रतीक्षा करती थी। पुत्रवती हो तो दो वर्ष तक और यदि वे उनके भरण-पोषण का प्रबन्ध कर गये हो तो चार वर्ष तक। इसके बाद यदि स्त्री के सगे सम्बन्धी भरण-पोषण की जिम्मेदारी नही लेते थे तो स्त्रीधन वापिस ले कर उसे दूसरा विवाह करने की स्वीकृति दे देते थे। परन्तु विद्याध्ययनार्थ बाहर गए ब्राह्मणो की पत्नियाँ १० वर्ष तक और पुत्रवती १५ वर्ष तक प्रतीक्षा करती थी। परन्तु राज्य की सेवा मे लगे व्यक्तियो का यह विशेषाधिकार था कि उनकी पत्नियो को आयुपर्यन्त उनके आगमन की प्रतीक्षा करनी पडती थी। परन्तु ऐसी स्थिति मे स्त्री को यह अधिकार था कि वह समान वर्ण के किसी व्यक्ति से सन्तान उत्पन्न करवा सकती थी और इसे समाज मान्य समझता था।

(ब्राह्मणमधीयानं दशवर्षाण्यप्रजाता द्वादश प्रजाता राजपुरुषमायुः क्षयाकांक्षेत्। सवर्णतश्च प्रजाता नापवादं लभेत)

इन कठिन प्रतिबन्धो के बाद कौटल्य ने ऐसी व्यवस्था भी दी थी कि कुटुम्ब की सम्पत्ति नष्ट हो जाने पर, समृद्ध बन्धु-बान्धवो द्वारा छोड दिये जाने पर तथा जीविका के निर्वाह का साधन न होने पर पत्नी दूसरा विवाह कर ले। जो विवाहित स्त्री पहले चार धार्मिक विवाहों से बंधी होती थी वह ऐसी स्थिति पैदा होने पर केवल सात मासिक धर्म होने तक प्रतीक्षा करती थी और फिर विवाह कर लेती थी। विशेष रूप से उस स्थिति में जब उसका पति बिना कहे परदेश चला जाता था।

इसके साथ ही, बडे विस्तार के साथ समाज इस बात पर विचार करता था कि परदेश गये पति की स्थिति क्या है और उसी के अनुसार वह पत्नी के लिए प्रतीक्षा की अवधि तय करता था। प्राचीन साहित्य एव शास्त्रो मे इन प्रोषित भर्तकाओं (जिनके पति परदेश चले गये हो) का जैसा मार्मिक वर्णन मिलता था और स्वय कौटल्य ने जिस विस्तार के साथ इसका उल्लेख किया है उससे प्रतीत होता है कि उन दिनों कोई आसानी से परदेश नही जाता था और जो चला जाता था उसके लौटने की कम आशा रहती थी।

वास्तव मे कौटल्य ही ऐसे पहले आचार्य प्रतीत होते है जिन्हें प्रोषितभर्तृकाओ की व्यथा ने व्यथित किया और उन्होंने दृढ निश्चय के साथ यह व्यवस्था दी कि स्त्रियो को सता कर पतिव्रत धर्म की रक्षा करना धर्म नही प्रत्युत अधर्म है।

(तीर्थोपरोधो हि धर्मवध इति कौटल्य·)

उन्होंने सभी स्त्रियो को यह छूट दी है कि जिनके पति सदा के लिए विदेश चले गये हो या संन्यासी हो गये हो अथवा मर गए हों वे केवल सात मासिक धर्म तक और पुत्रवती वर्ष भर तक प्रतीक्षा करे। इसके बाद वे किसी देवर को पति बना लेती थी जो धार्मिक एवं भरण-पोषण करने मे समर्थ होता था। और उनमें भी उससे जो पत्नीविहीन होता था। देवर के न होने पर भाई के रिश्ते मे किसी सन्निकट पारिवारिक के साथ विवाह कर लेती थी।

इस परिपाटी का उल्लघन करके विवाह करने वाले स्त्री-पुरुष दण्डनीय समझे जाते थे ।

पति पत्नी के आपसी विवादो के सम्बन्ध मे

पारिवार के सम्बन्ध में समाज ने बड़े विस्तार के साथ कुछ नियम लागू किये थे और पति-पत्नी के आपसी सम्बन्ध पारिवारिक जीवन को धुरी समझे जाते थे। यही कारण है कि पति-पत्नी के सामान्य जीवन के अलावा असामान्य एव उत्तेजित परिस्थितियो के लिए भी विशेष नियम बनाये गये थे।

१२ वर्ष की स्त्री तथा १६ वर्ष का पुरुष प्राप्त व्यवहार (बालिग) समझे जाते थे। इससे अधिक आयु होते ही सामान्य अपराध करने पर स्त्री को १२ पण तथा पुरुष को २४ पण दण्ड दिया जा सकता था। समान अपराध करने पर भी पुरुष को स्त्री से दुगना दण्ड मिलता था।

स्त्री-पुरुष मे आपसी कलह होने पर पुरुष के लिए यह आवश्यक समझा जाता था कि वह स्त्री की आवश्यकता एव अपनी आय के अनुसार उसके भरण-पोषण की व्यवस्था करे। स्त्री का भरण-पोषण करना पुरुष का अनिवार्य सामाजिक कर्त्तव्य था। परन्तु यदि पत्नी अपने मायके मे या स्वतत्र रूप से और पति से पृथक् रहती हो तो पुरुष खर्च देने के लिए बाध्य नही किया जा सकता था।

समाज मे स्त्रियो को दूसरी श्रेणी का अर्थात् निम्नकोटि का नागरिक समझा जाता था और पुरुषो की तुलना मे उन्हे हीन माना जाता था। उदाहरण के लिए—यदि स्त्री पुरुष मे विवाद होता था तो यद्यपि यह परम्परा थी कि पुरुष पहले स्त्री को कठोर वचन बोले बिना या गाली दिये बिना सही मार्ग पर लाने का प्रयत्न करता था, परन्तु इससे सफलता न मिलने पर उसे थोथे बाँस की लकड़ी, रस्सी तथा थप्पड़ से तीन बार पीट सकता था। स्पष्ट है कि क्रोध मे पीटते समय कोई भी पति तीन तक गिनती करके कैसे बीच मे रुक सकता था। इसके बाद उसे कठोर वाचिक एव शारीरिक दण्ड दिया जा सकता था।

(श्वसुरकुल प्रविष्टाया विभक्तायां वा नाभियोज्य पति.।)

नग्ने विनग्नेऽपितृकेऽमातृक इत्यनिर्देशेन वा विनयग्रहणम् । वेणदल

रज्जुहस्तानामन्यतमेन वा पृष्ठे त्रिराघातः। तस्यातिक्रमे वा वज्ज्यपारुष्य दण्डा-न्यामर्धदण्डाः)

यही दण्ड उस स्त्री को दिया जाता था जो अपने मकान के सामने पीढा बिछा कर बैठती थी, दूसरे पुरुषों के साथ सकेत (इशारेबाजी) करती थी और अपने पति के प्रति अकारण द्वेष रखती थी। इसी प्रकार, यह परिपाटी भी प्रचलित थी कि जो स्त्री सात मासिक धर्म तक अपने पति के साथ सहवास न करे वह अपने पति को दूसरी स्त्री के साथ सहवास करने की स्वीकृति दे देती थी। इसी प्रकार जो पति अपनी पत्नी की अनवरत उपेक्षा करता था उसके लिए यह अनिवार्य था कि अपनी पत्नी को स्वतत्र कर दे। समाज मे खुले व्यभि-चार के विरोध मे जनमत सगठित हो रहा था। जो पुरुष अपनी स्त्री के अलावा दूसरी स्त्री के साथ मैथुन करता था और पत्नी के पूछने पर मुकर जाता था उसे १२ पण दण्ड दिया जाता था।

पति-पत्नी के आपसी सम्बन्धो का विच्छेद (तलाक) आसानी से होना सभव नही था। केवल पति के सम्बन्ध विच्छेद की इच्छा से सम्बन्ध नही टूट सकता था। इसी तरह, पति भी अपनी अनिच्छुक पत्नी का परित्याग नही कर सकता था। यदि दोनो ही एक दूसरे से समान रूप से द्वेष करते थे तो सम्बन्धविच्छेद हो सकता था। यदि केवल स्त्री के अपराध के कारण पति अपनी पत्नी छोडना चाहता था तो उसकी सम्पूर्ण सम्पत्ति लौटानी पडती थी। और यदि पुरुष के किसी दोष के कारण पत्नी पृथक् होती थी तो उसका स्त्रीधन जप्त कर लिया जाता था।

(भर्त्तार द्विषती स्त्री सप्तार्तवान्यमन्यमाना तदानीमेव स्थाप्या भरण निधाय भर्त्तारमन्यया सह शयानमनुशयीत। भिक्षुक्यन्वाधिज्ञाति कुलानामन्यतमे वा भर्त्ता द्विषन् स्त्रियमेकामनुशयीत। दृष्टलिगे मैथुनापहारे सवर्णापसर्पगमे वा मिथ्यावादी द्वादश पण दद्यात्। अमोक्ष्या भर्तुरकामस्य द्विषती भार्या। भक्तोपास्य भर्त्ता। परस्पर द्वेषान्मोक्ष)

यद्यपि विवाह एक रूढि बनता जा रहा था जिसका सम्बन्ध जीवन पर्यन्त माना जाता था परन्तु फिर भी, वह आज की तरह निर्जीव रूढि नही बना

था जिसका सम्बन्ध जन्म-जन्मान्तरो के साथ माना जाता है और किसी भी स्थिति मे जहाँ छुटकारा मिलना समव नही है।

परन्तु पहले चार धार्मिक विवाहो मे सम्बन्धविच्छेद किसी भी स्थिति मे मान्य नही समझा जाता था। स्त्रियो को दिन के समय नाटक आदि देखने एव किसी भी समय मदिरापान का अधिकार नही था। किसी अन्य पुरुष के साथ ऐसा करना तो विशष रूप से वर्जित था। और रात्रि के समय कठोर दण्ड का कारण बन जाता था।

जो बन्धन स्त्रियो पर लागू थे, उनमे पुरुषो को पूरी तरह छूट थी। दूसरे की स्त्री के साथ नाटक आदि देखने वाले पुरुष को विशेष राजदण्ड का भागी नही माना जाता था। यहाँ तक कि यदि पत्नी अपने सोये हुए या नशे मे डूबे पति को अकेला छोड कर घर से बाहर हो जाती थी तो उसे राजदण्ड मिलता था।

समाज मे अभिसारिकावाद एव खुले यौन सम्बन्धो पर कडे प्रतिबन्ध लगाये जा रहे थे। इस प्रकार के व्यभिचारो मे स्त्रियो की अपेक्षा पुरुषो को कडा दण्ड दिया जाता था। स्त्री और पुरुष यदि भद्दे ढग से और कामोत्तेजक तरीके से एक दूसरे को सकेत करते थे तो स्त्री को २४ और पुरुष को ४८ पण दण्ड मिलता था। यदि पति-पत्नी के अलावा कोई पुरुष और स्त्री एक दूसरे को काटते थे या नख छेद करते थे तो स्त्री को पूर्व साहस एव पुरुष को मध्यम साहस दण्ड दिया जाता था। यदि शकित स्थान पर वे ऐसा करते थे तो कोडे लगाये जाते थे। यदि रोके जाने पर भी कोई पुरुष और स्त्री छोटी-मोटी चीजें दे कर एक दूसरे को लुभाते थे तो स्त्री को १२ पण तथा पुरुष को २४ पण दण्ड दिया जाता था। यदि वे आपस मे मिले बिना ही उपहारो का आदान-प्रदान करते थे तो आधा दण्ड दिया जाता था। बदनाम लोगो के सम्पर्क मे आने का दण्ड भी यही था।

जो स्त्री राजद्रोह करती थी, आचार का उल्लघन करती थी और घर छोड कर इधर-उधर फिरती थी उसका स्त्रीधन जप्त कर लिया जाता था, आनीत (पति के दूसरा विवाह करने पर निर्वाहार्थ प्राप्त धन) और शुल्क (अपने विवाह के समय पति एव बन्धु-बान्धवो से प्राप्त धन) से हाथ धो बैठती थी।

पुरुष और स्त्री के दूसरे विवाह की व्यवस्था

यद्यपि समाज ने दूसरे विवाह की स्वीकृति दे रखी थी और जो स्त्री या पुरुष ऐसा करते थे उन्हे पतित नही समझा जाता था फिर भी एक पत्नी और एक पतिव्रत धर्म को आदर्श की दृष्टि से देखा जाता था। पुराने समाज मे प्रचलित बहुपति प्रथा एव बहुपत्नी प्रथा को समाज छोडता जा रहा था और बहुपति प्रथा का तो लगभग लोप ही हो चुका था। पुनर्विवाह को भी समाज हतोत्साहित करता था। यद्यपि पुनर्विवाह के विरोध मे कोई कानूनी बाधा खडी नही की गयी थी, कदाचित् संभव भी नही था, परन्तु फिर भी इतनी पाबन्दियाँ लगा दी गयी थीं जिनके कारण दूसरा विवाह करने वालो को सामाजिक कठिनाइयो का सामना करना पडता था। यद्यपि ये पाबन्दियाँ स्त्रियो तथा पुरुषो पर समान रूप से लागू होती थी, फिर भी पुरुषो की अपेक्षा स्त्रियो पर लगी पाबन्दियाँ अधिक कठिन थी। उदाहरण के लिए—

यदि कोई पुरुष यह कह कर दूसरा विवाह करना चाहता था कि उसकी पत्नी बन्ध्या है तो इसके लिए उसे आठ वर्ष तक प्रतीक्षा करनी पडती थी। मृत बच्चे या केवल कन्या पैदा करनेवाली पत्नी के पति को क्रमश दस एव बारह वर्ष तक प्रतीक्षा करनी पडती थी। तभी पुत्र की कामना से वह दूसरा विवाह कर सकता था। यह सुविधा स्त्रियो को यो ही नही मिल जाती थी।

समाज मे गरीब और अमीर का अन्तर्विरोध पैदा हो जाने के कारण शास्त्रकारो ने सम्पत्तिधारियो के लिए एक पत्नीव्रत का सामाजिक प्रतिबन्ध ढीला कर दिया था। तभी तो कौटल्य एव सभी शास्त्रकारो ने उन्हे चाहे जितनी स्त्रियो के साथ विवाह करने की छूट दे रखी थी।

इसके लिए यह कह कर नैतिक औचित्य देने का प्रयास किया गया था कि स्त्रियो का उपयोग सन्तान पैदा करने के लिए है।

(शुल्क स्त्री धनमशुल्कस्त्रीधनायां वा तत्प्रमाणाधिवेदनिक मनुरूपां च वृत्तिं दत्त्वा बह्वीरपि विन्देत। पुत्रार्था हि स्त्रिय)

अर्थात् यदि कोई व्यक्ति स्त्रियो के खाने-पीने तथा भरण-पोषण का प्रबन्ध कर सकता था वह चाहे जितनी स्त्रियो के साथ विवाह कर सकता था।

एसे पुरुषो पर राज्य की ओर से केवल इतना प्रतिबन्ध अवश्य लगाया जाता था कि बहुत से विवाह कर लेने के बाद यदि वह ऋतुकाल मे (मासिक धर्म होने के बाद) अपनी पत्नी की उपेक्षा करता था तो उससे ९६ पण दण्ड लिया जाता था।

बहुत विशेष परिस्थितियो मे स्त्री को यह अधिकार था कि वह अपने पति का परित्याग कर सकती थी और दूसरा विवाह भी कर सकती थी। परन्तु आज की भाँति उस पर दूसरा विवाह न करने का कडा प्रतिबन्ध नही था। यदि उसका पति नीच कर्म करने लगता था, सदा परदेश मे रहता था, राज-द्रोही हो जाता था, वह घातक (प्राणाभिहन्ता) हो जाता था, समाज ने उसका बहिष्कार कर दिया हो और या वह नपुसक हो तो पत्नी ऐसे पति का परित्याग कर सकती थी।

(नीचत्व परदेश वा प्रस्थितो राजकिल्बिषी।
प्राणाभिहन्ता पतितस्त्याज्यो क्लीबोऽपि वा पति॰।)

बहुत ही सकुचित और विशेष परिस्थितियाँ जब आती थी तभी पत्नी अपने पति से छुटकारा प्राप्त कर सकती थी।

फिर भी, जैसे बाद मे मनुस्मृति के काल मे स्त्रियो पर पद-पद पर अकुश था एव समाज मे उन्हे बहुत गिरी हुई दृष्टि से देखा जाता था, कौटल्यकालीन भारत मे उसी भाँति उनका चरम सामाजिक पतन नही हुआ था।

मनु ने कहा है—"पिता शैशव मे, पति यौवन काल मे और वृद्धावस्था मे बटे स्त्री की रक्षा करते है। स्त्री को ऐसी अवस्था मे भी स्वतत्रता नही देनी चाहिए।"

(पिता रक्षति कौमारें भर्त्ता रक्षति यौवने।
पुत्रा रक्षन्ति वार्द्धक्ये न स्त्री स्वातंत्र्यमर्हति॥)

तीसरा अध्याय

सामान्य प्रशासन

सीमा सम्बन्धी विवादो का निबटारा

कौटल्य कदाचित् सर्वप्रथम राजनेता और सिद्धान्त शास्त्री थे जिन्होने भारतवर्ष का अखण्ड राजनैतिक रूप मे दर्शन एव सगठन किया। इससे पहले के शास्त्रकारो ने यद्यपि चक्रवर्ती राज्य की कल्पना की थी और प्रत्येक सामन्त-कालीन लेखक एव कवि ने अपने आश्रयदाता राजा को चक्रवर्त्ती राजा के रूप मे चित्रित किया था, परन्तु वास्तविकता यही रही है कि वे राजा छोटे-मोटे प्रदेशो के और अधिक से अधिक सौ-दो सौ योजन व्यास से अधिक क्षेत्रफल के शासक नही होते थे। इनकी सामन्ती प्रतिद्वन्दितायें उन्हे सदा आपसी मुठभेडो मे व्यस्त रखती थी और इस प्रकार उनकी राजनैतिक, सैनिक और आर्थिक शक्तियो का निरन्तर ह्रास होता रहता था। परन्तु कौटल्य का चक्रवर्त्ती राज्य व्यावहारिक था और जैसा कि कौटल्य ने स्वय कहा है कि "हिमालय से दक्षिणी महासागर तक और पश्चिम से पूर्व की ओर एक हजार योजन (४००० कोस या ५५०० मील) लम्बा भूखण्ड चक्रवर्त्ती क्षेत्र होता है। इसका अर्थ हुआ कि अफगानिस्तान से ले कर बर्मा और उससे आगे दक्षिणी-पूर्वी एशिया के कुछ देशो तक कौटल्य अखण्ड भारतवर्ष का दर्शन करते थे। अपने अनुशासित शिष्य चन्द्रगुप्त मौर्य के खड्ग की छाया मे उसने ऐसे ही अखण्ड भारतवर्ष की राजनैतिक एकता के स्वप्न देखे थे एव उन्हे अपने बुद्धि वैभव से साकार किया था।

परन्तु ऐसे विशाल हिन्दू साम्राज्य का सामान्य प्रशासन किन्ही मान्य सिद्धान्तो के अभाव मे चल नही सकता था और न इतना बडा राज्य केवल एक ही और अविभाज्य प्रशासनिक इकाई के रूप मे व्यवस्थित ढग से चल सकता था। इसीलिए राज्य की विशाल सीमाओ के आधीन छोटे-छोटे प्रदेशो,

जनपदो, नगरो (स्थानीय निकायों) और ग्राम समुदायों की स्थापना की जाती थी और उनके छोटे-बडे शासक नियुक्त किये जाते थे। इन इकाइयो की सीमायें होती थी जिनका पालन करना सभी के लिए अनिवार्य था और उनका उल्लघन करने पर व्यक्तिगत रूप मे तथा सामूहिक रूप मे दण्डनीय समझा जाता था।

यदि दो गाँवो के बीच की सीमा पर विवाद उठ खडा होता था तो उन गाँवो के मुख्य अथवा आस-पास के पाँच या दस गाँवो के मुखिया इकट्ठे होते थे जिन्हे पचग्रामी एव दशग्रामी कहा जाता था और वे स्थायी एव अस्थायी रूप मे सीमा का अकन कर देते थे।

जब इतने से भी विवाद शान्त नही हो पाता था तो गाँववाले, किसान' वृद्ध तथा अन्य अनुभवी व्यक्ति जो कि सीमाओ से पूर्व परिचित न हो, अपने वेश मे परिवर्त्तन करके और दोनो गाँवो की सर्वसाधारण जनता मे घुलमिल कर वास्तविकता का पता लगाते थे। उनकी गवाही के आधार पर अन्तिम रूप से सीमा का विवाद शान्त कर दिया जाता था।

बने-बनाये सीमा चिह्नो को जो तोड देते थे उन्हें एक हजार पण दण्ड दिया जाता था। सीमा के प्रश्न पर स्वय राजतत्र इतना सचेत एव जागरूक था कि किसी भी तरह विवाद शान्त न होने पर राज्य स्वय हस्तक्षेप करता था एव अपना अन्तिम निर्णय देता था।

यदि खेतो की सीमा पर विवाद हो जाता था तो सामन्त एव ग्रामवृद्ध न्यायालय के रूप मे कार्य करते थे। उनमे मतभेद हो जाने पर बहुमत का निर्णय मान्य समझा जाता था। अपवाद स्वरूप कभी-कभी ईमानदार व्यक्तियो के अल्पमत के मुकाबिले बहुमत का निर्णय अमान्य भी कर दिया जाता था। यदि दोनो किसान अन्तहीन ढग से विवाद करते थे तो राजा उनकी विवादास्पद सम्पत्ति का स्वामी बन जाता था। लावारिस की सम्पत्ति भी राज्य की ही समझी जाती थी। दूसरे मकान तथा भूमि आदि पर जबरदस्ती अधिकार जमा लेने पर चोरी का दण्ड दिया जाता था। जो किसान खेत की मेड (डौल) काट कर अपना खेत बढाने का प्रयत्न करते थे, उन्हे प्रथम साहस दण्ड दिया

जाता था और मेड को बिल्कुल समाप्त कर देने पर और भी कडा दण्ड मिलता था।

इसी प्रणाली से तपोवन, चरागाह, राजमार्ग (बडी सडकें) श्मशान देवालय, यज्ञ स्थान तथा अन्य पुण्य एव सार्वजनिक स्थानो की सीमाओ के विवादो का निबटारा किया जाता था।

जनपदो मे जनगणना और खतौनियो का विवरण

सम्पूर्ण राज्य पहले जनपदो (प्रदेशो) मे विभक्त किया जाता था और फिर प्रत्येक जनपद चार विभागो मे बाँटा जाता था। वे विभाग थे—आठ सौ गाँवो मे स्थानीय, चार सौ गाँवो मे द्रोणमुख, दो सौ गाँवो मे खार्वटिक, और दस गाँवो मे सग्रहण। इन चारो सगठनो को राजकीय आय के हिसाब से श्रेष्ठ, मध्यम तथा निकृष्ट कक्षाओ मे रखा जाता था। प्रत्येक गाँव का सामूहिक क्षेत्रफल, उसकी भौगोलिक स्थिति, वह दान मे या छूट मे दिया गया हो तो उसका उल्लेख, यदि सैनिक पुरुषो को विशेष सेवा मे दिया गया हो तो उसका नामाकन, उस गाँव से राज्य को प्रतिवर्ष कितने सैनिक मिल सकते है आदि का विवरण तथा वहाँ प्रतिवर्ष कितना अनाज, पशु और धन पैदा होता है, राज्य को कितना मिल जाता है तथा समय पडने पर कितना बेगारी मिल सकते हैं, आदि का समस्त विवरण पुस्तक मे लिखने की परिपाटी थी। इन गाँवो को ५–५ या १०–१० के सगठनो मे बाँध कर गोप नामक अधिकारी की नियुक्ति की जाती थी जो राज्य की ओर से वहाँ प्रशासक एव सगठन का कार्य करता था। जनपदो मे गोप नामक अधिकारी निम्न स्तर पर राज्य का प्रमुख प्रतिनिधि माना जाता था। यह सब सगठन समाहर्त्ता नामक सर्वोच्च अध्यक्ष के निर्देशन मे होता था।

(समाहर्त्ता चतुर्धा जनपद विभज्य ज्येष्ठ मध्यम कनिष्ठ विभागेन ग्रामाग्र परिहारक मायुधीय धान्य पशु हिरण्य कुप्य विष्टिकर प्रतिकर मिदमतावदिति निबन्धयेत्। तत्प्रदिष्ट पचग्रामीं दशग्रामीं वा गोपश्चिन्तयेत्)

गोप अधिकारी की देखरेख मे राज्य प्रत्येक गाँव के सम्बन्ध मे निम्न-लिखित विवरण अपनी विवरण स्तिपुका (रजिस्टर) मे रखता था —

उस गाँव की सीमा को दूसरे गाँव की सीमा से पृथक् करने वाली नदी,

पर्वत, टीला या अन्य कृत्रिम सीमा चिह्न, कृष्ट (मजरुआ) भूमि कितनी है, अकृष्ट (गैरमजरुआ) भूमि कितनी है, स्थल अर्थात् औसत भूमि से कुछ ऊँची भूमि कितनी है, केदार अर्थात् औसत भूमि से कुछ नीची भूमि कितनी है, आराम (बागो मे) कितमी भूमि है, षण्ड (केले आदि की वन भूमि) कितनी है, वाट (ईख आदि) के खेत कितने हैं, वन (ईमारती लकडी) के जगल कितने हैं, वास्तु (आबादी) मे कितनी भूमि है, चैत्य और देवगृह आदि पवित्र स्थानो मे घिरी भूमि कितनी है, सेतुबन्ध, तालाब और पानी मे डूबी एव सिंचाई के कार्य से सम्बन्धित भूमि कितनी है, श्मशान, सत्र, अन्न देने का स्थान। प्रथा (व्यक्ति) अन्य सार्वजनिक स्थान, विवीत (चरागाह) और रथ, गाडी, पैदल आदि मार्गों के कार्य मे आनेवाली भूमि कितनी है। और जो उस गाँव मे विशेष उल्लेखनीय बात हो।

निबन्धन पुस्तक (रजिस्टर) मे किसी खेत विशेष का परिमाण लिखने के साथ ही उसके पास से आनेवाले सार्वजनिक मार्गों, नदी, पहाड तथा वृक्ष आदि का एव उसकी मर्यादा (सीमा) का भी उल्लेख किया जाता था। ऐसे अरण्यो का भी जो किसी पुरुष विशेष के कार्य मे न आते हो और इन बातो का भी कि किसने अपनी कितनी भूमि किसी पुरुष विशेष को जोतने-बोने के लिए दी है, किसने किसको क्या बेचा है, किसने किस पर क्या अनुग्रह किया है, परिहार (कर आदि मे जो छूट दी गई हो) गाँव मे कितने घर कर देनेवाले है, कितने घर बिना कर देनेवाले हैं, (कर शब्द से यहाँ अभिप्राय गृहकर तथा भूमिकर दोनो से है—इसलिए कि कौटल्य कालीन भारत मे ये दोनो कर प्रचलित थे) तथा प्रत्येक घर का पूरा विवरण कि उसमे कितने व्यक्ति रहते है तथा कितने कर देते है, आदि।

(सीमावरोधेन ग्रामाग्र कृष्टाकृष्ट स्थल केदारारान षण्ड वाट वन वास्तु चैत्य देवगृह सेतुबन्ध श्मशान सत्र प्रपा पुण्यस्थान विवीत पथसख्यानेनक्षेत्राग्र, तेन सीम्ना क्षेत्राणां च मर्यादारण्य पथि प्रमषा सप्रदान विक्रयानुग्रह परिहार निबन्धान् कारयेत् । गृहाणां च करदाकरद सख्यानेन)

निबन्धन पुस्तक मे यह विवरण भी रखा जाता था कि किसी गाँव मे

कितने ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य तथा शूद्रो के घर हैं, कितने किसान, ग्वाले, वैदेहक व्यापारी, शिल्पी, कर्मकर (वेतनजीवी मजदूर) और दास रहते हैं। प्रत्येक घर का विवरण देने के बाद गाँव का सामूहिक विवरण दर्ज किया जाता था कि कुल मिलाकर कितने मनुष्य और पशु हैं तथा कुल मिलाकर उनसे कितना हिरण्य, नौकर-चाकर (विष्टि) शुल्क एव दण्ड राज्य को मिलता है।

(तेषु चैतावच्चातुर्वर्ण्यमेतावन्त कर्षक गोरक्षक वैदेहक कारु कर्मकर दासा श्चैतावच्च द्विपदचतुष्पदमिद च हिरण्य विष्टि शुल्क दण्ड समुत्तिष्ठतीति)

प्रत्येक घर का विवरण भी पृथक् से रखा जाता था कि उसमे कितने पुरुष और कितनी स्त्रियाँ बालक एव वृद्ध रहते हैं तथा उनकी आजीविका और व्यय क्या-क्या हैं। यही व्यवस्था जनपद के चौथे भाग का स्थानिक नामक अधिकारी रखता था। गोप और स्थानिक के कार्यक्षेत्रो मे प्रदेष्टा नामक अधिकारी पृथक् से कार्य करते थे जो गोप तथा स्थानिक के अधिकारो के साथ-साथ न्यायाधिकरण का अधिकार रखते थे और जिन्हें दण्ड देने, दण्ड ग्रहण करने, राजद्रोहियो का शमन एव दमन करने तथा प्रजा मे राजतन्त्र के प्रति आस्था रखवाने का विशाल अधिकार भी था।[1]

(कुलानां च स्त्री पुरुषाणां बाल वृद्ध कर्म चरित्राजीव व्यय परिमाण विद्यात्। एव च जनपद चतुर्भाग स्थानिकश्चिन्तयेत्। गोपस्थानिकस्थानेषु प्रदेष्टार कार्यकरण बलि प्रग्रह च कुर्यु)

इन गाँवो को छोड कर दूसरी जगह जा कर बसनेवालो, फिर वहाँ से लौट कर वापिस इन्ही गाँवो मे आकर बसने वालो, दूसरे प्रदेश तथा राज्य से आकर इन गाँवो मे बसनेवालो के आवास-प्रवास आदि का पूरा विवरण गोप एव स्थानिक अधिकारी रखते थे। और जो नट नर्त्तक आदि राज्य की आय मे विशेष सहायक नही होते थे, गुप्तचरो द्वारा उनकी पूरी गतिविधि की देखरेख रखी जाती थी।

(प्रस्थितागताना च प्रवासावासकारणमनर्थ्यना च स्त्रीपुरुषाणां चार प्रचार च विद्यु)

वैदेहक (व्यापारी) के वेश मे गाँवो मे रहने वाले गुप्तचर खनिज, सेतुज,

वनज तथा कर्मान्तिज पदार्थों का पूरा विवरण पृथक् से रखते थे। ये वैदेहक अपना हिसाब रखते थे और इसीलिए गुप्तचर कार्यों द्वारा प्राप्त सूचनाओ का विवरण रखने पर किसी को उन पर सन्देह भी नही हो सकता था।

राज्य के करो तथा शुल्क आदि का अन्यधिक भार प्रजाजनो पर रहता था। राज्य निरन्तर अपनी वैभव वृद्धि मे प्रयत्नशील था। इस भार से बचने लिए प्रजाजन अपनी आय छिपाने का निरन्तर प्रयत्न करते थे। यही कारण है कि व्यापारिक आदि के वेश मे रहनेवाले गुप्तचरो से राज्य अपने ग्रामो तथा जनपदो की वास्तविक पैदावार का पूरा विवरण प्राप्त करने का प्रयत्न करता था। इसी प्रकार, गाँवो मे तपस्वियो के वेश मे रहनेवाले गुप्तचर कर्षक (किसान) गोपालक, व्यापारी तथा अध्यक्षो के आचरणो पर निगाह रखते थे कि कही वे ही तो बीच मे राज्य की आय नही खा जाते है? पुराने चोरो के नाम से जगलो मे छिप कर रहनेवाले गुप्तचर जगल की पैदावार का सही सही विवरण प्राप्त करते थे।

नगरो मे जनगणना और सुरक्षा आदि की व्यवस्था

प्रत्येक नगर मे सामान्य प्रशासन के लिए एक उच्चाधिकारी राज्य की ओर से कार्य करता था जिसे नागरिक कहते थे। वह नगर के प्रत्येक दस या बीस कुलो पर अथवा चालीस कुलो पर एक गोप अधिकारी की नियुक्ति करता था। वह गोप पुरुष प्रत्येक घर के स्त्री-पुरुषो, उनकी जाति और गोत्र की कुलसख्या एव उनके आय-व्यय के साधनो के उल्लेख के साथ साथ उनकी सामूहिक गणना करता था। इन नगरो के धर्मावसथो (धर्मशालाओ तथा विश्राम स्थानो) मे आगन्तुक व्यक्ति गोप को सूचना देकर ही ठहर सकते थे। धर्मावसथ के अधिकारी अपने परिचित महानुभावो को अपनी जिम्मेदारी पर भी ठहरा सकते थे। कारु एव शिल्पी आदि अपने परिचित शिल्पियो को अपने घरो पर ठहरा सकते थे। व्यापारियो को भी यह अधिकार था कि वे अपने सौदागरो को अपने घरो पर या दूसरे व्यापारियो के घरो पर टिका सके। परन्तु जो सौदागर मर्यादा के विरुद्ध व्यापार करते थे, राज्य की ओर से निषिद्ध वस्तुओ का या पराई वस्तुओ का तस्कर व्यापार करते थे उनके आगमन तथा व्यवहार की सूचना नागरिक एव गोप को देनी अनिवार्य समझी जाती थी।

(समाहर्त्ता बन्नागरिको नगर चिन्तयेत् । दशकुली गोपो विंशतिकुलीं चत्वारिंशत्कुलीं वा । स तस्यां स्त्रीपुरुषाणा जातिगोत्रनामकर्मभि जधाप्रमायव्ययौ च विद्यात्)

मधु विक्रेता पका मास बेचने वाले तथा पका अन्न बेचने वाले भोजनालयो तथा होटलो के मालिक तथा वेश्याये भी अपने परिचितो को अपनी जिम्मेदारी पर अपने यहाँ ठहरा सकते थे। परन्तु आगन्तुको मे जो व्यक्ति अत्यधिक खर्च करने वाला हो तथा मर्यादा से अधिक मदिरा पान करने वाला हो उसकी सूचना गोप तथा नागरिक को अवश्य दी जाती थी। यदि किसी चिकित्सक से कोई व्यक्ति छिपे तौर पर घावो की चिकित्सा करवाता था, रोग फैलाने वाले द्रव्यो का छिपे तौर पर प्रयोग करता था और चिकित्सक की हिदायतो का उल्लघन करता था तो चिकित्सक के लिए अनिवार्य समझा जाता था उसकी सूचना गोप तथा नागरिक को दे दे। ऐसा न करने पर चिकित्सक भी अपराधी समझा जाता था। यही सिद्धान्त उस गृहपति पर लागू होता था जो उसे अपने यहाँ टिकाता था।

यदि ये होटल वाले आदि आने-जाने वालो की सूचना नही देते थे तो उनके अपराध के समान अपराधी समझे जाते थे और उनके अपराध न करने पर भी सूचना न देने पर तीन पण दण्ड भुगतना पडता था।

जो गुप्तचर, व्यापारी, ग्वाले और लकडहारे आदि के वेश मे रहते थे और इसीलिए आम रास्तो के अलावा रास्तो पर घूमते थे उन्हे यह अधिकार था कि जिस किसी अजनबी व्यक्ति को निम्नलिखित अवस्थाओ मे देखते थे उसे पकड कर गोप या उच्च अधिकारी को सौप दे। जो नगर के बाहर या भीतर बने देवालयो, तीर्थस्थानो तथा श्मशानो मे घाव लगी हालत मे घूम रहे हो, निषिद्ध हथियार तथा विष आदि जिनके पास हो, जो शक्ति से अधिक भार अधिक उठाये हुए हो, डरा या घबराया हुआ प्रतीत होता हो, घोर निद्रा मे सोया हुआ हो, लम्बे सफर से चूर-चूर हो, या जिसे देख कर स्वयमेव अपराधी होने की शका होती हो।

यह समझा जाता था कि यह व्यक्ति या तो घोर अपराध कर चुका है और या करने वाला है।

(धर्मावसथिन पाषण्डिपथिकानावेद्य वासयेयु । स्वप्रत्ययांश्च तपस्विन श्रोत्रियाश्च । कारुशिल्पिन स्वकर्मस्थानेषु स्वजन वासयेयु । वैदेहकाश्चान्योन्य स्वकर्मस्थानेषु पण्यानामदेशकाल विक्रेतारमस्वकरण च निवेदयेयु । शौण्डिक पक्वमांसिकौदनिकरूपाजीवा परिज्ञातमावासयेयु । अतिव्ययकर्त्तारमत्याहित कर्माण च निवेदयेयु । चिकित्सक प्रच्छन्न व्रण प्रतीकारकारयितारमपथ्यकारिण- च गृहस्वामी च निवेद्य गोपस्थानिकयो मुंच्येतान्यथा तुल्यदोष. स्यात् । प्रस्थिता- गतौ च निवेदयेत् । अन्यथा रात्रिदोष भजेत। क्षेमरात्रिषु त्रिपण दद्यात्। पथिको- त्पथिकाश्च बहिरन्तश्च नगरस्य देवगृहपुण्यस्थानवनश्मशानेषु सव्रणमनिष्टोप- करणमुद्भाण्डीकृत नाविग्नमतिस्वप्नमध्वक्लान्तमपूर्व वा गृह्णीयु)

इसी प्रकार, नगर के अन्दर शून्य स्थान मे, शिल्पशाला मे, मद्य की दुकानो, होटलो, पकामास बेचने दुवालो की दुकानो, जुवारिया के स्थानो तथा पाखण्डियो के निवास स्थानो मे उपर्युक्त लक्षणो से युक्त व्यक्तियो का अन्वेषण किया जाता था और यह माना जाता था कि ये स्थान अपराध करने वालो के केन्द्र होते हैं।

नगरो मे गर्मियो के दिनो मे दोपहरी के समय कोई आग नही जला सकता था। इसका उल्लघन करने वाले को पण का आठवाँ भाग दण्ड देना पडता था। गर्मियो मे तिनको तथा फूस के मकान रखने की स्वीकृति नही मिलती थी। लुहार एव बढाई आदि जो अग्नि से अपनी आजीविका चलाते हैं, उन्हे नगर से बाहर एकान्त मे बसाया जाता था। नागरिक रात्रि के समय अपने घरो के सामने नही सो सकते थे। ऐसा करने से अपराधियो को छिप जाने का अवसर मिलता था। नागरिक आधी रात के बाद इधर-उधर नही घूम सकते थ। गलियो तथा राजपथो (बडी सडको) पर पानी भरे एक हजार घडे हर समय तैयार रखे जाते थे। यही व्यवस्था नागर के चौराहो, प्रवेश द्वार तथा राजकोश आदि स्थानो पर रखी जाती थी।

पडोसी के घर मे आग लगने का समाचार सुनते ही जो हाथ का काम छोड कर तत्काल उसकी सहायता को नही दौडता था उसे राज्य की ओर से १२

पण दण्ड मिलता था। यदि मकान मालिक का किरायदार (अवक्रयी) ऐसी लापरवाही करता था तो उसे ६ पण दण्ड मिलता था। यदि आग लगने का कारण मकान मालिक का प्रमाण सिद्ध हो जाता था तो उससे ५४ पण दण्ड लिया जाता था। आग लगाने वाला यदि मौके पर पकड लिया जाता था तो आग मे जिन्दा जला दिया जाता था।

गली या सडक पर मिट्टी एव कूडा डालने वाला व्यक्ति अपराधियो की श्रेणी मे गिना जाता था। जो गारा और कीचड आदि से सार्वजनिक रास्ते रोकता था उसे भी दण्ड मिलता था। राजमार्ग इस प्रकार रोकना बडा अपराध माना जाता था। जो व्यक्ति राजमार्ग पर बने पवित्र स्थान, जलाशय या सरोवर देवालय, राजकोष आदि राज परिग्रह के पास टट्टी फिरता था उसे एक पण से चार पण तक दण्ड मिलता था। पेशाब करना भी वर्जित था।

जो व्यक्ति नगर के समीप या अन्दर की ओर मरा हुआ कुत्ता, बिलाव, नकुल और सर्प फेंक देता था उसे तीन पण दण्ड मिलता था। गधा, ऊँट, खच्चर घोडा और पशु का मुर्दा फेंकने पर ६ पण एव मनुष्य का शव फेंक देने पर पचास पण दण्ड मिलता था।

शव ले जाने के लिए नियत मार्ग से भिन्न मार्ग से अरथी ले जाने पर पूर्व साहस एव द्वारपाल को दो सौ पण दण्ड मिलता था। इससे यह सन्देह किया जाता था कि स्वाभाविक मृत्यु से मरे किसी व्यक्ति का शव नही है प्रत्युत ऐसे व्यक्ति का शव है जिसकी हत्या की गई है। श्मशान से भिन्न स्थान पर शव रखने या जलाने पर १२ पण दण्ड मिलता था।

नगरो मे सोने तथा जगाने के समय तुरही बाजा बजा कर शब्द किया जाता था और इसके बाद प्रतिष्ठित नागरिको के लिए सोना तथा जग जाना अनिवार्य समझा जाता था। सोने का बाजा बजने के बाद लोगो को सडको तथा गलियो मे घूमने की स्वतन्त्रता नही थी। जो आग लग जाने, प्रसूता स्त्री अथवा बिमारी के कारण एव राज्य द्वारा स्वीकृत तमाशो मे भाग लेने के कारण पकड लिए जाते थे, उन्हे पूछताछ के बाद छोड दिया जाता था।

जिन रात्रियो मे आम लोगो को घूमने-फिरने के पूरी स्वतन्त्रता रहती थी उन रात्रियो मे भी निम्नलिखित परिस्थितियो मे पाए जाने पर नागरिक पकड लिए जाते थे और नगर प्रमुख के सम्मुख पेश किए जाते थे—यदि कोई छिपे वेश मे घूम रहा हो, यदि स्त्री ने पुरुष का और पुरुष ने स्त्री का वेश धारण कर रखा हो, यदि कोई गृहस्थ सन्यासी के वेश मे हो और यदि कोई शस्त्र के साथ घूमता हो।

कारागार (बन्धनागार) मे बन्द बूढ़े, बालक, बीमार और अनाथ बन्दी राजा की जन्म गाँठ तथा पूर्णमासी आदि पवित्र अवसरो पर कारागार से मुक्त कर दिये जाते थे और जो अच्छे आचरण के अपराधी भविष्य मे अपराध न करने का आश्वासन दे कर अपने अपराध का निष्क्रय (आर्थिक बदला मुवावजा) भुगतान कर देते थे उन्हे बीच मे भी छोड दिया जाता था।

सप्ताह मे कम से कम पाँचवाँ दिन ऐसा अवश्य आता था जब अपराधियो से निष्क्रय ले कर उन्हे मुक्त कर दिया जाता था। निष्क्रय तीन रूपो मे होता था—जेल मे काम करवा कर, शारीरिक दण्ड देकर तथा सोना आदि के रूप में भुगतान ग्रहण करके। जो निष्क्रय आसानी से हो सकता था, उसी पर अपराधी मुक्त किया जाता था। किसी नये देश के जीत जाने पर अथवा युवराज के अभिषेक के अवसर पर अथवा पुत्र जन्मोत्सव पर अपराधी जेल से अवश्य मुक्त किए जाते थे।

(बन्धनागारे च बालवृद्धव्याधितानाथानां च जातनक्षत्रपौर्णमासीषु विसर्गः। पुण्यशीला समयानुबद्धा वा दोषनिष्क्रयं दद्यु।)

दिवसे पञ्चरात्रे वा बन्धनस्थान् विशोधयेत्।
कर्मणा कायदण्डेन हिरण्यानुग्रहेण वा॥
अपूर्व देशाधिगमे युवराजाभिषेचने।
पुत्र जन्मनि वा मोक्षो बन्धनस्य विधीयते॥)

नाप-तोल और समय मानकी प्रणाली

सामन्तवाद ने समाज के आर्थिक ढांचे पर पूरा नियन्त्रण कर लिया था और आर्थिक व्यवहार प्राकृतिक अवस्था से निकल चुका था। वस्तुओ का आदान-

प्रदान व्यापक हो चला था और खेती के विकास ने प्रत्येक परिवार के पास अपनी आवश्यकताओ से अधिक पैदावार दे दी थी जिसे वह दूसरे लोगो को दे सकता था। इसीलिए आदान-प्रदान के सामान्य नियमप्र चलित हो चुके थे और उन्हे कडे नियमो मे बाँधना आवश्यक था। समाज मे एक ऐसे वर्ग ने जन्म ले लिया था जो पैदावार मे तो हाथ नही बँटाता था बल्कि उसका केवल आदान-प्रदान करता था और इसमे वह व्यापक हेरा-फेरी करके उत्पादको के मुकाबिले अधिक लाभ मे रहता था। इसीलिए, सामन्ती समाज ने वस्तुओ के आदान-प्रदान के रूप मे नापने और तोलने के सिद्धान्तो का कठोरता के साथ निर्द्धारण किया था। इसी प्रकार, वेतनजीवी मजदूरो के उदय के साथ ही समय की पाबन्दियाँ अधिक अनिवार्य हो गई थी। इसके अलावा, सामाजिक जीवन के अधिक व्यवस्थित हो जाने से समय की धारणाएँ भी बदलती गई और उनका सुनिश्चित करना अनिवार्य हो गया।

राज्य की ओर से पोतवाध्यक्ष नामक उच्च अधिकारी नियुक्त किया जाता था जिसकी देखरेख मे तोलने के बाटो और नापने के गज आदि मानो का निर्माण करवाया जाता था। जनता और व्यापारियो के लिए अनिवार्य था कि वे राजकीय मानो तथा बाटो का ही प्रयोग करे।

तोलने के बाट आमतौर पर केवल सोना, चाँदी और हीरो के तोलने के लिए काम आते थे। तोलने के सब बाट या तो लोहे के बनवाये जाते थे और या फिर मगध और मेकल देश के पत्थरो से बनाये जाते थे जिन्हे सुखा कर हल्का या भिगोकर भारी नही बनाया जा सकता था और न जिन पर लेप ही किया जा सकता था। तुला भी मनमाने ढग से नही रखी जाती थी। सबसे छोटी तुला छ अगुली की और सबसे बडी प्रत्येक पर ८ अगुल बढाते हुए अठत्तर अगुल तक की हो सकती थी। इनका भार भी निश्चित था। एक पल लोहे से लगा कर प्रत्येक तुला मे एक पल बढते-बढते ७८ अगुलवाली तुला का भार दस पल होता था। शिक्यो (पलडो) का भार भी तुलाभार मे सम्मिलित होता था। ये तुलाये चाँदी-सोना तोलने के लिए होती थी। मोटा सामान तोलनेवाली तुलाओ के लिए भी निश्चित नियम थे और उनमे मनमानी नही की जा सकती

थी। ऐसी तुलायें बहत्तर अगुल, तीन हाथ लम्बी होती थी और उनके बीच मे ५ पल का कोरा लगवाया जाता था जहाँ तोलने का निशान अकित रहता था। इसके बाद छोटे-छोटे मापक अक लगे रहते थे जिनके पास आये काँटे को देख कर खरीदार के मन का सन्देह दूर हो जाता था।

समाज मे तुलाओ के बहुत से अवान्तर भेद प्रचलित थे और प्रत्येक के लिए पृथक्-पृथक् नियम थे। मोटा मामान तोलने के लिए जो बाट काम मे लाये जाते थे वे इस प्रकार थे—

१—१०० पल =एक तुला

२— २० तुला =एक भार, इसी प्रकार

३— १० धरण =१ पल

४—१०० पल =१ आयमानी

कुल मिला कर १६ प्रकार की तुलाएँ और १४ प्रकार के बाट काम मे लाए जाते थे।

१—१६ द्रोण=१ खारी २—२० खारी=१ कुम्भ

३—१० कुम्भ १ वह आदि।

राज्य की ओर से इन तुलाओ तथा बाटो का मूल्य भी निश्चित होता था जिसे प्रजाजन नियत स्थानो से खरीदते थे।

दूरी मापने के लिए निम्नलिखित कल्पित सज्ञाये थीं—

१—८ परमाणु =१ धूलिकण

२—८ धूलिकण=१ लिक्षा

३—८ लिक्षा =१ यूकामध्य

४—८ यूकामध्य=१ यवमध्य

५—८ यवमध्य =१ अगुल

६—४ अगुल =१ धनुर्ग्रह

७—२ धनुर्ग्रह =१ धनुष्टि

८—२ धनुर्ग्रह =१ धनुर्मुष्टि

९—१½ धनुर्मुष्टि=१ वितस्ति (बिलायद)

१०—२ वितस्ति=१ अरत्रि (हाथ)

११—४ अरत्रि=१दण्ड

१२—१० दण्ड=१ रज्जु

१३—२ रज्जु=१ परिदेश

१४—१½ परिदेश= १ निवर्त्तन

१५—६⅔ निवर्त्तन=१ गोरुत (कोस)

१६—४ गोरुत=१ योजन

समय नापने की परिकल्पनाएँ निम्निलिखित थी—

२ त्रुट	=१ लव	१५ दिन	=१ पक्ष
२ लव	=१ निमेष	२ पक्ष	=१ मास
५ निमेष	=१ काष्ठा	२ मास	=१ ऋतु
३० काष्ठा	=१ कला	३ ऋतु	=१ अयम (दक्षिणायन-उत्तरायण)
४० कला	=१ नाडिका	२ अयन	=१ सवत्सर (वर्ष)
२ नाडिका	=१ मुहूर्त्त	५ सवत्सर	=१ युग
१५ मुहूर्त्त	=१ दिन और रात		

सूर्य और चन्द्रमा की गति के वैषम्य से जो मलमास (अधिकमास) होते हैं उनके लिए तीसरे साल ग्रीष्म ऋतु मे तथा पाँचवे साल हेमन्त ऋतु मे अधिक मास बनाने की प्रथा प्रचलित थी और इस प्रकार दोनो की गतियो मे सामञ्जस्य स्थापित करके समन्वय कायम किया जाता था।

कुल मिला कर नाप, तोल, मान और समय विभाग की कल्पनाओ से यह आभास होता है कि इस सम्बन्ध मे जो परिभाषाएँ की गई थी, उनके अनुसार यद्यपि राजनैतिक तथा सामाजिक नियत्रण और मान्यताएँ पर्याप्त मात्रा मे थी, और उनका व्यावहारिक रूप सुगठित था, परन्तु फिर भी प्रारम्भिक अवस्था से आगे नही गई थी। सभवत उस युग मे इससे अधिक सभव भी नही था।

देश मे नागरिको के घूमने-फिरने पर प्रतिबन्ध

कौटल्य कालीन भारत का नागरिक एक स्थान से दूसरे स्थान पर तथा एक जनपद से दूसरे जनपद मे आमतौर पर घूमता-फिरता नही था। समाज की अधिकाश जनसख्या स्थायी रूप से एक ही स्थान पर रहती थी। पीढियाँ गुजर जाती थीं, लोगो को एक ही स्थान पर रहते हुए और बाहरी दुनिया के साथ उनका सम्पर्क नही के बराबर होता था। यह बात नही है कि पशुपालन और कबीला युग की घुमन्तू आदते बिल्कुल समाप्त हो गई हो और लोगो की घूमने-फिरने की रुचि का अन्त हो गया हो, बल्कि उसका एक बडा कारण सामन्ती प्रतिबन्ध भी था। सामन्ती राजतत्र यह पसन्द नही करता था कि उसके नागरिक

या प्रजाजन अपना-अपना काम छोड कर इधर-उधर घूमने मे समय खराब करें। किसी एक राज्य का नागरिक स्वेच्छा से इधर-उधर नही आ-जा सकता था। इसके लिए उसे मुद्राध्यक्ष से एक माषक शुल्क दे कर स्वीकृति पत्र लेना पड़ता था। जिस व्यक्ति के पास राजकीय मुद्रा होती थी, वही नये जनपदो मे प्रवेश कर पाता था या अपने जनपद से बाहर जा सकता था। ऐसा परिपत्र (विसा) प्राप्त किये बिना नागरिको के घूमने-फिरने पर प्रतिबन्ध था। बिना मुद्रा लिए जो यात्रा करते थे उन्हे १२ पण दण्ड भुगतना पडता था। जाली मोहर (कूट मुद्रा) ले कर यात्रा करने पर साहस (डाका) का दण्ड भरना पडता था। और यदि बाहरी देश का नागरिक उस देश मे तथा उस देश का नागरिक विदेश मे ऐसी यात्रा करता था तो उसे उत्तम साहस दण्ड का भागी बनना पडता था।

इस प्रतिबन्ध का एक बडा कारण राजनैतिक था। सामन्तवाद समाज मे अपना आधार कमजोर समझता था और उसे हर समय अपने अपदस्थ होने की आशका बनी रहती थी। लोगो के निरन्तर इधर-उधर घूमते रहने मे उसे आशिक विद्रोह के सगठन की अधिक सभावनाये दिखाई देती थी।

श्रमदान और सामूहिक कार्यो के सम्बन्ध मे

उस किसान से अत्यय (हरजाना) वसूल करने का अधिकार ग्रामवासियो को होता था जो गाँव मे रह कर खेती न करे या सामूहिक हित के कार्यों मे हाथ न बँटाये (अभ्युपेत्याकुर्वत) यदि वह ऐसे कार्यों मे स्वय शारीरिक श्रम नही करता था तो उससे दो व्यक्तियो का दैनिक वेतन वसूल किया जाता था, सामूहिक कार्य मे आये खर्च का उसे प्रति व्यक्ति के हिसाब से दुगना खर्च देना पडता था (हिरण्यदान) और कार्य सम्पादन के उपरान्त सहभोज आदि मे होने वाले खर्च का भी उसे दुगना हिस्सा (अशदानम्) अदा करना पडता था। इस प्रकार सामाजिक अर्थतत्र एव विशेष रूप से कृषि के विकास कार्य मे प्रत्येक ग्रामवासी को अनिवार्य रूप से हाथ बँटाना पडता था।

यदि पूरा गाँव मिल कर कोई नाटक, तमाशा (प्रेक्षा) आदि का प्रबन्ध करता था और कोई व्यक्ति उसके लिए आवश्यक हिस्से (अश) का भुगतान नही करता था तो उसके परिवार के किसी भी व्यक्ति को उस मनोरजन समारोह

मे सम्मिलित होने का अधिकार नही मिलता था। यदि ऐसे लोग छिप कर संगीत सुनते थे या तमाशा (प्रेक्षा) एव नाटक आदि देखते थे और सार्वजनिक कार्यों से (सर्वहिते च कर्मणि) अपने आपको पृथक् रखते थे तो उन्हे अपने हिस्से की तुलना मे दुगना खर्च अदा करना पडता था।

यदि कोई व्यक्ति आगे बढ कर सामूहिक हित की पैरवी करता था और उसे सफल बनाने का प्रयास करता था तो सभी लोग उसकी आज्ञाओ का पालन करते थे। इसमे बहुमत और अल्पमत का विवाद नही उठाया जाता था।

(प्रच्छन्न श्रवणेक्षणे च सर्वहिते च कर्मणि निग्रहेण द्विगुणमश दद्यात् (सर्व हितमेकस्य ब्रुवत कुर्युराज्ञाम् ।)

और यदि ऐसे सर्वहितकारी व्यक्ति के विरोध मे शेष लोग गुट बना लेते थे, उसका विरोध करते थे या उसे मारते-पीटते थे एव परेशान करते थे तो सभी को दण्डनीय समझा जाता था और राज्य ऐसे व्यक्ति की रक्षा करता था।

(त चेत्सभूय वा हन्यु पृथगेषामपराध द्विगुणो दण्ड)

यदि कोई ब्राह्मण अथवा अन्य प्रतिष्ठित व्यक्ति ऐसे सर्वहितकारी ु रुष का विरोध करते थे उन्हे विशेष एव कठोर दण्ड दिया जाता था। हाँ, ब्राह्मण यदि स्वय श्रमादान से बचना चाहता था तो उसके हिस्से का काम दूसरे कर देते थे। परन्तु अपने हिस्से का खर्च उसे भी अदा करना पडता था।

इस प्रकार, नई एव सघर्षशील व्यवस्था के रूप मे पदार्पण करके सामन्तवाद ने भारतीय समाज मे सभी लोगो तथा शक्तियो को नवनिर्माण की दिशा मे मोड रखा था।

श्रमदान और सामूहिक कार्यो के सम्बन्ध मे

सामन्ती राज्य का जो रूप सामने आ रहा था उसमे अत्यन्त विरोधी प्रवृत्तियाँ कार्य कर रही थी। एक ओर तो समाज मे अनुशासन एव व्यवस्था की स्थापना करके राज्य सामाजिक शान्ति एव उत्पादन मे वृद्धि की सभावनाएँ पैदा कर रहा था और दूसरी ओर राज्य शक्ति पर प्रभुत्व कायम करने के लिए विभिन्न सामन्ती गुटो मे भयानक स्पर्द्धा पैदा करके अनवरत युद्धो, आशकाओ तथा अशान्ति का बीजारोपण कर रहा था जिससे सामाजिक उत्पादन ठप होता

था और भस्म होता था। ये राजा, जिनका बोलबाला भारत मे था और जिनके उच्छेद पर कौटल्य एक शक्तिशाली साम्राज्य की रचना कर रहे थे, हमेशा ही विद्रोहो तथा युद्धो के ज्वालामुखी पर बैठे रहते थे, जहाँ चारो ओर अन्तहीन षड्यन्त्रो की शृखलाएँ फैली रहती थी। स्वय कौटल्य ने भी राजतत्र के लिए अनिवार्य माना था कि वह शत्रुओ से सदा सावधान रहे और स्वय भी कभी ऐसा मौका हाथ से न जाने दे जब वह शत्रुओ के राज्य पर अधिकार कर सकता हो तथा उनका उच्छेद कर सकता हो। कौटल्य कालीन भारत मे सैन्य बल से भी अधिक महत्त्व उन षड्यन्त्रो तथा षड्यन्त्रकारियो एव प्रचारको को दिया गया है जो शत्रु राजा की कमजोरियाँ बतावे, उन पर ठीक समय पर वार करे, अपनी कमजोरियाँ ढकते रहे, अपने पक्ष मे विघटन न फैलने दे और शत्रु देश की सचित शक्ति का विघटन कर दे। इसीलिए, स्वय कौटल्य कृत्यपक्ष (पचमागी शक्ति) के प्रबल समर्थक हैं और वे मानते है कि केवल अपने देश मे कृत्यपक्ष का निवारण और अकृत्यपक्ष का सगठन ही पर्याप्त नही है प्रत्युत् शत्रु राज्य मे कृत्यपक्ष का सगठन तथा अकृत्यपक्ष का निवारण भी परम अनिवार्य है। यह समझा जाता था कि आमतौर पर शत्रु देश के रहने वाले चार प्रकार के व्यक्ति अपने कृत्यपक्ष का काम कर सकते है—क्रोधी, भयभीत, लोभी और मानी। कौटल्य ने विस्तार के साथ विचार किया है कि इन चार प्रकार के व्यक्तियो को किस प्रकार राजा अपने पक्ष मे कर सकता है और अपना पचमागी बना सकता है।

क्रोधी वर्ग—जो लोग शत्रु राजा की प्रजा रहते हुए भी क्रोध के वशीभूत हो कर उसका विरोध कर सकते हैं तथा उससे बदला लेने के लिए अपना साथ दे सकते है उनका सग्रह करना पहला काम बताया है। परन्तु यह सावधानी बरतने को भी कहा है कि केवल निम्नलिखित परिस्थितियाँ पैदा होने पर ही जो लोग क्रोध मे आते है वे ही अपने कृत्यपक्ष का काम कर सकते है। जिन्हे धन देने की प्रतिज्ञा करके मना कर दिया गया हो, दो समान योग्यता वाले शिल्पियो मे एक के साथ पक्षपात किया गया हो और दूसरे का तिरस्कार किया गया हो, विश्वस्त राज-कर्मचारियो द्वारा जिसका राजदरबार मे प्रवेश रोक

दिया गया हो, स्वय पहले बुला कर जिसे दुत्कार दिया गया हो, राजा की आज्ञा से कठोर कार्यों मे लगा कर जिसे अनवरत सताया गया हो, खर्च करने (रिश्वत देने) के बाद भी जिसका काम अधूरा पडा हो, अपने कुल क्रमागत सामाजिक आचार से जिसे वचित कर दिया गया हो, जिसका दायभाग जप्त कर लिया गया हो, जिसे सत्कार एव सम्मान के पद से नीचे गिरा दिया गया हो, राजकुल के लोगो ने मिल कर जिसे कलकित किया हो, जिसकी स्त्री का अपहरण कर लिया गया हो, जिसे दूसरे के कथनमात्र से कडा दण्ड दे दिया गया हो, बहाना बना कर धर्म का आचरण करने से जिसे रोका गया हो, जिसका सर्वस्व छीन लिया गया हो, जिसके परिवार को देश निकाला दे दिया गया हो और इसी प्रकार अन्य अनुचित कार्यों से जिस व्यक्ति को सताया गया हो वह क्रोध मे आ कर स्वकीय राजा के विरोध मे अपने पक्ष का समर्थन कर सकता है।

भीत वर्ग—निम्नलिखित कारणो से व्यक्ति भयभीत रहता है—जो धन के लिए स्वय किसी की हिंसा कर चुका हो, जिसने राजा के अन्त पुर मे राजा के विरुद्ध आचरण किया हो, ब्रह्महत्या आदि पाप कार्यों के कारण जो बदनाम हो चुका हो, अपने समान अपराध मे दण्डित दूसरे व्यक्ति को देख कर जो घबरा उठा हो, जिसने भूमि का अपहरण किया हो, जिसे दण्ड दे कर वश मे किया गया हो, जिसका सब राजकीय विभागो पर अधिकार हो, जिसके पास अकस्मात् और अपनी आय से अधिक धन जमा हो गया हो, राजा जिससे द्वेष करता हो, अथवा जो राजा से स्वय द्वेष रखता हो और इसी प्रकार के अपराधो से जो सदैव राजा से आशकित रहता हो।

लोभी वर्ग—जिसका सब कुछ मिट गया हो, जिसके जीवन मे कोई उमग और आशा न रह गयी हो, राजा ने कर या दण्ड के रूप मे जिसका सर्वस्व ले लिया हो, रुपये-पैसे के मामले मे जो कमीना या खबीस हो, स्त्री-मद्यपान आदि का व्यसनी और अनाप-शनाप खर्च करने वाला व्यक्ति लोभी वर्ग का कहलाता है। उसे अपना कृत्यपक्षी बनाया जा सकता है।

मानी वर्ग—जो स्वय को सबसे अधिक विद्वान् और वीर आदि के रूप मे मानता हो और जिसे यही खेद रहता हो कि दुनिया ने उसकी कद्र नही जानी।

हर समय दूसरो से अभिवादन और मान की कामना रखता हो, अपने विरोधी की प्रतिष्ठा और मान से कुढता हो, जिसे झूठी प्रशसा करके नीच से नीच आदमी भी किसी कार्य मे लगा सके, जो अपनी जान तक दाँव पर लगा सकता हो, और जो सदा एव प्रत्येक स्थिति मे असन्तुष्ट रहता हो, वह मानी वर्ग का व्यक्ति कहलाता है।

कौटल्य कालीन भारत मे यह प्रचलित धारणा थी कि शत्रु के राज्य मे अपने पक्ष का समर्थन करने वाले (कृत्यपक्ष पचमांगी) आमतौर पर इन्हीं चार वर्गों मे से आते हैं। यह भी अनिवार्य सैनिक धारणा थी कि दूसरे देश पर आक्रमण करने से पहले उस देश मे अपना कृत्यपक्ष तैयार करना परम अनिवार्य है।

राजनीतिक गुप्तचरो को कृत्यपक्ष तैयार करने के लिए विशेष दीक्षा दी जाती थी। क्रुद्ध वर्ग के व्यक्तियो से सम्पर्क कायम करके गुप्तचर जो कानाफूसी करते थे उसमे उन्हे भडकाते थे कि—जैसे मदान्ध हाथी जिसे शराबी पीलवान चला रहा हो जो सामने आता है उसी को रौंद देता है, उसी प्रकार, शास्त्ररूपी आँखो से वचित अन्धा यह राजा अपने ही समान अन्धे मत्री के परामर्श पर चलता है और जनपद निवासियो तथा नागरिको को कुचलता है। इसके कारनामो से असन्तुष्ट व्यक्तियो की सख्या बहुत बडी है। उन सब को जोड कर उस दुष्ट राजा को ठिकाने लगाया जा सकता है। तब फिर इस कठिन और नेक काम को आप ही क्यो न शुरू करें ?

भीत वर्ग को इस प्रकार के प्रचार से कृत्यपक्ष मे सम्मिलित किया जाता था—जैसे डरा हुआ साँप जिसे भी सामने आता देखता है उसी को डस लेता है, उसी तरह अपने पापो से डरा हुआ यह राजा जब भी अवसर पाता है, चोट करता है। यदि तुम यह राज्य छोड कर कही दूसरी जगह चले जाओ तो ज्यादा हितकर होगा।

लोभी वर्ग को यह कह कर भडकाया जाता था कि—चाण्डालो की गाय का दूध चाण्डालो के ही काम आता है न कि ब्राह्मणो के। उसी भांति, यह राजा शक्ति, बुद्धि, वाक्शक्ति और आत्मसम्मान से हीन लोगो के ही काम

आ सकता है न कि आप जैसे आत्मगुण सम्पन्न लोगो के। अमुक राजा व्यक्तियो के गुणो का परीक्षक है। क्यो नही आप उसी की सेवा करते ? आदि।

मानी वर्ग के व्यक्तियो को भडकाने के लिए प्राय इस प्रकार का प्रचार किया जाता था—जैसे चाण्डालो के कुएँ का पानी केवल चाण्डाल ही पी सकते है, दूसरो के काम मे वह नही आता, उसी तरह, इस नीच राजा से नीच लोग ही लाभ उठा सकते है, आप जैसे आत्मसम्मानी व्यक्ति नही। अमुक राजा गुणो का पारखी है। आप क्यो नही उसी के पास चले जाते ? आदि।

यदि वे हाँ, कर लेते थे तो आस्था की शपथ खिला कर या तो उसी राजा के यहाँ पुराने ही काम पर रह कर अपने राजा के लिए काम करने को कहा जाता था और या फिर अपने राजा के पास ले जा कर उसी कार्य पर नियुक्त करा दिया जाता था जो वह पहले मालिक के यहाँ करता था। शत्रु देश के कृत्यपक्ष को (पचमागियो को) साम और दाम से अपने वश मे किया जाता था और उसके अकृत्य पक्ष (आस्था वाले व्यक्तियो) को भेद तथा दण्ड से परेशान किया जाता था।

(तथेति प्रतिपन्नांस्तान्संहितान् पणकर्मणा, योजयेतयथाशक्ति सापसर्पान् स्वकर्मसु। लमेत सामदानाभ्यां कृत्याश्च पर भूमिषु। अकृत्यान् भेददण्डाभ्या परदोषांश्च दर्शयेत् ।) (१५–१६ अधि० १, अध्याय १४)

अपने राज्य मे कृत्पपक्ष का निवारण

राजतत्र ने यह बात स्वाभाविक मान ली थी कि यदि एक राजा शत्रु राज्य मे कृत्यपक्ष का सगठन करता है तो प्रत्येक राजा एव अनिवाय रूप मे शत्रु राजा भी अपने राज्य मे कृत्यपक्ष का सगठन करेगा ही।

इसके अलावा, यद्यपि राजतत्र का समाज पर पूर्ण प्रभाव जम चुका था, फिर भी राजतत्रविहीन पुराने गणतत्री समाज की मधुर स्मृतियाँ लोगो को बार-बार याद आती रहती थी और उन्हे अपने सिर पर बैठे राजतत्र का भार बहुत अखरता था। इसलिए, राजतत्र की ओर से कठोर आचरण होने पर प्रजाजन सरलता से राजद्रोह मे प्रवृत्त हो जाते थे। उनका यह गहरा असन्तोष दूसरे राजा के लिए कृत्यपक्ष का काम करने को प्रेरित करता था।

यही कारण है कि राजा की ओर से विशाल स्तर पर गुप्तचरों की सेना नियुक्त की जाती थी जो प्रजाजनो की मानसिक स्थिति का पता लगाती रहती थी और असन्तोष निवारण के उपाय बताती थी। सत्री गुप्तचर तीर्थस्थानो, सभाओ और धर्मस्थलो तथा खान-पान के केन्द्रो मे, जहाँ बडी सख्या मे जनसमुदाय होता था, आपस मे कलह प्रारम करते थे। पहला सत्री दूसरे सत्री की ओर मुखातिब कर हो कहता था—

"इस राजा की बहुत प्रशसा सुनी थी। परन्तु इसमे एक भी गुण दिखाई नहीं दिया। यह नागरिको तथा ग्रामवासियो को दण्ड एव कर के भार से अत्यधिक सताता है।" इस प्रकार राजनिन्दा करने वाले सत्री और उसके समर्थको को बीच मे ही रोक कर प्रजाजनो के वेश मे रहने वाला दूसरा गुप्तचर उन्हे कहता था—

"पहले कोई राजा नही था। राज्य भी नही था। जैसे बडी मछलियाँ छोटी मछलियाँ खा जाती हैं, बलवान् निर्बलो को खा जाते थे। तब प्रजाओ ने मिल कर वैवस्वत मनु को अपना पहला राजा बनाया और राजतत्र की नीव डाली। खेती का छठा और व्यापार का दसवाँ भाग और कुछ सुवर्ण राजा को कर के रूप मे देना तय किया। इस अश से राजा लोग प्रजाओ का हितसाधन करते है और सारी जिम्मेदारियाँ अपने सिर पर ले कर प्रजा की बुराइयाँ दूर करते है। यही कारण है कि जगलो मे रहने वाले ऋषि-मुनि तक अपने बीने हुए अनाज का छठा हिस्सा राजा को देते हैं जो हम सब की रक्षा करता है। ये राजा प्रत्यक्ष ही इन्द्र और यम के समान हैं। इनकी प्रसन्नता और कोप के परिणाम तत्काल सामने आ जाते हैं। जो राजाओ का तिरस्कार करते है, उन पर प्रकृति का भी प्रकोप होता है। इसलिए राजा का कभी तिरस्कार नहीं करना चाहिए।"

इस प्रकार का प्रचार निरन्तर चलता रहता था जिससे असन्तुष्ट प्रजाजनो के लिए वह ग्राह्य होता जाए तथा प्रजाजन राजद्रोह से विमुख बने रहे।

राज्य मे फैली किंवदन्ती या अफवाहो का भी पता लगाया जाता था। प्रजा मे कौन लोग ऐसे है जो सदा ही राजा का पक्ष लेते हैं, उन्हे राजतत्र के

पक्ष मे अपने सगे-सम्बन्धियो तक को प्रेरित करने को कहा जाता था। सदा असन्तुष्ट लोगो की सूची अलग से तैयार रखी जाती थी और उनके असन्तोष का मूल कारण समझने का प्रयत्न किया जाता था। जो सदा ही राजा के प्रशसक होते थे, उन्हें उचित राजसम्मान दे कर पुरस्कृत किया जाता था। असन्तुष्टो के असन्तोष का कारण दूर किया जाता था। असन्तुष्टो का एक-दूसरे से टकराव कराया जाता था। उन्हे सामन्तो तथा आटविको से भिडाया जाता था। यदि फिर भी वे असन्तुष्ट ही बने रहते थे, तो दण्डाधिकारी एव कराधिकारी जनता को उनके खिलाफ भडकाते थे ताकि जनता की दृष्टि मे वे हल्के हो जाएँ तथा प्रजाजनो का विश्वास खो बैठें। यदि यह विश्वास हो जाता था कि जनपद उनसे द्वेष करने लगे हैं तो चुपचाप उनका बध (उपाशुवध) करा दिया जाता था अथवा स्वय जनता को भडका कर उसी के हाथो उनकी हत्या करवा दी जाती थी। अथवा उनके सम्बन्धियो, पुत्रो तथा पत्नी को बलात् गिरफ्तार करवा कर खान खोदने के काम मे लगा दिया जाता था। इससे शत्रु से मिलने की सभावनाएँ कम हो जाती थी और वे अकेले पड जाते थे। राजतत्र की यह प्रमुख धारणा थी कि क्रोधी, भयभीत, लोभी और तिरस्कृत व्यक्ति ही शत्रु से जा कर मिला करते हैं।

प्राय गुप्तचर लोग बहुत शिक्षित और उच्च बुद्धिजीवी रखे जाते थे जो कार्त्तान्तिक (पहले जन्म के कर्मों का फल बताने वाला) नैमित्तिक (शुभ-अशुभ शकुनो की स्थिति बताने वाला) और मौहूर्तिक (त्रिकाल का वृत्तान्त बताने वाला) के रूप मे रहते थे और जो मनोदशाओ के समझने मे अत्यन्त प्रवीण समझे जाते थे। ये ही लोग असन्तुष्ट पक्ष का पता लगाते थे और उसके निवारण के उपायो पर सलाह देते थे।

इस प्रकार, कृत्यपक्ष और अकृत्यपक्ष (जो सदा राजा का समर्थन और शत्रु का विरोध करते हो) का विवरण प्राप्त करना तथा उसके अनुकूल उपाय सोचना प्रत्येक राजा का अनिवार्य कर्त्तव्य समझा जाता था।

कौटिल्य ने सामन्तवाद की जिस भित्ति पर राजतत्र का भवन खडा किया था वह स्थायी नही था और सामन्तवाद के आन्तरिक विस्फोटो से वह सदा ही

कम्पायमान रहता था। यही कारण है कि कौटिल्य के लिए कृत्यपक्ष एव अकृत्य-पक्ष की इतनी विस्तृत विवेचना करना अनिवार्य हो गया था।

वेश्याओ, गणिकाओ के सम्बन्ध मे राजकीय नीति

जैसा कि पहले भी कहा जा चुका है सामन्तवाद के जन्म तथा अभ्युत्थान के साथ-साथ स्त्रियो की पराधीनता ने जन्म लिया था, उसकी चरम परिणति स्त्रियो को वेश्याओ तथा गणिकाओ के रूप मे बाजार मे बिकने वाले माल का रूप दे देना था। राज्य मे गणिकाओ तथा वेश्याओ को ठाठ-बाट का नमूना माना जाता था और प्रत्येक मगल कार्य तब तक अधूरा बना रहता था जब तक मगल मुखी (वेश्या) उसका मगलाचरण न करे। उस समय के साहित्य-कारो ने वेश्याओ को यही सम्मानजनक सज्ञा प्रदान कर रखी थी। गणिका की पुत्री को गणिका का ही कार्य करना पडता था। परन्तु वे प्रतिष्ठित घरानो की भी होती थी। गणिकाएँ निष्क्रय का भुगतान करके आर्य स्त्री (स्वाधीन) हो सकती थी। स्वय राजा के लिए कम से कम तीन गणिकाएँ रखना परम अनिवार्य था। इन गणिकाओ के वेतन देख कर यह अनुमान लगाया जा सकता है कि वे राजतत्र के उच्च मुकुट के समान थी और [illegible]का वेतन स्तर वही था जो सेनापति और मुख्यामात्य आदि का होता था। प्रथम गणिका को एक हजार पण और दूसरी तथा तीसरी गणिक को इसका आधा एव तिहाई वेतन दिया जाता था।

इन गणिकाओ की सम्पत्ति पर उत्तराधिकार भी माना जाता था। उदाहरण के लिए—जो गणिका मर जाती थी, अपना काम छोड देती थी या कही अन्यत्र चली जाती थी, उसकी बहन गणिका का कार्य करती थी। वह उसकी समस्त सम्पत्ति की उत्तराधिकारिणी हो जाती थी। परन्तु ऐसी स्थिति मे उसे बहन के कुटुम्ब का भरण-पोषण भी करना पडता था। उसकी माता का यह अधिकार एव कर्त्तव्य माना जाता था कि उसके चले जाने पर वह उसकी किसी बहन को गणिका नियुक्त करे। ऐसा न करने पर उसके समस्त सम्पत्ति पर राज्य का अधिकार हो जाता था।

इन गणिकाओ का सबसे बडा गुण और योग्यता उनका सौन्दर्य तथा काम-वासना मे प्रवीणता माना जाता था। उसी के आधार पर उनके तीन भेद किये जाते थे। कनिष्ठा, मध्यमा और उत्तमा। इन तीनो को एक हजार से तीन हजार पण तक वेतन मिलता था। पहली राजा का छत्र धारण करती थी, दूसरी पखा झलती थी और तीसरी राजा के साथ सिहासन, पालकी और रथ मे बैठती थी। इस प्रकार, गणिकाओ तथा वेश्याओ का न केवल सेवन किया जाता था बल्कि उनका खुला प्रदर्शन भी किया जाता था जिससे सामन्ती समाज मे वेश्या प्रथा शिखर पर चढती चली गयी और एक सामाजिक प्रथा बन गयी।

जब इनका रूप-सौन्दर्य ढल जाता था तो इन्हे नयी वेश्याओ की माता बना दिया जाता था जो नयी गणिकाओ तथा वेश्याओ को अपने सारे दाँव सिखाया करती थी। इस पेशे से छुटकारा पाने के लिए गणिकाओ को २४ हजार पण अत्यय (मुक्तिशुल्क) अदा करना पडता था जो कि प्राय असभव होता था। गणिका पुत्र १८ हजार पण अत्यय दे कर या आठ वर्ष तक राजा के यहाँ कुशी-लव का कार्य करके मुक्त हो सकता था।

गणिकादासी रूप सौन्दर्य नष्ट हो जाने पर कोष्ठागार या महानस (लगर) का प्रबन्ध करती थी। यदि वह काम न करके किसी एक ही व्यक्ति के घर मे बैठना चाहती थी तो वह व्यक्ति सवा पण मासिक उसे वेतन देता था जिससे उसकी पराश्रयता न रहे।

परन्तु इन गणिकाओ पर राजतत्र का कडा कानूनी नियत्रण भी था। राज-घरानो मे जब वेश्याओ ने सम्मानजनक स्थान प्राप्त किया तो पूरे समाज मे यह प्रथा फैलती गयी और प्रत्येक नागरिक का वेश्याओ के पास जाना विशेषा-धिकार समझा जाने लगा। इसलिए प्रत्येक नगर और बस्ती मे दुकानदारो की भाँति वेश्याओ के मोहल्ले कायम होने लगे और उनकी ठुमक-ठुमक से सारा वातावरण चकाचौध होने लगा।

गणिकाध्यक्ष यह हिसाब रखता था कि रात मे कौन उनके पास आता है और किस वेश्या को किससे कितना धन मिला। वेश्याओ के लिए यह नियम था कि उन्हे अपने आभूषण और सम्पत्ति गणिकामाता के पास रखना पडता था।

जो प्राय राजतत्र के प्रति अधिक वफादार मानी जाती थी। अपने पारिवारिको के पास धन रखने या आभूषण आदि दूसरो के हाथ बेचने पर उसे ५३ पण दण्ड भुगतना पडता था। यदि अपने पास आये किसी वेश्यागामी व्यक्ति को वह कठोर शब्द कहती थी तो २४ पण दण्ड पाती थी। थप्पड या डण्डा मारने पर ४८ पण और गुस्से मे आ कर उसका कान काट लेती थी तो उसे ५१३ पण दण्ड भुगतना पडता था।

राज्य ने उनके लिए कुछ सरक्षण भी दे रखे थे। यदि कोई व्यक्ति कामना रहित गणिका के साथ भोग करता था, उसे बलपूर्वक रोकता या घायल कर देता था जिससे उसका सौन्दर्य नष्ट हो जाए तो ऐसे व्यक्ति को एक हजार पण दण्ड भुगतना पडता था और यदि वह उसे ऐसी हानि पहुँचा देता था जिससे कि वह भविष्य मे गणिका का कार्य करने योग्य ही न रहे तो ऐसे अपराधी व्यक्ति को ४८ हजार पण दण्ड देना पडता था। नाबालिग (अप्राप्त व्यवहार) गणिका का वध कर देने पर ७२ हजार एव गणिका की माता, लडकी और रूपदासी का वध कर देने पर उत्तम साहस दण्ड दिया जाता था।

इन गणिकाओ पर राज्य का इतना कडा नियत्रण था कि उन्हे राजाज्ञा से कही भी, किसी भी समय तथा किसी भी व्यक्ति के पास भेजा जा सकता था। यदि किसी पुरुष के पास जाने से वह मना करती थी तो उसके शरीर पर एक हजार कोडे मारे जाते थे और या वह पाँच हजार पण दण्ड देती थी। रात मे साथ रहने की फीस ले कर फिर आनाकानी करने वाली वेश्या को दुगनी फीस लौटानी पडती थी और यदि वह पूरी रात किस्से-कहानियो मे गुजार देती थी तो वेतन का आठ गुना हरजाना भरती थी। हाँ, यदि पुरुष मे सक्रामक रोग या अन्य कोई दोष हो तो, नही। जो गणिका रातभर साथ रहने का वादा करके और वेतन लेकर उसे रात मे मार देती थी उस वेश्या को मृत पुरुष की चिता मे बैठा कर जीवित जला दिया जाता था और या फिर उसके गले मे पत्थर बाँध कर गहरे पानी मे फेक दिया जाता था।

गणिकाओ के समान ही उन वर्णसकर जातियो के लिए भी नियम बने हुए थे जो अपनी स्त्रियो को दूसरे पुरुषो के साथ रात्रि सहवास के लिए भेज कर

पैसा कमाते थे। नट, नर्त्तक, गायक, वादक, बगजीवन, कुशीलव (नृत्य के साथ गाने वाले) प्लवक (रस्सी-बाँस आदि पर चढने वाले) सौभीरक (जादूगर) तथा चारण और भाँड आदि यदि एक स्थान से दूसरे स्थान पर तमाशा दिखाने जाते थे तो पाँच पण प्रेक्षावेतन (मनोरजन कर) देते थे। रूप से जीविका चलाने वाली गणिका अपनी मासिक आय मे से दो दिन की आय राजकोश मे देती थी।

कौटल्य कालीन भारत के तमाम सास्कृतिक कार्यों का सम्पादन इसी प्रकार के लोग करते थे और राजकोश का अधिक से अधिक भाग निम्न वर्गों तथा कार्यों पर खर्च होता था—

गाना, बजाना, नाचना, अभिनय करना, लिखना, चित्रकारी करना, वीणा, वेणु, मृदग विशेष रीति से बजाना, दूसरो की मानसिक स्थिति समझना, सुगन्धित पदार्थों का निर्माण करना, मालाओ का गूंथना, हाथ-पैर आदि का दबाना, शरीर का सजाना, गणिका और दासी के कार्य सम्पन्न करना और रगमच पर अभिनय करने वालो के आचार्य आदि का वेतन। गणिकाओ के पुत्रो तथा मुख्य रगोपजीवियो (Stage masters) को मुख्य अभिनेता बनाया जाता था।

ये रगोपजीवी और उनकी सस्थाएँ तथा उनमे प्रच्छन्न रूप से रहने वाले गुप्तचर राजतत्र के लिए बहुत उपयोगी कार्य करते थे।

राज कर्मचारियो का वेतन मान

उस समय शासनप्रणाली धीरे-धीरे महगी होती जा रही थी जिसमे सबसे निचले स्तर पर काम करने वाले कर्मचारी नाममात्र का वेतन पाते थे और जो सबसे ऊँचे शिखर पर थे उनका वेतन बहुत अधिक था। प्रायश निम्न कर्मचारियो को तो नाममात्र का वेतन देकर केवल प्रजाजनो से अपनी आजीविका चलाने का प्रमाण पत्र भर दे दिया जाता था। फिर भी कौटल्य ने यह व्यवस्था की थी कि राज्य की सम्पूर्ण आमदनी का एक चौथाई भाग से अधिक धन कर्मचारियो तथा अधिकारियो के वेतन पर खर्च नही होना चाहिए।

(दुर्गजनपदशक्त्या भृत्यकर्म समुदयपादेन स्थापयेत्।)

परन्तु इतनी छूट भी दे दी गयी थी कि योग्य अधिकारियो की सेवा प्राप्त करने के लिए यदि अधिक धन की आवश्यकता हो तो खर्च किया जा सकता है। (**कार्यसाधन सहने वा भृत्यलाभेन शरीरमवेक्षेत**) फिर भी यह ध्यान अवश्य रखा जाता था कि राज्य पर आवश्यकता से अधिक भार न पडे। इन वेतनो का इतना भार इसलिए नही पडने दिया जाता था कि राज्य की आर्थिक विकास की योजनाओ तथा धार्मिक कार्यों के सम्पादन मे किसी प्रकार की बाधा पडे।

इन सामान्य सिद्धान्तो की स्थापना के बाद कौटल्य ने अधिकारियो के वेतनमानो के सम्बन्ध मे अपनी स्पष्ट धारणाएँ रखी हैं जो निम्नलिखित हैं—

ऋत्विग्, आचार्य, मत्री, पुरोहित, सेनापति, युवराज, राजमाता और राजमहिषी का वार्षिक वेतन ४८ हजार पण था।

इतना भारी वेतन देने का कारण यह समझा जाता था कि इससे वे जीवन के समस्त सुखो का उपभोग कर सकते हैं और हर प्रकार के राजद्रोही षड्यन्त्रो से दूर रह सकते हैं। अर्थात् यह भारी रकम वेतन के रूप मे उतनी नही मानी जाती थी जितनी राजा की ओर से दी गयी रिश्वत मानी जाती थी।

(एतावता भरणे नानास्वाद्यत्वमकोपक चैषां भवति)

दौवारिक (मुख्य स्वागत अधिकारी और राजा के निवास स्थान के रक्षको का मुखिया) आन्तर्वंशिक (अन्तपुर के रक्षादल का सेनापति) आयुधाध्यक्ष (शस्त्रागार का प्रधान अधिकारी) समाहर्त्ता (राजकीय आय का मुख्य संग्रहकर्ता अधिकारी) और भाण्डागाराध्यक्ष को २४ हजार पण वेतन दिया जाता था। इतना भारी वेतन मिलने पर ही वे राजकार्यों के करने मे सक्षम समझे जाते थे।

कुमार (युवराज के अतिरिक्त छोटे राजपुत्र) कुमारमाता (छोटी रानियाँ) नायक (पैदल सेना का सेनापति) नगर निरीक्षक (स्थानीय निकायो की देख-भाल करने वाला) व्यापाराध्यक्ष, कृषि तथा उद्योगो के अध्यक्ष, मत्रि परिषद् के अन्य सदस्य, राष्ट्रपाल (पुलिस व्यवस्था का सर्वोच्च अधिकारी) और अन्त-पाल (सीमारक्षको का सेनापति) १२ हजार पण वार्षिक वेतन पाते थे।

(कुमार कुमार मातृनायक पौरव्यावहारिक कर्मान्तिक मंत्रिपरिषद् राष्ट्रान्तपालाश्च द्वादश साहस्रा । स्वामि परिबन्ध बलसहाया ह्येतावता भवन्ति)

यह समझा जाता था कि इतना वेतन पा कर वे कभी राजा के विरुद्ध विद्रोह नही करेंगे तथा उसका अनुगमन करते रहेंगे।

ये अधिकारी प्राय छोटे मत्री ही होते थे अथवा इनकी नियुक्ति के समय वही योग्यता अनिवार्य मानी जाती थी जो मत्रियो की होती थी, परन्तु ये मत्री के नाम से नही प्रत्युत् अध्यक्षो एव अधिकारियो के नाम से पुकारे जाते थे। ये मुख्य मत्री और राजा दोनो के प्रति एव अन्तत राजा के प्रति जिम्मेदार माने जाते थे।

शिल्पी सघो के मुख्य अधिकारी, हस्ती, अश्व तथा रथ सेनाओ के मुख्य अध्यक्ष, प्रदेष्टा (सर्वोच्च न्यायाधिकारी) को ८८ हजार वेतन दिया जाता था। इतना वेतन पाकर वे अपने वर्गों मे अपना प्रभाव कायम रख सकते थ। (स्ववर्गानुकर्षिणो ह्येतावता भवन्ति)

पैदल, घोडा, रथ तथा हस्ति सेवाओ के अध्यक्ष तथा बहुमूल्य लकडी एव हस्तिवनो के पालक ४ हजार पण वेतन पाते थे। रथ चलाना सिखाने वाले, राजशिक्षक, चिकित्सक, अश्वशिक्षक तथा क्षुद्र पशुपालको के अध्यक्ष दो हजार पण वार्षिक वेतन पाते थ।

भविष्यवक्ता, ज्योतिषी, शकुन बतानेवाले, पुराणो की कथा कहनेवाले, सारथि, स्तुतिपाठक, पुरोहित के भृत्य, सुरा आदि के अध्यक्ष १ हजार पण वार्षिक, चित्रकार, गणक और लेखक आदि को ५ सौ पण वार्षिक, कुशीलव आदि को ढाई सौ पण, श्रेष्ठ कुशीलवो को ५०० पण तक, साधारण शिल्पियो को १२० पण वार्षिक तक और साधारण कर्मचारियो को ६० पण वार्षिक तक वेतन दिया जाता था।

आर्य, युक्तारोहक (बिगडे घोडे और हाथियो की सवारी गाँठने वाला) माणवक (वेदाध्ययन करने वाला विद्यार्थी) शैलखनक (सगतराश) गायनाचार्य और अच्छे विद्वान् पुरुषो को पाँच सौ से हजार पण वार्षिक तक वेतन

दिया जाता था। एक योजन दूर जाने वाले दूत को दस पण वार्षिक तथा दस से सौ योजन दूर जाने वाले को २० पण वार्षिक वेतन मिलता था।

जो गुप्तचर कापटिक, उदास्थित, गृहपतिक, वैदेहक एव तापस के वेश मे रहते थे उन्हे एक हजार पण वार्षिक वेतन मिलता था। गॉव के मुखिया, सत्री, तीक्ष्ण, रसद, और भिक्षुकी के वेश मे रहने वाले गुप्तचरो को ५०० पण वार्षिक तक तथा गुप्तचरो को इधर-उधर भेजने और ले जाने वाले गुप्तचरो को २५० पण या योग्यता के अनुसार वेतन दिया जाता था।

विभागाध्यक्ष अपने अधीन कर्मचारियो के वेतन, भत्ते एव दूसरे लाभ, नियुक्ति एव स्थानान्तरण आदि की व्यवस्था करते थे।

(अध्यक्षा भक्त, वेतन, लाभमादेश विक्षेपच कुर्यु)

प्रत्येक विभाग मे एक ही अध्यक्ष सर्वेसर्वा नही होता था बल्कि छोटे-बडे अनेक अध्यक्ष रखे जाते थे एव राज परिग्रह, दुर्ग, राष्ट्र तथा रक्षा के प्रयासो और निर्माणकार्यो का सचालन कभी विशेष अधिकारी या अध्यक्ष के अभाव मे नही किया जाता था।

जो राजकर्मचारी ड्यूटी पर मर जाते थे उनका वेतन उनके उत्तराधिकारियो को मिल जाता था। मृत राजकर्मचारी के बालको, वृद्धो तथा रोगियो को राजा की ओर से विशेष सहायता दी जाती थी।

(कर्मसु मृतानां पुत्रदारा भक्तवेतन लभेरन् । बालवृद्धव्याधिताश्चैषामनुग्राह्या)

राजकर्मचारियो के यहाँ किसी की आकस्मिक मृत्यु हो जाने या पुत्र आदि के उत्पन्न होने पर भी राज्य की ओर से विशेष आर्थिक सहायता दी जाती थी।

वेतन के साथ भत्ता देने की यह परिपाटी थी कि ६० पण के ऊपर एक आढक अन्न जोडा जाता था। ६० पण की न्यूनाधिकता के हिसाब से भत्ते की न्यूनाधिकता तय की जाती थी।

(षष्ठि वेतनस्याढक कृत्वा हिरण्यानुरूप भक्त कुर्यात्)

तीन सौ चौवन दिन-रात का वर्ष समझा जाता था और आषाढ मास की पूर्णमासी को वर्ष की समाप्ति मानी जाती थी। इस बीच मे नियुक्त अधिकारी पूरे वर्ष का नही प्रत्युत् जब से नियुक्त किया गया हो तभी से वेतन का अधि-

कारी माना जाता था। प्रत्येक राजकर्मचारी की दैनिक उपस्थिति की पुस्तक रखी जाती थी।

अन्त मे कौटल्य ने अधिकारियो को अनुशासन सम्बन्धी कुछ हिदायतें भी दी हैं जो तत्कालीन सामन्ती समाज के अनुशासन तथा कर्त्तव्यनिष्ठा की ओर सकेत करती हैं। उनके व्यक्तिगत आचरण की चर्चा करते समय कहा गया है कि—"राजा की हित की बात उन्हे तुरन्त कह देनी चाहिए और अपने हित की बात दूसरो से कहलवानी चाहिए। दूसरो का हित होता हो तो देश, काल एव परिस्थितियाँ देख कर तुरन्त कह दे और जो कहे वह सर्वथा उचित होना चाहिए। यदि राजा पूछे और ध्यान से सुन रहा हो तो अनुमति ले कर प्रिय एव हितकारी बात कहे। प्रिय एव अहितकारी बात कभी न करे किन्तु अप्रिय एव हितकारी बात अवश्य कहे। राजा की इच्छा के अनुसार चलने वाले अनर्थकारी पुरुष भी राजा के प्रिय देखे गये हैं। राजा के हँसने पर हँसे। परन्तु ठहाका मार कर कभी न हँसे। कोई भयावह समाचार हो तो दूसरो से सुनवाये। यदि अपने ही विरोधियो मे ऐसी भयावह बात हो तो पृथिवी के समान सहिष्णु हो कर सब कुछ सुना दे।

राजा के पास रहते समय अपने बचाव का प्रयत्न सदा करते रहना चाहिए। राजा के समीप रह कर सेवा करना अग्नि के साथ खिलवाड करने के समान होता है। आग तो शरीर का एक ही भाग जलाती है या अधिक से अधिक पूरा शरीर जलाती है। परन्तु राजकोप की अग्नि पुत्र, स्त्री और पूरे परिवार को भस्म कर देती है।

अहीनकाल राजार्थं स्वार्थं प्रियहितं सह।
परार्थदेशकाले च ब्रूयाद्धर्मार्थ सहितम् ॥
पृष्टः प्रियहित ब्रूयान्न ब्रूयादहितं प्रियम्।
अप्रियं वा हित ब्रूयाच्छृण्वतोऽनुमतो मिथ ॥
तूष्णीं वा प्रतिवाक्ये स्याद् द्वेष्यादींश्च न वर्जयेत्।
अप्रिया अपि दक्षाः स्युस्तद् भावाद्ये बहिष्कृताः ॥

अनर्घ्याश्चप्रिया दुष्टाश्चिसज्ञानानुवर्तिन ।
अभिह्रस्येव्वभिहसेद् घोरहासाश्च वर्जयेत् ॥
परात्सक्रामयेद् घोर न च घोर परे वदेत् ।
तितिक्षेतात्मनश्चैव क्षमावान् पृथिवीसम ॥
आत्मरक्षा हि सतत पूर्व कार्या विजानता ।
आनाविव हि सप्रोक्ता वृत्ती राजोपजीविनाम् ॥
एक देशे दहेदग्नि. शरीर वा पर गत ।
सपुत्रदार राजा तु घातयेद् वर्धयेत वा ॥ (अधि० ५ अध्याय ४)

उचच अधिकारियो और वित्त विभाग मे भ्रष्टाचार

जैसे-जैसे राज्य की आय के स्रोत बढ़े और राज्य के हाथों मे अपार आर्थिक सम्पदा आयी, वैसे-वैसे उसकी व्यवस्था एव प्रबन्ध सम्बन्धी जटिलता बढ़ती गयी। कौटल्य ने अपने अर्थशास्त्र मे विस्तार के साथ अपनी गहरी चिन्ता प्रकट की है कि राजकीय सम्पदा के अपहरण के मार्ग किस प्रकार रोके जाएँ। कौटल्य यह बात सिद्धान्त रूप से भी मानने को तैयार नहीं थे कि जिन अधिकारियो के हाथो मे राज्य की सम्पत्ति सग्रह एव व्यय के लिए आती है वे उसका अपहरण न करें और मनमानियाँ करने से रुके रहें। उन्होने एक स्थान पर लिखा है कि "मनुष्यो का स्वभाव घोड़े के समान होता है। जब तक वह जोता नहीं जाता शान्त एव सीधा-साधा प्रतीत होता है। परन्तु जोते जाने और अधिकार आ जाने के बाद वे अपनी चचलता का प्रदर्शन करते ही हैं।" इसीलिए, प्रत्येक समय उनके कार्य की देखभाल तथा परीक्षा करने की आवश्यकता अनुभव की जाती थी। इसीलिए, सभी विभागाध्यक्षों की योग्यता मन्त्रियों के समान रखी जाती थी।

सामान्य प्रशासन की यह सर्वमान्य प्रणाली बन गयी थी कि राजतन्त्र न तो अध्यक्षो का आपसी मित्रता सम्बन्धो मे जुड जाना पसन्द करता था और न उनका आपसी द्वेष ही उसे पसन्द था। आपस मे मिल जाने पर वे राज्य की सम्पत्ति खा जाते थे और आपस मे कलह-द्वेष करके सर्वनाश ले आते थे। सकट की विशेष परिस्थितियों के अलावा, उन्हें राजा की स्वीकृति के बिना कोई

बडा निर्माण कार्य करने का अधिकार नही होता था। निर्माण कार्यों मे प्रमाद करने पर उनका कम से कम दो दिन का वेतन काट लिया जाता था। अध्यक्षो के अधीन कार्य करने वाला अधिकारी यदि विशेष योग्यता एव लगन का परिचय देता था तो राज्य उसे पुरस्कृत करके प्रोत्साहित करता था। उसे अपने से बडे अधिकार पद पर भी नियुक्त किया जाता था और इस प्रकार, पदोन्नति की परम्परा सामान्य प्रशासन मे चालू हो चुकी थी। प्राचीन अर्थशास्त्रियो और आचार्यों ने अधिकारियो की ईमानदारी के सम्बन्ध मे एक मोटा-सा सिद्धान्त बना रखा था। जो अधिकारी अपने वेतन से अधिक व्यय करता था उसे भ्रष्टा-चारी कहा जाता था और जो अपने वेतन से कम खर्च करता था उसे ईमानदार माना जाता था। परन्तु आचार्य कौटल्य ने इसे थोथा सिद्धान्त माना था। भ्रष्टाचारी अधिकारी यदि कजूस हो तो अधिक खर्च कैसे कर सकता है ? भ्रष्टाचार का पता तो केवल गुप्तचरो से ही चल सकता है।

जिसकी नियुक्ति के उपरान्त राज्य की आय घट जाती है उसे राजकीय आय का भक्षक माना जाता था। उससे हानि का दुगना अत्यय (हरजाना) वसूल किया जाना था। परन्तु जिसकी नियुक्ति के उपरान्त राज्य की आय दुगनी हो जाती थी उसे कौटल्य जनपद का भक्षक मानते थे। यदि वह पूरा धन राजकोश मे भेज देता था तो चेतावनी दे कर छोड दिया जाता था। यह उसकी राजभक्ति के कारण अल्प अपराध माना जाता था। परन्तु अधिक सग्रह का कुछ भाग अपने घर मे रख लेता था तो उसे कडा दण्ड दिया जाता था।

जो अधिकारी किसी व्यय के लिए नियत धनराशि को वर्ष भर मे खच नही कर पाता था वह दो अपराधो मे दोषी ठहराया जाता था। एक तो वह राजकीय कार्य अधूरा पडा रहा जिसकी पूर्त्ति के लिए धन नियत किया गया था और दूसरे उन कर्मचारियो का पेट कटा जो उस कार्य मे लगते। उसे यथो-चित दण्ड दिया जाता था।

इसलिए, प्रत्येक अधिकारी को अपने कार्य की समाप्ति का विवरण राज्य को देना पडता था जिसे देख कर सम्बद्ध अधिकारी की उपयोगिता अथवा अनुप-योगिता के सम्बन्ध मे निर्णय किया जाता था।

किसी विशेष स्थान पर और विशेष रूप से जहाँ जनता से सम्पर्क अधिक रहता हो, किसी एक ही अधिकारी को सारा कार्य नही सौंपा जाता था। वहाँ कई अधिकारी रखे जाते थे ताकि किसी एक का (अकेले का) जनता पर विशेष प्रभाव न जम सके। इन अधिकारियों को कभी भी एक स्थान पर अधिक समय तक नही रखा जाता था ताकि वे जनता को आतंकित न कर सके या प्रजा मे अपनी गहरी जडे न जमा सके।

जैसे जीभ पर रखा रस इच्छा हो या न हो, चखने मे आ ही जाता है, इसी प्रकार राज्य के आर्थिक कार्यों मे नियुक्त अधिकारी, इच्छा हो या न हो, राजकोश का कुछ न कुछ तो अपहरण करते ही है। कौटल्य कालीन भारत मे यह धारणा आमतौर पर प्रचलित हो गई थी।

और भी,

जैसे पानी मे घूमती-तैरती मछलियाँ कब पानी पीती हैं, पता नही चलता, इसी प्रकार उच्च सरकारी कर्मचारी कब और किस प्रकार धन खा जाते है, पता नहीं चलता।

और भी,

आकाश मे उडते पक्षियो की चाल का पता चल जाता है, परन्तु राज-अधिकारियो के आचरण तथा मनोभावो का पता लगाना कठिन है।

अतएव, भ्रष्टाचारी अधिकारियो के प्रति राज्य का रुख बहुत कडा होता था और वह उन्हे तुरन्त निलम्बित करके पदावनत कर दिया जाता था।

> यथा ह्यनास्वादयितु न शक्य
> जिह्वातलस्थ मधु वा विष वा।
> अर्थस्तथा ह्यर्थचरेण राज्ञ
> स्वल्पोऽप्यनास्वादयितु न शक्यः ॥
> मत्स्या यथान्त. सलिले चरन्तो
> ज्ञातु न शक्याः सलिल पिबन्तः।
> युक्तास्तथा कार्य विधौ नियुक्ता
> ज्ञातु न शक्या धनमाददाना. ॥

> **अपिशक्या गतिर्ज्ञातु**
> **पततां रवे पतत्रिणाम् ।**
> **न तु प्रच्छन्न भावानां**
> **युक्तानां चरतां गतिः ॥ (अधि० २, अध्याय ९)**

अपहरण और भ्रष्टाचार

राजतन्त्र की उन्नति के साथ-साथ राजकोश का महत्त्व बढा। यह धारणा बलवती बनती गयी कि राज्य का पूरा कारोबार राजकोश पर निर्भर करता है। उसकी वृद्धि और रक्षा का प्रश्न सर्वोपरि बन गया। इसलिए, राज्य सदा ही कोश की वृद्धि के उपायो पर विचार करता था। वे उपाय सामान्यतया निम्न-लिखित थे—

जनपद की सम्पत्ति मे लगातार वृद्धि करना ताकि राजकोश की वृद्धि की नयी सभावनाएँ सामने आएँ, जनपदो के पुराने आचार-व्यवहारो पर चोट न करना ताकि जनपदो मे असन्तोष पैदा न हो, चोरो का निग्रह करना, अध्यक्षो के गबन तथा भ्रष्टाचार पर निरन्तर दृष्टि रखना, छोटे और बडे सभी प्रकार के खाद्य पदार्थों का उत्पादन बढाना, विक्रेय पण्य (माल) की पैदावार पर विशेष बल देना ताकि पण्य के आदान-प्रदान दोनो से राजकोश को लाभ मिले, अग्नि आदि उपद्रवो से राजकीय एव जनपद सम्पत्ति की रक्षा करना, कर आदि का उचित समय पर सग्रह करना और विशेष अवसरो पर प्रजाजनो से हिरण्य आदि के रूप मे भेट-उपहार आदि लेना।

यह माना जाता था कि निम्न कारणो से राजकोश क्षीण होता है—प्रति-बन्ध, प्रयोग, व्यवहार, अवस्तार, परिहायण, उपभोग, परिवर्त्तन और अपहार।

प्रतिबन्ध—कर का सग्रह न करना, करने पर भी अपने अधिकार मे न लाना और अधिकार मे कर के भी राजकोश मे जमा न करना।

प्रयोग—राजकीय धन को अध्यक्ष स्वय अपने कारोबार और लेन-देन के काम मे लाने लगे।

व्यवहार—राजकीय धन से अध्यक्ष का अपना निजी व्यापार चलाना।

अवस्तार--नियत समय टाल कर प्रजाजनो से कर का सग्रह करना और सग्रह करते समय बल प्रयोग करना।

परिहापण—अपने कुप्रबन्ध से आय घटा देना और व्यय बढा देना।

उपभोग—मूल्यवान् वस्तुओ से स्वय लाम उठाना और अपने मित्रो को लाम्यन्वित करना।

परिवर्त्तन—उत्तम राजकीय द्रव्य को बदल कर उसके स्थान पर निकृष्ट द्रव्य रख देना।

अपहार—आय की पुस्तक मे न लिखना, नियत व्यय पुस्तक मे लिख कर खर्च न करना और प्राप्त नीवी को स्वीकार न करना।

ये गम्भीर अपराध करने पर अध्यक्षो को कठोर दण्ड दिया जाता था। परन्तु राजकोश मे लगे ये घुण केवल इन्ही उपायो से उसका क्षय नही करते। उनके अपहरण और गबन करने के कम से कम चालीस उपाय कौटल्य कालीन मारते मे प्रचलित हो चुके थे। वे निम्नलिखित हैं—

पहली फसल मे प्राप्त धन को अगली फसल के समय लिखना, दूसरी फसल के समय मिलने वाला धन पहली फसल के समय लिख लेना, राज-कर को वसूल ही न करना, राज कर से मुक्त प्रजाजनो से मी धोखा दे कर या दबाव डाल कर धन वसूल करना, जो वसूल हो गया है उसे पुस्तक मे न लिखना, थोडा वसूल हुआ हो परन्तु पूरा लिख लेना, पूरा वसूल हो गया हो परन्तु कम करके लिखना, एक खाते (मद) का धन दूसरे खाते मे जमा कर देना, एक वस्तु के स्थान पर दूसरी वस्तु लिख देना, देय धन का न देना, अदेय का दे देना, समय पर न देना, असमय देना, थोडा दे कर अधिक लिखना, अधिक दे कर कम लिखना, अन्य वस्तु दे कर दूसरी लिख देना, एक को दे कर दूसरे का नाम लिखना, कोश मे धन जमा करके मी पुस्तक मे न लिखना, कोश मे धन जमा न करके मी पुस्तक मे अकित कर देना, व्यापारियो से उधार सामान ले कर बाद मे थोडा पैसा काट कर मुगतान करना, माल का पूरा मूल्य पुस्तक मे न लिखना, माल का मूल्य दे कर मी पुस्तक मे दर्ज न करना, बहुत से व्यक्तियो से सामूहिक रूप मे लिया जाने वाला धन पृथक्-पृथक् व्यक्तियो से वसूल

करना, पृथक्-पृथक् व्यक्तियो से लिया जाने वाला धन सामूहिक रूप मे लेना, बहुमूल्य माल का अल्पमूल्य के माल से परिवर्तन कर देना, अल्पमूल्य का बहुमूल्य से बदल देना, बाजार मे वस्तुओ का मूल्य बढा देना, अथवा वस्तुओ का मूल्य गिरा देना, वेतन के दिन बढा कर लिख देना, वेतन के दिन घटा कर लिखना और मजदूरी काट लेना, मलमास जिस वर्ष मे न हो मलमास लिख कर कोश मे अधिक वेतन निकाल लेना, महीने के दिन घटा-बढा देना, जिन कर्मचारियो ने कभी काम न किया हो उनके नाम लिख कर वेतन निकाल लेना, एक आयमुख (मद) से हुई आय को दूसरे आयमुख मे लिख लेना, धर्म कार्यों के लिए नियत अनुदान का एक अंश स्वय हडप जाना, कुटिल उपायो से अतिरिक्त धन का सग्रह करना, समुदाय मे से किन्ही एक-दो को छोड कर शेष से पूरा धन ले लेना, किन्ही मान्य वर्णों को कर से मुक्त करने का बहाना करके पुस्तक मे आय न लिखना और स्वय ले लेना, जिन स्थानो पर राजकीय नियन्त्रण कम हो वहाँ वस्तुओ का मूल्य बढा देना, तोल के बाटो से गडबडी करवा देना, मापने के साधनो मे मनमानी करवाना, नापने के पात्रो मे छोटे-बडे का हेरफेर करवा देना आदि।

जिस अधिकारी के सम्बन्ध मे भ्रष्टाचार की शिकायत आती थी उसकी देखभाल करना प्रशासन का पहला कार्य समझा जाता था। इसमे खजाची (निधायक) रजिस्ट्रार (निबन्धक) धन जमा करने वाले अधिकारी (प्रतिग्राहक) धन दिलाने वाले (दायक) और लेने वाले (दायक) आदि सभी अधिकारियो से पूछताछ की जाती थी। यदि ये सभी गबन मे सम्मिलित होते थे तो समान दण्ड के भागी समझे जाते थे। ऐसे अधिकारियो के सम्बन्ध मे यह घोषणा कर दी जाती थी कि जो भी उनसे पीडित हो, वह अपनी शिकायत खुल कर रखे और जो ऐसा करता था उसे दुगनी रकम दिलवायी जाती थी। यदि किसी अधिकारी पर एक ही समय भ्रष्टाचार के अनेक अभियोग चलाये जाते थे और वह सभी को अस्वीकार कर देता था तो एक के सिद्ध होते ही शेष सभी अभियोग स्वय सिद्ध समझे जाते थे। परन्तु कुछ को स्वीकार तथा कुछ को अस्वीकार करने पर, अधिकारी जिन्हे स्वीकार नही करता था उनमे अपने

आपको निर्दोष सिद्ध करने का भार अभियुक्त पर ही डाला जाता था न कि अभियोक्ता पर। इस प्रथा का सैद्धान्तिक आधार यही था कि तत्कालीन शासन प्रणाली वित्त कार्यों मे लगे प्रत्येक अधिकारी को बेईमान समझती थी, यदि वह इसके विपरीत सिद्ध न हो गया हो। उसे अपने पक्ष मे सफाई के गवाह (साक्षी) और प्रमाण (अनुयोग) उपस्थित करने का अधिकार होता था। बहुत से धन के अपहरण का अभियोग लगने पर यदि थोडे से धन के अपहरण का अभियोग सिद्ध हो जाता था तो शेष धन के अपहरण का अभियोग भी उस पर स्वय सिद्ध समझा जाता था। यदि भ्रष्टाचारी अधिकारी पर आरोप लगाने वाला व्यक्ति किसी निजी स्वार्थ से प्रेरित होने की अपेक्षा केवल राजहित मे ऐसा करता था तो उसे अपहृत धन का छटा भाग पुरस्कार मे दे कर प्रोत्साहित किया जाता था और यदि अधिकारी का घरेलू नौकर (भत्य) ऐसा करता था तो उसे १२वाँ भाग पुरस्कार मे मिलता था। परन्तु गण्यमान्य अधिकारियो पर लगाये गये आरोप यदि झूठे सिद्ध हो जाते थे तो सूचक को शारीरिक एव आर्थिक दण्ड दिया जाता था।

भ्रष्टाचारी पुरुष के भ्रष्टाचार की प्राथमिक परीक्षा मे यदि वह अपराधी सिद्ध हो जाता था और फिर सूचक अभियोग से पृथक् होने की इच्छा प्रकट करता था तो उसे ऐसा करने की छूट मिल जाती थी। तब राज्य ही अपनी ओर से वह अभियोग चलाता था। परन्तु यदि अभियुक्त से रिश्वत लेकर वह सही गवाही नही देता था तो उसका वध करवा दिया जाता था।

निष्पत्तौ निक्षिपेद् वाक्यमात्मान वापहापयेत् ।
अभियुक्तोपजापात्तु सूचकोवधमाप्नुयात् ॥ (अधि० २, अध्याय ८)

राजतत्र और गणतत्रो का अनवरत सघर्ष

राजतत्र के पूर्ण विजय अभियान मे फैले विशाल गणतत्रो की सख्या मुख्य बाधक बन रही थी। इन गणतत्रो का पुराना इतिहास था। इनमे कोई राजा नही होता था। आमतौर पर एक कबीले या कुल का एक गणतत्र होता था जिसे वे सघ राज्य के नाम से पुकारते थे। सामान्य प्रशासन के लिए एक समिति का चुनाव होता था जिसका सर्वोच्च अधिकारी सघमुख्य के नाम से पुकारा

जाता था। वास्तव मे ये सघराज्य दास राज्य थे, अर्थात् दास प्रथा पर आधारित थे और एक सघ दूसरे सघ की भूमि एव पशुओ का अपहरण करने के लिए युद्ध करता था और विजित सघ की भूमि, चरागाह तथा पशुओ पर अधिकार जमाने के साथ-साथ उसके नागरिको को दास बना लेता था। ये दास विजेताओ के खतो तथा चरागाहो मे कार्य करते थे और इस प्रकार उनकी आथिक सम्पदा बढाने मे हाथ बँटाते थे। परन्तु इनके क्षेत्र बहुत सीमित थे। कौटल्य कालीन भारत मे दो राजनीतिक व्यवस्थाएँ साथ-साथ चल रही थी। एक ओर छोटे तथा विशाल राजतत्रो की बडी सख्या होती थी और दूसरी ओर अनेक छोटे-बडे गणतत्री राज्य थे। विजित कुल या कबीले के व्यक्तियो को दास अवश्य बनाया जाता था, परन्तु राजतत्रो की भाँति सघराज्य उनकी व्यक्तिगत स्वतत्रता का वैसा हनन नही करते थे जैसा राजतत्र करता था। प्रारम्भिक दिनो मे राजतत्र एव उसकी सामन्ती समाज व्यवस्था ने कठोरता एव निर्दयता के साथ गणतत्र राज्यो के साथ सघर्ष किया था एव उन्हे नष्ट करने के प्रयत्न किये थे। परन्तु राजतत्र के मुकाबिले गणतत्री सैनिको ने अधिक शक्ति का प्रदर्शन किया था और सदियो तक राजतत्रो के मुकाबिले अपनी असाधारण प्रतिरोध शक्ति का परिचय दिया था। सघ राज्यो की प्रजा भी राजतत्रो की प्रजाओ की तुलना मे अधिक सगठित हो कर बलिदान करती थी जिससे राजतत्र यह समझ गये कि सघ राज्यो की सैनिक पराजय उतनी आसान नही है जितनी समझ ली गयी थी। शान्ति काल मे ये सघ निर्बल प्रतीत होते थे। परन्तु जब वे देखते थे कि उनके अस्तित्व के लिए सकट उत्पन्न हो गया है तो अपना सर्वस्व दाँव पर लगा कर युद्ध करते थे जिससे शक्तिशाली एव विशाल राजतत्रो तक के छक्के छूट जाते थे।

वास्तव मे ये गणतत्र दास प्रथा से भी पहले की समाज व्यवस्था के प्रतीक थे। आरम्भिक कबीला समाज मे जब खेती का विकास नही हो पाया था और मनुष्य समाज मृगया एव पशुपालन के सहारे जीवन निर्वाह करता था उस समय ये कबीले अपनी आवश्यकताओ के अनुसार एक भूभाग से दूसरे भूभाग मे भटकते फिरा करते थे। आर्थिक जीवन की इस अस्थिरता ने उन्हे अधिक सघर्षशील बना रखा था और वे तत्कालीन सकट निवारण की आवश्यकताओ

से प्रेरित होकर अहोरात्र सघर्ष के लिए सन्नद्ध रहने को बाध्य थे। कालान्तर मे जब आर्थिक परिस्थितियाँ अनुकूल हुईं और वे जम कर किसी एक अनुकूल भूभाग पर रहने लगे तब भी उन्होने स्वाभाविक रूप मे अपनी सामान्य प्रशासन सम्बन्धी पुरानी परम्परा कायम रखी। यद्यपि एक स्थान पर बसने और सामान्य प्रशासन का स्थायी ढाँचा कायम करने से पहले ही उनमे व्यक्तिगत सम्पत्ति का उदय हो गया था और इस प्रकार सघ सम्पत्ति के स्थान पर व्यक्तिगत सम्पत्ति का पदार्पण करने के पश्चात् सामन्ती अर्थव्यवस्था एव राजतत्र का उदय हो जाना चाहिए था, फिर भी उन्होने राजाविहीन प्रशासन-व्यवस्था कायम रखी जो कि पुराने कबीला समाज की विरासत थी।

स्पष्ट है कि इस अन्तर्विरोध ने गणतत्रो को अन्दर से खोखला कर दिया। जब तक सघराज्यो मे सघीय सम्पत्ति का प्रमुत्व था और ऋग्वेद की इस प्रसिद्ध उक्ति के अनुसार कि "हम सब मिल कर अपनी रक्षा करे, सब मिल कर साथ खावे, सब मिल कर पराक्रम के कार्य करे और जो हम मे सबसे अधिक तेजस्वी है, उसकी आज्ञाओ का पालन करे और हम एक दूसरे से ईर्ष्या न करे।"

(**सह नाववतु सहनौं भुनक्तु सहवीर्यं करवावहै। तेजस्विनावधीन् मस्तु मा विद्विषावहै**) समाज का प्रत्येक व्यक्ति मिल कर काम करता था और पूरी सम्पत्ति पूरे समाज या सघ की समझी जाती थी एव सभी मिल कर खाते थे, उस समय एक व्यक्ति का दूसरे से ईर्ष्या न करना एव सघ के सर्वाधिक तेजस्वी व्यक्ति की आज्ञाओ को शिरोधार्य करना स्वाभाविक था। परन्तु जिस सघराज्य मे व्यक्तिगत सम्पत्ति ने जन्म ले लिया हो, प्रत्येक व्यक्ति अपने ही पशुओ तथा अपने ही चरागाह मे उन्हे चराता हो, उनके दूध एव बच्चो का वह स्वय ही स्वामी हो एव अपनी भूमि के भूभाग पर स्वय अपने ही उत्तर-दायित्व पर और अपने ही लाभ के लिए खेती करता हो, उस राज्य मे सघीय राज्य के पुराने नियम एव आदर्श कैसे जीवित रह सकते थे। जिस व्यक्तिगत सम्पत्ति और व्यक्तिगत खेती ने पडोस के प्रदेशो मे सामन्तवाद और राजतत्र को विजयी बनाया हो और जो राजतत्र ललचाई आँखो से सघराज्यो की भूमि

एव पशुओ की ओर देखते रहते हो उनके झटको को अन्तर्विरोधो से जर्जर सघ राज्य कैसे झेल सकते थे।

सघराज्यो मे एकता का धागा टूट चुका था। उनमे व्यक्तिगत ईर्ष्या और द्वेष का विष भरा हुआ था। उनमे व्यक्तिगत आकाक्षाओ ने सामाजिक हितो को बलि चढा दिया था। विषय लोलुपता, भ्रष्टाचार और दम्भ तथा पाखण्ड परम पराकाष्ठा पर पहुँचे हुए थे। उनके सामने कोई उच्च सामाजिक आदश नही रह गया था जिसकी रक्षा के लिए वे व्यक्तिगत स्वार्थो का परित्याग करते। गणराज्य का प्रत्येक नागरिक आपाधापी मे लगा हुआ था। केवल बाहरी आक्रमणो और विशेष सकट के ममय वे कबीले या कुल के नाम पर एक हो जाते थे, दीवानो की तरह जूझते थे और ज्यो ही वह सकट टल जाता था, पुन पहले को ही तरह, बल्कि पहले से भी उग्र रूप मे, आपस मे टकराने लगते थे।

इन सघराज्यो के नाम या तो उन भूभागो के नाम पर पडे थे जहाँ वे आबाद थे और या फिर कबीले के किसी माननीय पूर्वज के नाम पर वे पुकारे जाते थे।

महामात्य कौटल्य जिम समय विशाल मौर्य साम्राज्य की नीव रख रहे थे, देश मे अनेक सघराज्य थे और उनकी वही स्थिति थी जो ऊपर बतायी गयी है परन्तु कौटल्य ने उनके साथ सघर्ष का मार्ग सैनिक युद्ध के रूप मे नही प्रयुत्त् कूटनीनिक युद्ध के रूप मे स्वीकार किया और विभिन्न सघराज्यो के प्रति एक ही नीति का अनुगमन न करके विभिन्न उपायो का सहारा लिया था। इस नीति के मूलत दो ही निष्कर्ष निकलते है। पहला है राजनीतिक और दूसरा कूटनीतिक। कूटनीतिक उपाय के भी दो रूप अपनाये गये---उन्हे अन्दर से खोखला करना और नष्ट कर देना तथा विशेष परिस्थितियो की वाध्यता आ पडने पर ही सैनिक युद्ध का सहारा लेना। कौटल्य सघराज्यो को राजतत्र की समानान्तर व्यवस्था के रूप मे देखते थे, उनकी कमजोरियो का भी उन्हे आभास था, परन्तु फिर भी उन्हे निर्मूल करने का कार्यक्रम उन्होने नही अपनाया इसका मूल कारण राजनीतिक था। कौटल्य यह अनुभव करते थे कि राजतत्र

को सम्प्रति किसी मूल्य पर भी सघराज्यो से कामचलाऊ समझौता कर लेना चाहिए, उनमे आन्तरिक अव्यवस्था फैलानी चाहिए जिससे कि कालान्तर मे वे स्वय ही छिन्न-भिन्न हो जाएँ और किसी भी मूल्य पर सैनिक आक्रमण करके उन्हे आत्मरक्षा के नाम पर एक हो जाने का अवमर नही देना चाहिए।

बाद के अनुभव ने यह मिद्ध कर दिया कि कौटल्य की राजनीतिक सूझ-बूझ सही सिद्ध हुई। अपने समय मे कौटल्य की केवल एक ही महत्वकाक्षा थी। किसी भी भाँति सैकडो-हजारो प्रशासनिक इकाइयो मे बँटे भारत को केवल एक ही प्रशासनिक झण्डे के नीचे एकत्रित कर दे और इसमे उन्हे पर्याप्त मफलता मिली।

इसीलिए सघराज्यो के प्रति उन्होने एक विशेष दृष्टिकोण अपनाया।

कौटल्य यह मानते थे कि सघो मे अधिक एकता होती है। इसीलिए उन्हे जीतना आसान नही है। (सघा हि सहतात्वाद धृष्या परेषान्) इसीलिए यह दावा किया गया कि यदि किसी राजा को दूसरे क्षेत्र से सेना, मित्र एव सघ का महयोग मिलता हो तो, सघ का ही सहयोग लेना चाहिए। यदि सघराज्य अपने अनुकूल हो तो साम और दाम से उन्हे सदा अपने पक्ष मे बना कर रखना चाहिए और यदि वे सर्वथा विरोधी हो तो भेद तथा दण्ड का सहारा लेना चाहिए।

कम्बोज और सौराष्ट्र के सघ राज्य आमतौर पर खेती, पशुपालन और व्यापार तथा सेना मे काम करते थे। यही उनकी जीविका का मुख्य साधन था। इन मघराज्यो मे रहने वाले क्षत्रिय, वैश्य एव शूद्र यही कार्य करते थे।

इनके अतिरिक्त लिच्छवी, व्रजिक, मल्लक, मद्रक, कुकुर, कुरु और पाचाल आदि प्रसिद्ध मघीय राज्य थे जिनमे राजा तो नही होता था, परन्तु वे अपने आपको राजा कहलाने मे गर्व अनुभव करते थे। (राजशब्दोपजीविन)

लिच्छवी गणतत्र की राजधानी वैशालि थी जिसके अवशेष अभी तक पाये जाते है। मल्लक गणतत्र पटना के पास था जिमकी राजधानी पावा थी। मद्रक और कुकुर कबीले मध्य पजाब मे आबाद थे। मद्रक का पजाबी अपभ्रंश 'माझा' है। कुरु देश वर्तमान मेरठ, करनाल और रोहतक आदि जिले हैं जिसकी राज-

धानी कभी इन्द्रप्रस्थ मे और हस्तिनापुर थी। वर्तमान कन्नौज आदि के आस-पास मे पोनाल जाति निवास करती थी।

इन सघ राज्यो का भारतीय राजनीति मे सैकडो-हजारो वर्षों तक नक्षत्र चमका था एव वर्त्तमान भारत की बहुत सी विकट समस्याओ का अच्छा एव बुरा सूत्रपात उसी युग की विरासत के रूप मे मिला है जो आज भी ज्यो का त्या हे तथा कभी-कभो तो विकट रूप धारण कर लेता है। यदि यह कहा जाए तो अतिशयोक्ति नही होगी कि वर्तमान निर्वाचनो के अवसर पर जो सकीर्ण जातीयता उभर कर आती है, जिससे देश की सभी राजनीतिक समस्याओ पर आवरण पड जाता है वह केवल सामन्ती समाज का घृणित अवशेष नही है प्रत्युत् उसी कबीला समाज के, जिसका राजनीतिक रूपसघ राज्य था, घृणित अवशेष है। प्रत्येक जाति एक सकीर्ण कबीले की भाँति, उसी तरह, अपनी जाति के उम्मीदवार के चारो ओर इकट्ठा हो जाती है, जिस तरह, कबीले पर बाहरी आक्रमण के समय पूरे कबीले के लोग मरने और मारने को तैयार हो जाते थे। इसके साथ-साथ, सघराज्य के कुछ अच्छे प्रभाव भी हैं। यदि सामाजिक सुधार का नारा पूरे समाज के लिए दिया जाता है तो कार्यान्वित नही होता। परन्तु यदि सकुचित जातीय आधार पर ऐसा कोई कार्यक्रम रखा जाता है और एक बार वह स्वीकार हो जाता है तो पूरी जाति के लिए सविधान की भाँति मान्य हो जाता है।

इन सघराज्यो का विनाश करने के लिए राजतत्र की ओर से बडी सख्या मे बुद्धिमान् गुप्तचर भेजे जाते थे जो सघ के सदस्यो के आपसी मनमुटाव, उनकी कमियो तथा दोषो, आपसी बैरभाव और कलह के कारणो का पता लगाते थे। वे एक दूसरे सघमुख्य के पास जा कर और एक दूसरे का नाम ले कर उनकी बुराई करते थे और साथ ही ऐसी सावधानी बरतते थे जिससे कि वे आपस मे मिल कर एक-दूसरे से स्पष्टीकरण न माँग सकें।

अध्यापको के रूप मे रहने वाले गुप्तचर सघमुख्यो के बालको के साथ पक्षपात करते थे, एक की बुद्धि की निन्दा और दूसरे की प्रशसा करते थे और विद्या, शिल्प, जुआ तथा घुमाने-फिराने के समय ऐसा व्यवहार करते थे जिससे कि

सघ के मुख्य परिवारो के बच्चो मे स्थायी रूप से आपसी वैमनस हो जाए। जब किसी सघमुख्य के विरोध मे उसके अतिशय शराब पीने या वेश्याओ के पास आने-जाने की निन्दा होने लगती थी तो नागरिको के वेश मे रहने वाले गुप्तचर उसका साथ देते थे। कहते थे कि—"शराब पीने मे क्या दोष है, वेश्याओ के पास क्यो नही जाना चाहिए ? अमुक सघमुख्य बिलकुल ठीक है।" आदि। इससे सघमुख्य के समर्थको तथा विरोधियो के दो विरोधी दल बनाये जा सकते थे। इस नीति से राजा को सघ मे अपना विश्वसनीय कृत्यपक्ष मिल जाता था।

जो बच्चे अधिक सुख-सुविधाओ का जीवन व्यतीत करते थे या अच्छे खिलौने आदि का प्रयोग करते थे, उनके मुकाबिले हीन साधनो का प्रयोग करने वाले बच्चो को यह कह कर भडकाया जाता था कि "तुम भी सघ के बच्चे हो और ये भी। फिर ये ही क्यो सुविधापूर्वक रहते है और तुम दीन-हीन दशा मे हो ?

जो सघ मे या बडे पदो पर हो उन्हे छोटो के साथ विवाह आदि सस्कार करने से रोका जा सकता था। साथ ही छोटो को यह कह कर भडकाया जाता था कि—सघ मे सभी समान हैं। आप के विवाह आदि के सम्बन्ध इनके साथ क्यो नही होते ? ये बडे भी तो आप ही लोगो के बनाये हुए है।

(विशिष्टाना चैकपात्र विवाह हीनेभ्यो वारयेयु । हीनान्वा विशिष्टैरेकपात्रे विवाहे वा योजयेयु । अवहीनान्वा तुल्य भावोपगमने कुलत पौरुषत. स्थान-विपर्यासितो वा)

इस प्रकार हीन दशा के व्यक्तियो को विशिष्ट हैसियत के व्यक्तियो के साथ बैठ कर खान-पान के लिए उकसाया जाता था और इसके लिए उनके कुल एव वीरता की गरिमा का स्मरण कराया जाता था।

सघ जो भी उचित या अनुचित निर्णय किसी विवाद का करता था, पीडित व्यक्ति को पहले ही वे विपरीत निर्णय सुनाते थे और उसके पक्ष का समर्थन करते थे। जब सघ के किन्ही दो-चार गुटो मे विरोध सुस्पष्ट हो जाता था तो चुपके से वे उनके पशु, सम्पत्ति तथा व्यक्तियो को नष्ट कर देते थे, या हत्या

कर डालते थे जिससे कि उन गुटो मे आजीवन शत्रुता हो जाती थी और वे जनता की दृष्टि मे गिर जाते थे।

इन विवादो मे राजा सदा ही निर्बल का पक्ष लेता था और जो आपसी सघर्ष मे पिट जाते थे उन्हे सघ से पृथक् होने की प्रेरणा अपने भेदियो द्वारा देता था।

किसी एक प्रदेश मे ऐसे लोगो को अलग से बसा दिया जाता था और इन बस्तियो मे कम से कम पाँच और अधिक से अधिक दस परिवार रखे जाते थे। उन सभी को कभी इकट्ठा नही रखा जाता था। यह डर बना रहता था कि किसी भी समय उनमे फिर से कबीला भावना जाग सकती है और वे राजा के विरुद्ध शस्त्र उठा सकते है। इन बस्तियो के बीच-बीच मे राजा की सैनिक चौकियाँ रहती थी।

(एक देश समस्तान् वा निवेश्य भूमौ चैषा पचकुली दशकुली वा कुल्या निवेशयेत्। एकस्था हि शस्त्रग्रहण समर्था स्यु। समवाये चैषामत्यये स्थापयेत्।)

जिन सघराज्यो मे राजा शब्द प्रिय था और वे अपने आपको राजा कहला कर गर्व अनुभव करते थे—जैसे लिच्छवी आदि सघ, उनमे ज्योतिषी, भविष्य-वक्ता आदि के रूप मे जो विद्वान् गुप्तचर रहते थे, वे किसी सघमुख्य के बालक का हाथ एव नक्षत्र देख कर सर्वसम्मति से घोषणा करते थे कि "यह बालक राजा के लक्षणो से युक्त है। सभव है कि यह किसी राजा का पुत्र भी हो जो दैवयोग से इस घर मे आ गया है।" सघ के प्रतिष्ठित मुख्यो के पास पहुँच कर वे विनती करते थे कि "अमुक बालक अमुक राजा का पुत्र या भ्राता है। आप इसकी रक्षा करे।" जब पूरे सघ मे यह चर्चा सर्वमान्य हो जाती थी कि बालक वास्तव मे अमुक राजा का पुत्र या भ्राता है एव सघ के अधिकाश सदस्य इस पक्ष मे हो जाते थे कि बालक लौटा देना चाहिए एव कुछ सघमुख्य इस कार्य मे राजा की सहायता करने के लिए सक्रिय कृत्यपक्ष (पचमाँगी) का कार्य करने को उद्यत हो जाते थे तो राजा सघ मे बडी मात्रा मे धन बाँटता था एव सेना भेज कर पुत्र प्राप्ति के नाम पर सघ की विजय कर लेता था।

परन्तु यह सब बहानेबाजी करने के बाद भी कौटल्य यही समझते है कि सघ को युद्ध की भूमि मे सम्पूर्ण रूप से आमन्त्रित न किया जाए। उस अवसर पर शराब के व्यापारी के रूप मे रहने वाले गुप्तचर अपने घर मे हुई मौत का प्रचार करके पूरे सघ को मदिरापान का निमन्त्रण देते थे और मदिरा मे विष मिला कर पिलाते थे ताकि सघ के अधिकाश व्यक्ति या तो मौत का चुम्बन कर ले, या उनका स्वास्थ्य नष्ट हो जाए और उनका युद्ध करने का साहस टूक-टूक हो जाए ताकि राजसेना के सम्मुख आत्मसमर्पण करने के अलावा कोई मार्ग ही उनके लिए शेष न रह जाए।

(विक्रमकाले शौण्डिकव्यञ्जना पुत्रदार प्रतापदेशेन नैषेचनिकमिति मदन-रस युक्तान् मद्य कुम्भाञ्शतशः प्रयच्छेयु.)

अथवा आपसी कलह एव द्वेष मे फँसे सघमुख्यो मे से किसी एक-दो को गुप्तचर इस प्रकार मूल्यवान् आभूषण आदि छुपा कर देते थे कि कोई देख भी ले। जब उसकी चर्चा चल जाती थी तो व्यापक प्रचार किया जाता था कि ये आभूषण राजा की ओर से भेटस्वरूप आये है। जब पूरे सघ मे मुख्य के प्रति अविश्वास की भावना फैल जाती थी और सभी लोग उसे धिक्कारने लगते थे, तब राजा सघ पर आवश्यकता एव सभावना का पता लगा कर आक्रमण कर देता था।

सघमुख्य के किसी गर्वित और महत्वाकाक्षी नौजवान पुत्र के मन मे निरन्तर प्रचार करके गुप्तचर यह बात बैठा देते थे कि तुम वास्तव मे सघ-मुख्य के पुत्र नही हो। तुम्हारा पिता तो अमुक राजा है। उसने विपत्ति के समय तुम्हारे प्राणो की रक्षा के लिए सघमुख्य के पास छोड दिया था। तुम्ही उस राज्य के वास्तविक स्वामी हो। परन्तु कपटी सघमुख्य है कि तुम्हे अपने पिता के पास नही जाने देता। क्यो नही तुम सघ मे अपना एक पृथक् दल बना लेते। राजा से धन एव सेना की सहायता लो। इस सघ पर विजय प्राप्त करो और सघ को अपने पिता के राज्य मे विलीन कर दो। जब इस महत्वाकाक्षी मुख्यपुत्र पर प्रचार का पूरा सिक्का जम जाता था और सघ मे उसके समर्थको की टोली बन जाती थी, तब राजा उसे धन और सेना की

सहायता दे कर उसी के माध्यम से सघ की विजय कर लेता था। सघराज्य के हाथ मे आने के बाद इस कृत्रिम 'राजपुत्र' का सिर धड से उतार कर उसकी महत्वाकाक्षा शान्त कर दी जाती थी।

आमतौर पर जिनकी स्त्रियाँ कुलटा होती हैं या जिन जातियो मे अपनी स्त्रियो द्वारा धन कमाने की परम्परा होती है, जैसे कूदने-फाँदने वाले, बाँसो तथा रस्सियो पर चढने वाले, नट, नर्तक और जादूगर आदि वे बहुत से सघ-मुख्यो के पास अपनी सुन्दर तथा जवान बहुओ तथा बेटियो को भेज कर उन्हे रिझाने तथा फँसाने का प्रयत्न करते थे। जब एक ही लडकी पर अनेक मुख्य आसक्त हो जाते थे तब उन्हे एकान्तवास के लिए किसी नियत स्थान पर बुलाया जाता था। उसी समय दूसरे सघमुख्य को बुलाया जाता था और वह कुलटा लडकी जब एक के साथ भाग जाती थी तो दूसरे से कहा जाता था—लडकी या बहू तो केवल आप पर ही मोहित है। परन्तु यह दूसरा सघमुख्य जबरदस्ती कर रहा है और उसे उठा कर ले गया। जब स्त्री के मामले को ले कर दोनो का कलह सर्वविदित हो जाता था तो गुप्तचर एक की हत्या कर देते थे। प्रचार चलाया जाता था कि दूसरो की स्त्रियो मे फँसा यह कामी मारा गया और इस प्रकार दूसरे सघमुख्य को बदनाम किया जाता था।

यदि इतनी उत्तेजना होने पर भी दूसरा सघमुख्य चुपचाप घर बैठा रहता था और लडकी भगाने वाले सघमुख्य से बदला नही लेता था तो वह लडकी स्वय ही उसके पास आ कर कहती थी—मेरा जीवन आपके साथ है। आपके बिना घडी भर जीना कठिन है। परन्तु यह दूसरा सघमुख्य जबरस्ती मेरे पीछे पडा हुआ है। जब भी आप से मिलने की योजना बनाती हूँ, यह बीच मे आ कर बाधा डालता है या मुझे उठा कर ले जाता है। उसके जीते जी मेरा यहाँ रुकना या ठहरना हराम हो गया है। इस प्रकार सघमुख्य को दूसरे सघ-मुख्य की हत्या मे प्रवृत्त किया जाता था।

जो स्त्री उठा कर ले जायी जाती थी, वह भी अपना काम करती थी। जहाँ सघमुख्य उसके साथ विषय भोग करते थे, वहाँ लडकी के रिस्तेदार के रूप मे गुप्तचर पहुँच जाते थे और उसका वध कर देते थे या स्त्री ही उसकी

इहलीला समाप्त कर देती थी। इसके बाद वह दूसरे सघमुख्य का नाम लेकर चिल्लाने लगती थी—हाय रे, अमुक सघमुख्य ने, जो मेरे प्रिय से ईर्ष्या करता था, मेरे प्रियतम की हत्या कर दी।"

अथवा, जब सघ सदस्यो को यह बात भलीभाँति ज्ञात हो जाती थी कि दो या इससे अधिक सघमुख्य किसी सुन्दर स्त्री पर मोहित है और वे सभी उसे अपने वश मे करना चाहते हैं तो सिद्धवेश मे रहने वाला राजपुरुष वशीकरण औषधी देने के बहाने आता था और उसे विष दे देता था। उसकी मृत्यु के साथ यह किंवदन्ती फैला दी जाती थी कि दूसरे सघमुख्य ने सिद्ध द्वारा विष दिलवा कर अपने प्रतिद्वन्दी की हत्या करवा दी है।

जब ऐसी स्त्रियो से काम नही चलता था तो सम्पन्न परन्तु रूपवती विधवा स्त्रियाँ, सुन्दर परन्तु गरीब स्त्रियाँ जो घरो मे रहती हुई पेशा कराती हो और वे लडके, जो सुन्दर स्त्रियो के वेश मे रहते हो, आपस मे कलह करते हुए सघमुख्य के सम्पर्क मे आते थे और अपने विवाद का निबटारा कराने का बहाना करते थे। सघमुख्यो के पास समय-कुसमय आने का बहाना मिल जाने के बाद उन्हे हर तरह से अपने ऊपर आसक्त करते थे। जब पूरा विश्वास हो जाता था कि वे कामान्ध हो कर चेतना खो बैठे हैं, सभोग के बहाने एकान्त मे बुला कर उनकी हत्या कर दी जाती थी।

स्त्री के वेश मे रहने वाला गुप्तचर चुपचाप आकर सघमुख्य से कहता था—सघ के अमुक ग्राम मे रानी के लक्षणो से युक्त एक स्त्री रहती है। रूप यौवन सम्पन्न है। उसका पति परदेश गया हुआ है। जब कभी आता है उसे सताता है। उसने आपका नाम सुन रखा है। वह आपके नाम की माला जपती है। यदि उसे अपने घर मे ले आओगे तो शीघ्र ही राजा बन जाओगे। जब सघमुख्य ऐसा कर लेता था तो अगले दिन उस स्त्री का पति सघ मे आकर सभा करता था। उस पर आरोप लगाता था कि सघमुख्य व्यभिचारी है। उसने मेरी स्त्री, पुत्री या बहन का अपहरण कर लिया है और घर मे बैठा रखा है, आदि।

जब न्याय की याचना करने पर सघ अपराधी मुख्य को गिरफ्तार कर लेता था तो राजा के आदमी उसे जाकर कहते थे—देख लिया सघ का न्याय आपने ? वह पतिव्रता आपके नाम पर जीती है। आपने उसका उद्धार किया है। और सघ है कि आपको प्रोत्साहन देने के स्थान पर जेल मे डालता है। आप क्यो नही राजा से धन और सेना की सहायता मॉगते और इन पाखण्डी सघमुख्यो का दिमाग ठिकाने लगाते ?

यदि सघ उसे गिरफ्तार नही करता था तो किसी गुप्तचर द्वारा सघमुख्य की हत्या करवा कर प्रचार कर दिया जाता था कि सघमुख्य ने ब्राह्मणी घर मे डाल रखी थी। वह उसी के अपराध मे मारा गया है।

सन्यासिनी या भिक्षुकी के वेश मे रहने वाली गुप्तचर नारी किसी ऐसे सघ-मुख्य के पास जा कर एकान्त मे कहती थी जिसे अपनी पत्नी प्राणो से भी अधिक प्रिय हो—कि—देखिए अमुक सघमुख्य मे यौवन का कैसा उन्माद चढा है ? उसने आपकी स्त्री के पास यह प्रेमपत्र दे कर मुझे भेजा है और कहा है कि—भिक्षुकी ! कम से कम एक रात के लिए उसे मेरे पास ले आ। आपकी पत्नी तो बेचारी निर्दोष है। उसे किसी बात का पता भी नही है। परन्तु उसने मारने की धमकी दी है कि यदि पत्र नही पहुँचाएगी या किसी बहाने से उसे नही लाएगी, तो तेरी खैरियत नही। आप इस पापी के प्राणो का अन्त कर दीजिए। जब तक वह नही मरता, मै भी यहाँ से नही जाती। वह मेरी जान ले लेगा।" आदि और इस प्रकार वह स्त्री दूसरे सघमुख्य की हत्या का प्रयत्न करवाती थी।

कौटल्य ने विस्तार के साथ सघो के विघटन तथा उच्छेद के जो उपाय बताये है ये पक्तियाँ उनका दिग्दर्शन मात्र हैं। इन्ही पक्तियो से यह बात स्पष्ट हो जाती है कि सघराज्यो एव व्यवस्था की जीवनी-शक्ति नष्ट हो चुकी थी, वे आपसी कलह तथा द्वेषो मे उलझे हुए थे और सघ का प्रत्येक सदस्य अपने ही द्वारा रचे गये जालो मे उलझा हुआ था। उनका नैतिक पतन हो चुका था। अन्तर्विरोधो ने उन्हे खोखला कर दिया था और सघीय प्रयत्नो पर आधारित उनका प्राचीन वैभव तथा ऐश्वर्य व्यक्तिवाद की चट्टानो से टकरा-टकरा कर

ध्वस्त हो चुका था। तभी तो राजतत्र के जन्मजात षड्यन्त्रो एव कुचालो के आघात वह सहन नही कर सका और बाध्य होकर सामन्तवाद के चरणो पर आ गिरा। राजतत्र ने सघराज्यो के सबसे घृणित, विश्वासघाती और असवर-वादी तत्त्वो को सघ की व्यवस्था के विरुद्ध विद्रोह करने की प्रेरणा दी, उन्हे अपने अधीन रह कर सघ का राजा या सामन्त बनाने का आश्वासन दिया और इसमे उन्हे इतनी सरलता से सफलता मिल गयी कि एक ही झटके मे उनकी नीव उखड गयी। एक समय था जब भारत के विशाल प्रागण मे प्रसिद्ध गण-तत्री राज्यो के प्रभाव की उत्तुग पताकाएँ हिमालय के शिखर पर तथा अनन्त सागरो की किलोल लहरियो पर लहराया करती थी और वे राजतत्र के सम्मुख इतने दयनीय ढग से सदा-सर्वदा के लिए झुक गयी कि भारतीय पुराणो तथा इतिहास मे उनके पुरुषत्व भरे प्रतिरोध की कोई कथा तक सुनाई नही देती।

अन्त मे सघराज्यो ने राजतत्र के सम्मुख आत्म-समर्पण कर दिया। राजा पृथ्वी का प्रतिपालक बन गया और राजतत्र के विरोधी सघराज्यो पर उसी की पताका फहराने लगी। हाँ, इतनी छूट उन्हे अवश्य थी कि वे सघ की सीमाओ मे राजतत्र के आधीन अपनी पुरानी सामाजिक रीतिनीति का अनुमान कर सकते थे और कही-कही उनका पुराना राजनीतिक रूप भी कायम रखा गया था—यद्यपि सघ मुख्य राजा को भेंट-पूजा और कर नियमित रूप से देते थे।

चौथा अध्याय

विदेश नीति की रूपरेखा

यह धारणा निराधार है कि कौटल्य कालीन भारत मे विदेश नीति का महत्त्व स्पष्ट नही था। यह सिद्धान्त एव मान्यता और भी भ्रामक है कि पूंजीवाद के विकास के साथ-साथ विदेश नीति का महत्त्व बढा है और समाजवादी जनतत्रो की स्थापना से उसका महत्व गृहनीति के समकक्ष हो गया है। विपरीत इसके कौटल्य कालीन भारत मे और यहाँ तक कि पूरे विश्व की राजतत्रात्मक शासनप्रणाली मे विदेश नीति का जो महत्त्व था वह पूंजीवादी एव समाजवादी जनतत्रो की अपेक्षा कही अधिक एव प्रभावकारी था। समाजवादी जनतत्रो की भाँति राजतत्र मे विदेश नीति गृहनीति का अनिवार्य अग नही थी प्रत्युत् विदेश नीति ही गृहनीति का जीर्णोद्धारण करती थी। प्रत्येक राजा और राजतत्र का अस्तित्व इस घटना पर निर्भर करता था कि वह दूसरे राज्यो का कुछ भाग अपने राज्य मे मिला पाता है या नही और दूसरे राजा जो ललचाई आँखो से उसका राज्य आत्मसात् कर लेना चाहते है, वह उनके साथ किस प्रकार का और कितनी मात्रा मे प्रतिरोध करना चाहता है। राजतत्रो के युग मे राज्य विस्तार की स्पर्द्धा इतनी प्रबल एव भयानक थी कि किसी भी राज्य का या तो निरन्तर विस्तार होता रहता था और या फिर उसका ह्रास आरम्भ हो कर अस्तित्व ही लुप्त हो जाता था। न तो राष्ट्रो के सीमान्तो की अनुलघनीयता का पवित्र सिद्धान्त था, न किसी राष्ट्र की सार्वभौमिकता की गरिमा थी, न किसी के आन्तरिक मामलो मे हस्तक्षेप का सिद्धान्त अमान्य था और न कोई किसी की सीमा को ही मान्यता देता था। जिसकी लाठी उसकी भैस का सिद्धान्त प्रचलित था। जब अपेक्षाकृत दीर्घकाल तक राजतत्र एव उसके पडोस मे शान्ति की स्थापना हो जाती थी और यह भी तभी सभव होता था जब विरोधी राजाओ का साहस आक्रमण करने का नही होता था, तो विदेश नीति गौण पड जाती थी, गृहनीति

मुख्य हो जाती थी जिससे कृषि, उद्योग, व्यापार, सुरक्षा, कला और सगीत आदि की उन्नति होने लगती थी। जब कोई दूसरा प्रबल प्रतिद्वन्दी अन्धड़ और तूफानो की भाँति इस या उस राज्य पर आक्रमण करता था तो गृहनीति गौण हो जाती थी एव विदेशनीति सर्वोपरि स्थान ग्रहण कर लेती थी। भारत-वर्ष ने कम से चार हजार वर्ष तक राजतत्रो के पतन तथा उत्थान के और गर्जन तथा तर्जन के दिन देखे है, जिसमे केवल कौटल्य कालीन भारत मे राजतत्र के जो बीजरोपण किये गये थे, उन्ही के मधुर फल स्मरणीय रह गये हैं।

यही कारण है कि राजतत्रो के अस्तित्व एव विकास का मापक यत्र वह गृहनीति नही बन सकी थी जिसके आधार पर वह नवनिर्माण के कार्य करता था बल्कि वह सैनिक बल था जिसके आधार पर वह शत्रुओ से निबटता था और जिसके आतक से वह थोडे बहुत निर्माण सम्बन्धी कार्य भी करवाता था।

कौटल्य कालीन भारत मे विदेश नीति के व्यावहारिक रूप निम्नलिखित थे—सन्धि, विग्रह, यान, आसन, सश्रय और द्वैधीभाव। स्वय राजा और प्रधान अमात्य के लिए राजनीति के इन छ गुणों मे पारगत होना परम अनिवार्य समझा जाता था। यह कहना अतिशयोक्ति न होगा कि उस समय इस षाड्गुण्य मे निष्णात होना ही राजनीतिज्ञ होना था और जो इसमे पारगत नही था उसे राजनीतिज्ञ नही समझा जाता था।

अतएव, इन छ गुणो और विदेश नीति के सम्बन्ध मे विस्तृत विवेचना करने से पहले कौटल्य की विदेश नीति सम्बन्धी मूल्य मान्यताओ तथा उनके सागठनिक रूपो पर विचार करना आवश्यक होगा। तभी यह समझने मे आसानी होगी कि आचार्य कौटल्य एव दूसरे राजनीतिक आचार्यों ने षाड्गुण्य के सम्बन्ध मे इतना बल क्यो दिया है और ये छ गुण किन परिस्थितियो मे किस प्रकार के शत्रुओ अथवा मित्रों के प्रति प्रयोग मे लाये जाते थे।

शत्रु एव मित्र की परिभाषा

आचार्य कौटल्य यह नहीं मानते कि जो अपना अहित करने का प्रयत्न करता है, वही अपना शत्रु है और और जो हित करता है वही मित्र है। इस प्रकार वे, शत्रु एव मित्र की परिभाषा उनके दृष्टिकोण एव कार्यकलापों को देख

कर नही करते, प्रत्युत उनकी धारणा है कि कुछ राजा तो शत्रु होते ही हैं फिर वे अपना अहित करे या न करे तथा कुछ मित्र ही रहेगे चाहे वे अपना हित न भी करते हो। देखने मे यह सिद्धान्त बहुत विचित्र प्रतीत होता है। परन्तु इसमे विचित्रता कुछ भी नही है। आज से २६ सौ वर्ष पहले आचार्य कौटल्य ने शत्रु और मित्र की जो परिभाषा की थी, वह समाजवादी जनतत्रो के उदय काल तक सभी राष्ट्रो को प्राय मान्य रही है।

कौटल्य यह मान कर चलते हैं कि प्रत्येक राजा अपने राज्य का विस्तार करना चाहता है। जिसने राज्य की स्थापना की है, वह उसका विस्तार करने का भी इच्छुक होगा। इसीलिए उसे अपने साथ ऐसे अमात्य आदि प्रकृतियो का सग्रह करना पडता है जो इस कार्य मे सहयोग दे सके और अपना व्यक्तित्व भी इस प्रकार ढालना पडता है जो विजय अभियानो के झटके एव उतार-चढाव झेल सके। इसीलिए, कौटल्य ने उसे "विजिगीषु" (विजय का इच्छुक) सज्ञा दे कर शत्रुओ तथा मित्रो की विवेचना की है एव विजिगीषु को सावधान किया है कि षाड्गुण्यो का प्रयोग करते समय उसे इस मौलिक ज्ञान का लाभ उठाना चाहिए।

(राजात्मद्रव्य प्रकृतिसम्पन्नो नयस्याधिष्ठान विजिगीषु)

कौटल्य ने उसे यह चेतावनी भी दी है कि समस्त राजनीति एव षाड्गुण्य का अधिष्ठाता स्वय राजा है, अमात्य एव सेनापति आदि नही, अत विजय लाभ करने के लिए उसी का साहस एव राजनीति निर्णायक होते हैं, किसी दूसरे के नही।

विजिगीषु के राज्य से मिली चारो दिशाओ मे जो पडोसी राजा होते है, उन्हे कौटल्य शत्रु मानते है। इनके साथ निरन्तर खटपट रहती है और जब भी कभी वे अपने राज्य के विस्तार की योजना कार्यान्वित करना चाहेगे—विजिगीषु के राज्य पर ही आक्रमण करते हैं।

अपने पडोस की चारो सीमाओ पर स्थित राज्यो की दूसरी सीमाओ से लगे राज्यो को कौटल्य मित्र मानते हैं। उनका सिद्धान्त है कि जिस प्रकार सीमान्त से लगा पडोसी राजा विजिगीषु के साथ खटपट रखता है उसी भाँति

अपनी दूसरी सीमा से लगे राजा के प्रति भी उसका यही व्यवहार होना स्वाभाविक है। इस प्रकार यह विजिगीषु का शत्रु हुआ। शत्रु का शत्रु मित्र होता है, यह कौटल्य का अमर सिद्धान्त रहा है जिसे पूरे विश्व के राजनीतिज्ञो ने अब तक स्वीकार किया है।

(शत्रो शत्रुर्मित्रम्। शत्रोर्मित्र शत्रु)

विजिगीषु के राज्य के चारो ओर के राज्यो का विश्लेषण करके कौटल्य ने शत्रु-मित्रो की जो विवेचना की है उससे यही निष्कर्ष निकलता है कि विजिगीषु का पडोसी राजा-शत्रु, उसका पडोसी, मित्र, मित्र का पडोसी-शत्रु, शत्रु का शत्रु मित्र-मित्र अर्थात् अपना मित्र और उसका शत्रु अप्रत्यक्ष रूप से अपना शत्रु। शत्रु मित्रो की इस शृखला का निष्कर्ष निम्नलिखित समझना चाहिए—(१) विजिगीषु, (२) शत्रु, (३) मित्र, (४) शत्रुमित्र, (५) मित्रमित्र, (६) और शत्रुमित्र मित्र।

(तस्य समन्ततो मण्डलीभूताभूम्यनन्तरा अरि प्रकृति । तथैव भूम्येकान्तरा मित्र प्रकृति । तस्मान्मित्रमरिमित्र मित्रमित्रमरिमित्रमित्र चानन्तर्येण भूमीनां प्रसज्यते पुरस्तात्)

इसका राजनीतिक परिणाम यह निकला कि पडोसी देशो से मित्रता के सम्बन्धो की स्थापना असभव मानी जाती थी और उसे राजनीति मे अस्वाभाविक माना जाता था।

इसी प्रकार, विजिगीषु के पीछे के चार देशो का विभाजन आक्रमण की दृष्टि से इस प्रकार किया जाता था---विजिगीषु के पीछे की ओर लगे हुए देश का राजा पार्ष्णिग्राह, उसके बाद का आक्रन्द, इसके बाद का पार्ष्णिग्राहासार और उससे अगला आक्रन्दासार। आक्रमण करने से पहले विजिगीषु सदा ही पार्ष्णिग्राह का प्रबन्ध करते थे। पार्ष्णि अर्थात् एडी उसे पकडने वाला या आक्रमणकारी विजिगीषु पर पीछे की ओर से हमला करने वाला।

(पश्चात्पार्ष्णिग्राह, आक्रन्द, पार्ष्णि ग्राहासार आक्रन्दासार)

कुल मिला कर तत्कालीन राजनीतिज्ञ राजा के शत्रु मित्रो के सम्बन्ध में यह धारणा रखते थे कि सीमा से लगा राज्य स्वाभाविक शत्रु होता है एव अपने

वंश मे उत्पन्न दायभागी राजा भी स्वाभाविक शत्रु होता है। जो किसी कारण विशेष से विरोधी हो गया हो उसे कृत्रिम शत्रु माना जाता था।

(भूम्यनन्तर प्रकृत्यमित्र· तुल्याभिजन सहज)

एक राज्य के व्यवधान पर जो राज्य करता था वह स्वाभाविक मित्र माना जाता था और मामा तथा फूफी का लडका भी सहज मित्र समझे जाते थे।

(भूम्येकान्तर प्रकृतिमित्र मातापितृसबद्ध सहजम्)

धन एव आजीविका के लिए जो राज्य से सम्बन्ध जोडता था वह कृत्रिम मित्र समझा जाता था। शत्रु और मित्र राजाओ की श्रेणियो मे, एक तीसरी 'मध्यम' श्रेणी भी मानी जाती थी जो सन्धि और विग्रह करने मे जो अनुग्रह करने मे समर्थ होता था और यदि विग्रह हो जाए तो विग्रह करने मे भी समर्थ होता था एव विजिगीषु तथा शत्रु राजाओ की सीमा से जिसकी सीमा मिलती थी।

परन्तु इन तीनो से भिन्न एव इतनी ही महत्त्वपूर्ण चौथी श्रेणी भी थी जिसे उदासीन कहते थे और जो विजिगीषु तथा अरि दोनो की पृथक्-पृथक् तुलना मे एक से मिल कर दूसरे का विनाश कर सकता था, एव मध्यम की तुलना मे अधिक शक्तिशाली होता था और जो विजिगीषु; शत्रु और मध्यम मे से किसी भी एक के साथ मिल कर अजेय समझा जाता था।

(अरिविजिगीषुमध्याना बहि· प्रकृतिभ्यो बलवत्तर सहतासहतानामरि विजिगीषुमध्यमानामनुग्रहे समर्थो निग्रहे चासहतानामुदासीन)

अर्थात् विजिगीषु, उसका मित्र और मित्र-मित्र ये तीन प्रकृतियाँ मानी जाती थी। इनमे से प्रत्येक के साथ अमात्य, जनपद, दुर्ग, कोश और दण्ड (प्रकृतियाँ) मिल कर १८ अवयवो वाला एक राजमण्डल कहलाता था। ठीक इसी प्रकार, शत्रुमण्डल, मध्यममण्डल और उदासीनमण्डल भी १८–१८ अवयवो के माने जाते थे। इस प्रकार, चार राजमण्डलो मे १२ राजप्रकृति और ६० अमात्य आदि द्रव्य प्रकृति कुल मिला कर १२ की राजप्रकृति कहलाती थी।

प्रत्येक राजा सन्धि, विग्रह आदि छ गुणो का प्रयोग करने से पहले इन चारो राजमण्डलो और कुल मिला कर उनका ७२ प्रकृतियो का मूल्याकन करता

था उनके बलाबल की तुलना करता था और अपनी स्थिति देख कर ही दूसरे राजमण्डलो के प्रति अपने दृष्टिकोण का निर्णय करता था।

छ गुणो की तुलनात्मक उपयोगिता

विदेश नीति के सम्बन्ध मे कुछ प्राचीन आचार्यों का यह मत था कि उमके मूलभूत सिद्धान्त छ नही प्रत्युत् केवल दो हैं—सन्धि और विग्रह। आप किसी बाहरी देश के प्रति मुख्यत दो प्रकार के ही व्यवहार करते है—या तो सन्धि करते हैं और या विग्रह। शेष चार गुण उन्ही दो के पूरक अग है। परन्तु आचार्य कौटल्य ने दृढता के साथ इस मत का खण्डन किया है और छहो गुणो की समान उपयोगिता पर बल दिया है।

दो राजाओ का किन्ही समान हितो की शर्तों पर एकमत हो जाना सन्धि है, शत्रु का कोई अपकार करना विग्रह है, किसी की उपेक्षा करना या तटस्थता का व्यवहार करना आसन है, शक्तिसचय कर लेना यान है, किसी बलवान् राजा से सरक्षण माँगना अथवा विशेष परिस्थितियो मे उसकी शरण ले लेना सश्रय कहलाता है और सन्धि तथा विग्रह दोनो का प्रयोग करना द्वैधीभाव कहलाता है। वैदेशिक नीति के ये छहो अग भिन्न-भिन्न परिस्थितियो मे भिन्न-भिन्न प्रकार के राजाओ के प्रति भिन्न प्रकार से काम मे लाये जाते हैं और इसीलिए इनके परिणाम भी एक दूसरे से भिन्न होते हैं। कौटल्य ने इसीलिए इन्हे एक-दूसरे से भिन्न एव समान रूप से आवश्यक माना है।

(तत्र पणबन्ध सन्धि । अपकारो विग्रह । उपेक्षणमासन् । अभ्युच्चयो यानम । परार्पण सश्रय । सन्धिविग्रहोपादान द्वैधीभाव)

शत्रु से भय लगता हो तो सन्धि की जाती थी, शक्ति सचय हो गया हो तो विग्रह अर्थात् तनाव किया जाता था। दोनो की शक्ति समान होती थी तो घर बैठे रहते थे। शक्ति अधिक हो जाती थी तो शत्रु पर चढ बैठते थे। शक्ति कम होती थी तो बलवान् का सहारा ले लेते थे, किसी का सहयोग मिलने से और शत्रु के साथ मिले किसी राजा के उससे टूट जाने से काम निकल सकता हो तो द्वैधीभाव का सहारा लेकर यही करते थे।

इन छ गुणो मे से उसी का सहारा लेना अधिक श्रेयस्कर तथा बुद्धिमत्ता-पूर्ण माना जाता था जिसका सहारा लेने से राजा यह समझे कि—इस बीच मे अपने दुर्ग, सेतु (पुल) व्यापारी मार्ग, नये उपनिवेश खान, काष्ठवन, हस्तिवन और ऐसे ही अन्य लाभदायक कार्यों को सम्पन्न करा लूँगा और शत्रु के ऐसे ही कार्यों की प्रगति मे बाधा डाल सकूँगा एव जो बन चुके है उन्हे क्षतिग्रस्त कर दूँगा। परन्तु उन कार्यो के सम्पादन मे शीघ्रता करने पर राजनीतिज्ञ सदा ही जोर देते थे। परन्तु यदि प्रक्रिया इसके विपरीत चलती हो, अर्थात् शत्रु के कार्यों की उन्नति अधिकतर एव शीघ्रतर होती हो तो विपरीत मार्ग का अवलम्बन करने का परामर्श दिया जाता था। यदि समान काल मे समान उन्नति होने की सभावना होती थी तो सन्धि करना श्रेयस्कर समझा जाता था। जिस गुण के अवलम्बन से अपनी अवनति एव शत्रु की उन्नति होती हो, उसका आश्रय कभी नही लिया जाता था।

ऐसी परिस्थितियो मे विजिगीषु अपनी हानि की अधिक चिन्ता नही करते थे यदि उसकी क्षति बहुत दिनो मे और शत्रु की शीघ्र होनेवाली हो, अपनी क्षति थोडी और शत्रु की अधिक होने वाली हो, अपनी क्षति उदयोन्मुख और शत्रु की ह्रासोन्मुख होने वाली हो। और यदि दोनो की ही क्षतियाँ समान रूप से होने वाली होती थी तो विजिगीषु को परामर्ष दिया जाता था कि वह सन्धि कर ले, किसी अन्य गुण का आश्रय न ले। कौटल्य ने निम्नलिखित परि-स्थितियो और सभावनाओ मे विजिगीषु को यही सलाह दी है कि उसे सन्धि से भिन्न किसी दूसरे गुण का आश्रय नही लेना चाहिए यदि—

शत्रु की अपेक्षा अपने दुर्ग आदि निर्माण कार्यो मे अधिक प्रगति की सभा-वना हो या शीघ्र ही शत्रु के दुर्ग आदि निर्माण कार्यों की क्षति होने वाली हो, यदि उसे आशा हो कि अपने दुर्ग आदि की भाँति शत्रु के दुर्ग आदि का लाभ भी उसे मिल सकता है, यदि आशा हो कि सन्धि से शत्रु का विश्वास जीत कर उसके दुर्ग आदि मे तोड-फोड एव कृत्यपक्ष आदि का सगठन कर सकूँगा, यदि यह सभावना हो कि सन्धि करने से जो सद्भावना का वातावरण बनेगा उसकी ओट मे शत्रु देश के अच्छे विशेषज्ञो और कारीगरो आदि को अपने देश मे खीच

लाऊँगा, यदि शत्रु अपने से अधिक बलवान् शत्रु के साथ सन्धि करने के कारण अत्यधिक भुगतान करने से शीघ्र ही खाली हाथ होने वाला हो, यदि यह सोचे कि जिससे विग्रह करने के लिए वह विजिगीषु सन्धि कर रहा है, उसी से उसका अनन्त काल तक विग्रह चला सकूंगा, यदि वह उसके साथ सन्धि करके उसके शत्रु की प्रजा को निर्दयतापूर्वक लूटने एव सताने वाला हो, यदि दूसरे राजा से सताया हुआ उसका राष्ट्र तग आकर शीघ्र ही विजिगीषु को मिलने वाला हो और यदि लम्बे युद्ध मे फँसा एव क्षतिग्रस्त शत्रु शीघ्र ही अपने पर आक्रमण करने की सभावना न रखता हो, आदि।

निम्नलिखित सभावनाओ मे विग्रह गुण का आश्रय लेने की सलाह दी जाती थी—यदि राज्य की प्रजा अधिकाश मे शस्त्रजीवी हो या कबीला ढग की हो और पहाड, जगल, नदी, दुर्ग आदि की बहुतायत हो एव राज्य मे प्रवेश करने का एक ही मार्ग हो जहाँ दीर्घ समय तक शत्रु का आक्रमण रोका जा सके एव प्रतिरोध किया जा सके, यदि अपने राज्य की सीमा पर अति दुर्भेद्य दुर्ग हो जिसका सहारा ले कर वह शत्रु के दुर्ग आदि का विनाश कर सकता हो, यदि सकट एव हानियो से हतोत्साहित शत्रु के पतन की सभावनाएँ बहुत सन्नि-कट हो और यदि ऐसी सभावना हो कि सकटकाल मे अपनी जनता को किसी सुरक्षित मार्ग से बचा कर निकाला जा सकता हो।

यदि ऐसा प्रतीत होता था कि—न तो शत्रु मेरे उद्योगो को नष्ट कर सकता है, न मैं ही उसे हानि पहुँचा सकता हूँ इसलिए क्यो न मौन बैठ कर अपनी स्थिति सभालूं तो आसन गुण का सहारा लिया जाता था।

इसी रीति से शेष गुणो के हानि-लाभो की विवेचना करके उनका आश्रय लिया जाता था।

सन्धि और विग्रह का समान लाभ होता हो तो सन्धि की जाती थी। विग्रह मे हानि, व्यय, दूसरे की सीमाओ मे प्रवेश और शत्रु द्वारा किये गये विष आदि के प्रयोग से सचित बल की क्षति होने का भय रहता था। इसी प्रकार, आसन और यान से तथा द्वैधीभाव और सश्रय से समान लाभ की सभावना पर आसन एव द्वैधीभाव का सहारा लिया जाता था। द्वैधीभाव से

राजा अपने बल की वृद्धि करता है एव सश्रय से दूसरे का बल बढाता है। यदि प्रबल राजा का भय होता था तो उससे अधिक बलशाली राजा का सश्रय लिया जाता था। जब ऐसी सभावना नही मिलती थी तो बलवान् शत्रु का ही सहारा पकडना उचित समझा जाता था। परन्तु उससे दूर रह कर सश्रय लेना और सश्रयदाता को सन्तुष्ट रखना ही उचित समझा जाता था। प्राय बलवान् राजाओ का सश्रय लेने और उनके निकट रहने पर वध एव बन्धन सभी की सभावना रहती थी। जब भी कभी यह अनुभव होता था कि सश्रयदाता राजा पर स्वय सकट आ गया है और उसके विरुद्ध विद्रोह आदि हो सकता है तो सश्रय लेने वाला दुर्बल राजा भाग खडा होता था एव अपने राज्य का पुनर्गठन करता था।

बलवान् के साथ विग्रह करना शास्त्र वर्जित था और समान बलशाली के साथ अर्थहीन माना जाता था। परन्तु निर्बल राजा के साथ विग्रह टालना मूर्खता समझी जाती थी। यदि समान शक्ति का राजा सन्धि नही करता था तो उसे बार-बार हानि पहुँचाई जाती थी। वह तभी सन्धि करने के लिए उत्सुक बनाया जा सकता था। यदि हीनशक्ति राजा सदा विनम्र बना रहता था तो उससे विग्रह करना भी विवेकहीन समझा जाता था। ऐसा न करने पर मित्र राज-मण्डल मे रोष फैलता था और अपनी प्रकृतियो मे असन्तोष पैदा होता था जिससे राजा की लोकप्रियता नष्ट हो जाती थी। विजिगीषु के शक्तिशाली और शत्रु के निर्बल होने पर भी यदि विग्रह से विशेष लाभ दिखाई न देता हो तो सधि की ही उपादेयता समझी जाती थी। यदि आपत्ति अप्रतिकार्य हो तो बलवान् राजा भी निर्बल से सन्धि करता था।

यदि राज्य और प्रकृति की रक्षा के लिए कुछ भूमि दे कर शत्रु को सन्तुष्ट करना सभव हो तो उचित समझा जाता था। इसे आदिष्ट सन्धि कहते थे। दी हुई भूमि मे गुप्तचर छोड दिये जाते थे जो तोड-फोड करते रहते थे एव अनुकूल समय पर उसे वापिस ले लिया जाता था।

राजधानी और दुर्ग तथा उस भूमि को छोड कर जहाँ कर का सग्रह न किया गया हो और जो दीघकाल तक अपने किसी विशेष उपयोग मे न आनेवाली हो, ऐसी भूमि दे कर प्रबल शत्रु से जो सन्धि की जाती थी उसे "उच्छिन्न

सन्धि" कहते थे। भूमि मे उत्पन्न हुए पदार्थों को दे कर जो भूमि छुडा ली जाती थी उसे "अवक्रय सन्धि" कहते थे। परन्तु जिस सन्धि मे उत्पन्न पदार्थों के अलावा कुछ और वस्तुएँ भी दी जाएँ उसे "परदूषण सन्धि" कहते थे।

ये सन्धियाँ प्राय इस आशा के साथ की जाती थी कि कालान्तर मे और अनुकूल परिस्थितियाँ आने पर उन्हें शत्रु के हाथ से मुक्त करा लिया जाएगा।

निम्नलिखित परिस्थितियो मे राजनीतिज्ञ राजविग्रह करके आसन ग्रहण करते थे—यदि विजिगीषु की आर्थिक स्थिति सुदृढ हो और शत्रु की निर्बल हो और यह समावना हो कि आर्थिक सकट से पीडित उसके अमात्य आदि प्रजाजन विजिगीषु का ही पक्ष लेंगे, यदि विजिगीषु की आर्थिक स्थिति निर्बल होने पर भी अमात्य आदि प्रजाजनो के टूटने की सभवना न हो, यदि दूसरे देशो से आने वाले माल की, जो शत्रु देश मे जा रहा हो, विजिगीषु के देश मे आने की समावना हो, उस विदेशी माल का आयात रोक सकने की समावना हो जिसने उसके देश के माल का मूल्य गिरा रखा है, व्यापारी मार्ग, जो आज दूसरे को लाभ पहुँचा रहे हैं, कल उसे पहुँचाने लगेंगे, अथवा शत्रु राजा अपने विद्रोहियो एव जगल निवासियो का दमन नही कर सकेगा, यह भी समवना हो कि वह विद्रोह दबाने मे ही उलझ कर रह जाए, शत्रु के निर्बाध रूप मे दूसरे पर आक्रमण करने से उसके विजयी होने की समावना हो जिससे उसकी शक्ति बढ जाने का भय हो, अथवा विजिगीषु की उपेक्षा करके यह जिस देश पर हमला कर रहा है वहाँ थोडी सी हानि उठा कर बहुत लाभ उठा लेगा—ऐसी समावना हो, और यदि यह डर हो कि लूट का यह सामान पा कर वह तुरन्त विजिगीषु पर चढ बैठेगा, आदि।

(सम्पन्ना मे वार्त्ता विपन्ना परस्य तस्य प्रकृतयो दुर्भिक्षोपहता मामेष्यन्ति। विपन्ना मे वार्त्ता सम्पन्ना परस्य। मे प्रकृतयो न गमिथन्ति विगृह्य चास्य धान्य-पशु हिरण्यान्याहरिष्यन्ति। स्वपण्योपघातीनि वा परपण्यानि निवर्त्तयिष्यामि। परवणिक्पथाद्वा सारवन्ति मामेष्यन्ति विगृहीते नेतरम्। दूष्यामित्राटवी निग्रहं वा विगृहीतो न करिष्यति ....)

निम्नलिखित परिस्थितियो मे विजिगीषु राजा शत्रु के विरुद्ध यान (अभि-यान-आक्रमण) करते थे। यदि शत्रु और यातव्य (जिस पर शत्रु आक्रमण करना चाहता है) समान विपत्ति मे हो, शत्रु के वश मे कर लेने पर यातव्य विजिगीषु का सहायक हो सकता था परन्तु शत्रु कभी नही, यदि गहरे सकट मे फँसा यातव्य हो और अल्प सकट मे शत्रु हो—तब भी शत्रु पर ही आक्रमण होने पर शत्रु का अल्पसकट भी गहरा हो जाता है। आक्रमण न करने पर शत्रु अपना लघु सकट दूर भी कर सकता है। यदि तीन परिस्थितियाँ एक साथ आती थी (१) यातव्य जिस पर सकट गहरा है परन्तु न्यायपूर्वक प्रजा का पालन करता है, (२) लघु व्यसन यातव्य परन्तु अन्यायपूर्वक प्रजा का पीडन करने वाला (३) जिस पर अमात्य आदि प्रकृतियाँ कुपित हो, इन तीनो मे तीसरे पर ही पहले आक्रमण किया जाता था, यद्यपि पहले पर गहरा सकट होता था और दूसरे पर भी सकट था। जिस पर गहरा सकट है परन्तु न्यायपूर्वक राज्य करता हे उसके लिए अमात्य-जनपद आदि प्रकृतियाँ बलि चढ जाती है। जिस पर थोडा सकट है परन्तु अन्याय करता है, उसकी उपेक्षा कर देती है। यदि अमात्य आदि प्रकृतियाँ कुपित होती हैं तो बलवान् से बलवान् राजा का उच्छेद कर देती है।

अन्यायवृत्ति बलवान् तथा न्याय वृत्ति निर्बल राजाओ मे से पहले पर ही आक्रमण किया जाता था। इसलिए कि समय पाते ही उसके विरोध मे पूरी प्रजा उठ खडी होती है।

यही कारण है कि राजा लोग अमात्य जनपद आदि प्रकृतियो को कुपित नही होने देते थे। यदि असन्तोष पैदा भी हो जाता था तो शीघ्र ही उसका कारण दूर करने का प्रयत्न करते थे।

आक्रमणो के सम्बन्ध मे एक विचित्र प्रथा और भी थी। दो आक्रमणकारी आपस मे सन्धि करते थे। विजिगीषु दूसरे आक्रमणकारी मित्र से कहता था—आप इधर हमला कीजिए और मै उधर करूँगा। जो मिलेगा समान बँटवारा कर लेगे। यदि लाभ समान मिलता था तो सन्धि निभाई जाती थी। यदि समान नही मिलता था तो दोनो फिर आपस मे लडते थे। वे भिन्न-भिन्न देशो पर भी

मिल कर आक्रमण करते थे। "तुम इस देश पर चढाई करो और उस देश पर मै चढाई करूँगा।" वे आक्रमण के लिए समय विभाजन भी करते थे—"तुम इतनी देर तक हमला करो और मैं इतनी देर तक करूँगा।" इस लूट-खसोट का बाकायदा नाम रख रखा था जिसे 'परिपणित सन्धि' 'अपरिपणित सन्धि' 'परिपणित देश सन्धि' और "परिपणित काल सन्धि" के नाम से पुकारा जाता था।

इस प्रकार की सन्धियाँ करते समय ये आक्रमणकारी आमतौर पर अपने-अपने हित मे घात लगाते थे। सुगम और बहुमूल्य पदार्थों वाले मार्गों तथा सुहावनी ऋतुओ मे स्वय आक्रमण करते थे एव दुर्गम तथा नि सार पदार्थों वाले मार्गों एव रोग फैलाने वाली ऋतुओ मे अपने साझीदारो को आक्रमण पर भेजते थे।

सामन्तो को सामन्तो से लडा कर और यातव्य मित्र के समग्र पक्ष को नष्ट करके दूसरे की भूमि का अपहरण कर लेना एव उसके समस्त पक्ष का उन्मूलन कर देना, कौटल्य कालीन भारत की सर्वश्रेष्ठ राजनीति एव योग्यता थी।

सामन्तेनैव सामन्त विद्वानायोज्य विग्रहे।
ततोऽन्यस्य हरेद्भूमि छित्वा पक्ष समन्तत ॥

ये सन्धियाँ नित्य की जाती थी और नित्य तोडी जाती थी। सन्धि करना और तोडना भी राजनीतिक दक्षता एव पाण्डित्य का प्रतीक माना जाता था। यहाँ तक कि सन्धि तोडना, जो कि स्वय सन्धि का खण्डन कर्म है, भी सन्धियो मे सम्मिलित किया जाने लगा था। सन्धि के चार धर्म समझे जाते थे—अकृत-चिकीर्षा, कृतश्लेषण, कृतविदूषण और अवशीर्ण क्रिया।

अकृतचिकीर्षा सन्धि वह थी जो दो राजाओ के मध्य सबसे पहली होती थी और जिसे शक्ति एव साधनो के अनुसार निभाया जाता था। दूसरी सन्धि वह थी जिसे बीच-बीच मे मिल कर सशोधित एव परिवर्धित किया जाता था एव दोनो पक्षो की ओर से अपने-अपने हित मे, जिसे निभाते रहने का प्रयत्न किया जाता था। कृतविदूषण सन्धि वह थी जिसमे एक राजा दूसरे पर यह आरोप लगाता था कि उसने उसके राजद्रोहियो से मेल कर लिया है और इस-लिए सन्धि चालू रखना अर्थहीन हो गया है। (परस्यापसपेक्षा दूष्यातिसधानेन

स्थापयित्वा व्यतिक्रम कृतविदूषणम्) किसी भृत्य अथवा मित्र के दोष से सन्धि के टूट फिर से जोड सन्धि जोडना अवशीर्ण क्रिया कहलाती थी।

जब दो राजा मिल कर कही आक्रमण करते थे और उन्हे मित्र, हिरण्य एव भूमि का लाभ होता था तो वह मित्र राजा लाभ मे माना जाता था जिसे पहले की अपेक्षा दूसरा और उसकी अपेक्षा तीसरा लाभ होता था। भूमि से हिरण्य एव मित्र दोनो मिल जाते है तथा हिरण्य से मित्रलाभ हो जाता है। वे सन्धि करके आपस मे घोषणा करते थे—"आओ, हम और आप दोनो मिल कर नये मित्र का लाभ प्राप्त करें।" यह समसन्धि मानी जाती थी। "आओ, तुम मित्र का और मै हिरण्य का लाभ प्राप्त करूँ" और या कि "मै भूमि का लाभ प्राप्त करूँ और तुम हिरण्य का लाभ पाओ", यह विषम सन्धि मानी जाती थी। जिसमे अधिक लाभ होता था वह 'अतिसन्धि' थी।

"तुम और हम दोनो मिल कर नयी भूमि प्राप्त करें" ऐसी सन्धि करके जब दो आक्रमणकारी दूसरे देश पर चढाई करते थे, तो वह 'भूमि सन्धि' कहलाती थी। भूमि का समान लाभ होने पर भी वही विशेष लाभ मे माना जाता था जिसे बलवान् शत्रु की भूमि मिलती थी। इससे भूमि की प्राप्ति एव बलवान् शत्रु का विनाश दोनो लाभ मिलते थे।

'तुम और हम दोनो मिल कर नया उपनिवेश बसावें" इस प्रकार की सन्धि करके जब राजा नये उपनिवेश बसाते थे उसे अनवसित सन्धि कहते थे। इसमे वही विशेष लाभ मे रहता था जो अधिक उपजाऊ और सम्पन्न भूमि मे उपनिवेश बसाता था। इसमे भी स्थल तथा उदक (जल वाली) भूमि मे से दूसरी अच्छी है, जहाँ वर्षा की पराधीनता नहीं रहती और कुछ न कुछ पैदा हो ही जाता है।

स्थल भूमि मे भी वह थोडी भूमि अच्छी समझी जाती थी जो समतल हो और जिसमे दो फसलें हो सकती हो, अपेक्षाकृत ऊबड-खाबड भूमि के जो अधिक तो हो परन्तु जहाँ पानी न रुकता हो। औदक भूमियो मे भी वही अच्छी समझी जाती थी जहाँ गेहूँ और धान्य पैदा होते हो। इस भूमि मे भी कम या अधिक भूमि पर विचार करने पर धान्य पैदा करने वाली अल्प भूमि के मुकाबिले अधल्प-

वती अधिक भूमि अच्छी समझी जाती थी। उसमे कहीं न कही तो कुछ पैदा हो ही जाता है और फिर राज्य के लिए दुर्ग एव सेतुबन्ध आदि के निमित्त अधिक भूमि की आवश्यकता रहती है। भूमि के गुण तो घटाये-बढ़ाये जा सकते हैं। (**कृत्रिमाहि भूमि गुणा**)

खानो तथा धान्य देने वाली भूमियो मे कौटल्य दूसरी को अधिक लाभदायक मानते है। इसलिए कि दुर्ग एव सेतुबन्ध आदि का निर्माण कार्य केवल धान्य से ही हो सकता है। (**धान्यमूलो हि दुर्गादीनां कर्मणामारम्भ**,

यदि व्यापार के लिए अनित्य वारिपथ एव स्थल पथ मिलता हो तो वारिपथ अच्छा समझा जाता था और दोनो ही नित्य हो तो स्थल पथ श्रेष्ठ समझा जाता था।

(**वारिस्थलपथ भोगयोरनित्यो वारिपथ भोगो नित्य स्थल पथ भोग इति**)

ऐसी भूमि जिसमे रहने वालो मे एकता हो और दूसरी ऐसी जिसके निवासियो मे फूट हो, इनमे दूसरी अच्छी समझी जाती थी। इसलिए कि राज्य उस पर सरलता से नियत्रण कर सकता है।

"तुम और मैं दोनों मिल कर दुर्ग का निर्माण करे" इसे कर्मसन्धि कहते थे। इसमे वही राजा लाभ मे रहता था जो थोडे व्यय से दुर्गम मार्ग पर दुर्गों का निर्माण करवाता था। इसमे भी स्थल, नदी और पर्वत दुर्गों मे पहले से अगला श्रेष्ठ माना जाता था। सेतुबन्ध से बने दुर्गों मे भी वही अच्छा माना जाता था जिसमे स्वाभाविक रूप मे नित्य जल भरा रहता था। स्वाभाविक जल वाले दुर्ग मे वह अच्छा था जहाँ कृषियोग्य भूमि भी हो।

द्रव्य वनो मे भी वही राजा प्रदेशो को आबाद करके लाभ मे रहता था जहाँ मूल्यवान् और विशेष रूप से भवन निर्माण आदि के योग्य लकड़ियाँ पैदा होती थी। नदियो के तट की भूमि दैवाधीन नही होती जहाँ अकाल मे भी कुछ उत्पन्न हो सकता है। व्यापार के लिए वारिपथ और स्थलपथो मे वारिपथ ही श्रेष्ठ माना जाता था। वहाँ थोडे खर्च एव परिश्रम से अधिक माल इधर-उधर भेजा जा सकता है। परन्तु स्वय कौटल्य ने प्राचीन आचार्यों के इस मत का

खण्डन किया है। इसलिए कि जल का मार्ग कभी न कभी रुक सकता है, वह सदा एक समान नही रहता, उसमे खतरे बहुत रहते हैं, आपत्तियो का प्रतीकार करना कठिन होता है जब कि स्थल पथ मे ये सब असुविधाए नही होती। जल मार्गों मे भी कूलपथ (तट मार्ग) और सयानपथ (गहरे या समुद्र के बीच का मार्ग) मे कूलमार्ग अच्छा समझा जाता था जिसमे माल की अदला-बदली होती रहती थी और तटीय बन्दरगाहो पर साथ ही विक्री भी समव थी।

(वारिपथ तु कूल सपान पथयो कूलपथ पण्य पट्टण बाहुल्याछ्रेयान् नदी-पथो वा सातत्याद्विषह्याबाधत्वाच्च)

स्थल पथो मे कुछ आचार्य दक्षिणापथ से उत्तरापथ को अच्छा मानते थे जहाँ हस्ती, अश्व गन्ध, दाँत, चर्म, चाँदी और सुवर्ण आदि पण्य बहुतायत से मिलते है। परन्तु कौटल्य दक्षिणापथ को अच्छा बताते थे जहाँ शख, हीरा, मणि और मोती तथा सुवर्ण बडी मात्रा मे मिलते थे।

व्यापारी मार्गों मे पैदल मार्ग वाले पथो की अपेक्षा गाडी वाला पथ अच्छा समझा जाता था। देश काल के अनुसार गधे और ऊँट का मार्ग भी ठीक समझा जाता था।

यदि बहुत से राजा मिल कर विजिगीषु पर आक्रमण कर देते थे तो यह राजनीति नही समझी जाती थी कि युद्ध करके आत्मनाश किया जाए प्रत्युत् झुक कर सन्धि की जाती थी और आक्रमणकारियो की प्रत्येक अभिसन्धि (सन्धि की शर्त्त) स्वीकार करके भविष्य की योजनाएँ बनाना उचित समझा जाता था। जब परिस्थितियाँ अनुकूल हो जाती थी और सचित शक्ति के आधार पर पुराना खोया प्रभुत्व पुन प्राप्त किया जा सकता था तो किसी बहाने से ये अभिसन्धियाँ तुरन्त तोड दी जाती थी।

परन्तु यह भी होता था कि विजेता शत्रु विजित राजा को अपने यहाँ बन्दी बना कर रखें या राजकुमार को प्रतिभू (जामिन) के रूप मे बन्द करके रखे और इस प्रकार उनकी स्वतत्रता का अपहरण हो जाए। परन्तु कौटल्य कालीन भारत की राजनीति बहुत प्रौढ हो गयी थी और उसमे किसी प्रकार की भावुकता के लिए कोई स्थान नही था। विजेताओ की सभी अभिसन्धियाँ तत्काल स्वीकार

कर ली जाती थी। मान के लिए प्राण नही गँवाये जाते थे। परन्तु शत्रु दुर्ग का यह बन्धन तात्कालिक रूप मे स्वीकार भले ही कर लिया जाता हो, उसके पीछे असली उद्देश्य शीघ्रातिशीघ्र किसी भी भाँति पुन मुक्ति प्राप्त करना होता था। कौटल्य ने राजनीतिक एव सैनिक उपाय बताने के अलावा विस्तार के साथ यह भी बताया है कि किस प्रकार दुर्ग का राजनीतिक बन्दी सुरग खुदवा कर, व्यापारियो, लकडहारो, कहारो और सईस आदि के वेश मे वहाँ से निकल कर भाग सकता था।

इसी प्रसग मे दो शब्द युद्धो के सम्बन्ध मे लिखने उचित होगे। सिद्धान्त रूप मे युद्ध प्राय तीन प्रकार के होते थे—प्रकाशयुद्ध, कूटयुद्ध और तुष्णी युद्ध।

प्रकाश युद्ध वह कहलाता था जिसकी पहले से घोषणा हो जाती थी एव जो पहले से घोषित समय एव स्थान पर होता था। एक स्थान पर हमला दिखा कर दूसरे स्थान पर प्रबल आघात करना एव पहले से किसी स्थान और समय की घोषणा किये बिना शत्रु पर बार-बार छापे मारना कूटयुद्ध कहलाता था और तुष्णीयुद्ध मे शस्त्रो का प्रयोग नही होता था। कही शत्रु सैनिको और सहायको को विष दे देना, गुमराह कर देना, आग लगा देना, दलदल मे फँसा देना और सामने आये बिना उसके हौसले पस्त कर देना।

प्रकाश युद्ध निर्दिष्टो देशे काले च विक्रम ।
विभीषण भवस्कन्द' प्रमादव्यसनार्दवम् ॥
एकत्र त्यागघातौ च कूट युद्धस्य लक्षणम् ।
योग गूढोपजापार्थं तुष्णीं युद्धस्य लक्षणम् ॥

इन युद्धो मे कौटल्य कालीन भारत जिन शस्त्रास्त्रो का प्रयोग करता था वे मुख्यत निम्नलिखित थे—

स्थितयत्र—एक स्थान पर रखे रहते थे या उन्हें धकेल कर एक से दूसरे स्थान पर ले जाया जाता था और उन्हे कई व्यक्ति मिल कर काम मे लाते थे। स्थित यत्र ये थे—

सर्वतोभद्र—जिसमे बहुत से छेद होते थे और जिनसे चारो ओर लोहे या पत्थर के गोले फेंके जा सकते थे।

आमदन्य—जिसके एक ही छेद से लोहे या पत्थर के बड़े-बड़े गोले फेंके जाते थे।

बहुमुख—किले की ऊँची दीवार पर बनी सुरक्षित गुमटी जहाँ से अनेक धनुर्धर बाहर बाणवृष्टि कर सकते थे।

विश्वासघाती—एक विशाल काष्ठ स्तूप जो छूते ही गिरने और उठने लगता था एव अपनी पहुँच मे आये व्यक्तियो पर प्रहार करता था।

सघाटी—जिसमे से शत्रुओ पर आग बरसायी जा सकती थी।

यानक—रथ जैसे पहियो पर चलाया जाने वाला घातक यत्र।

पर्जन्यक—अग्नि शान्त करने के लिए पानी की बौछार करने वाला यन्त्र।

बाहुयन्त्र—पर्जन्यक का आधे आकार का छोटा यन्त्र।

ऊर्ध्वबाहु—आकाश मे उठा हुआ और आधा लटका हुआ भारी लट्ठा।

अर्द्धबाहु—ऊर्ध्वबाहु से आधे आकार का और वही काम करने वाला यन्त्र।

चलयन्त्र—जिन्हे इधर-उधर ले जाया जा सकता था। वे निम्न थे—

पचालिक—परकोटे के जल मे गडा बाँस का खम्भा जो शत्रुओ का प्रवेश रोकता था।

देवदण्ड—कील रहित भारी खम्भा जो किले के परकोटे पर रखा रहता था।

सूकरिका—सूत और चमडे की बनी हुई मसकसी जो बाहरी बाणो का प्रवेश रोकती थी।

मुसलयष्टि—खैर का बना हुआ मूसल।

हस्तिवारक—दो या तीन शूलो वाला डण्डा।

तालवृन्त—ताड के पत्तो के समान चमडे का बना ढाल का काम करने वाला आवरण।

मुद्‍गर—लकडी का नीचे से मोटा और भारी तथा ऊपर से पतला और हल्का।

गदा, स्पृक्तता—एक प्रकार की गदा जिसमे कगूरे या काँटे हो। **कुद्दाल** कुदाली या कस्सी। **आस्फोटिम**—चमडे का बना हथियार जिसमे रख कर पत्थर या मिट्टी के ढेले फेंके जाते थे। **उद्‍घाटिम**—मुग्दर के समान यन्त्र।

उत्पाटिम—खम्भे आदि उखाड फेंकने वाला यन्त्र। **शतघ्नी**—मोटी और लम्बी कीलो से युक्त बहुत बडा खम्भा जो अचानक गिरता और उठता था। **त्रिशूल** और **चक्र**।

हलमुख—शक्ति—सम्पूर्ण लोहे का बना हुआ तीक्ष्ण शस्त्र जिसे फेक कर मारा जाता था। **प्रास**—सम्पूर्ण लोहे का परन्तु लकडी की मूठ वाला छुरा। **कुन्त**—एक प्रकार का छुरा। **हाटक**—कुन्त के समान हथियार जिसमे तीन काँटे लगे रहते थे। **भिण्डिपाल**—मोटे और बडे शूलो वाला कुन्त। **शूल**। **तोमर**—गण्डासा। **वराहकर्ण**—एक प्रकार का प्रास। **कणय**—लम्बी मूंठ का छुरा। **कर्पण**, फेक कर मारा जाने वाला गँडासा। **त्रासिका**—सम्पूर्ण लोहे की छोटी छुरी।

धनुष—जिन पर रख कर बाण चलाये जाते थे, ये थे—

ताल—ताड का बना हुआ। **चाप**—एक प्रकार के बाँस का बना हुआ।

दारव—किसी लचकीली और मजबूत लकडी का बना हुआ।

शाङ्गर्ग—सीगो का बना हुआ।

ज्या—धनुष की डोरी इनसे बनती थी—

मूर्वा, अर्क (आखा) शण (सन) गवेधुका (गोधू) वेणु (बाँस जो रेशेदार होता है) और स्नायु (आँत)

इषु—बाण निम्नलिखित वस्तुओ से बनाये जाते थे—**वेणु** (हल्का बाँस) **शर** (सरकण्डा) **शलाका** (किसी हल्की लकडी की छड) **दण्डासन**—(आधा लोहा और आधा बाँस) **नाराच**—सम्पूर्ण लोहे का। इन बाणो के मुख, जिनका उद्देश्य काटना, भेदना और चोट करना था, लोहे, हड्डी तथा मजबूत लकड़ी से बनाये जाते थे।

खड्ग—तलवार तीन प्रकार की होती थी—निस्त्रिंश (टेढी) **मण्डलाग्र**—(अगला भाग गोलाकार) और **असियष्टि**—पतली और लम्बी।

त्सरु—तलवार की मूंठ निम्नलिखित वस्तुओ की बनती थी—**ढंग** (रौंडा) महिष (भैसा) के सीग, हाथी के दाँत (वारण विषाण) दारु और बाँस की जड।

क्षुरकल्प—तेज धार के हथियार निम्नलिखित थे—

परशु (फरसा) कुठार (कुल्हाडा) पट्टस (दोनो किनारो पर त्रिशूल वाला दण्डा, **खनित्र** (खनकी) **कुद्दाल**—कुदाली । **क्रकच**—आरा। **काण्डच्छेदन**—गडासी। इसके अलावा निम्नलिखित प्रक्षेपणास्त्र थे—

यन्त्र पाषाण—छोटे-छोटे पत्थर जिससे फेके जाते थे। **गोष्पण पाषाण**—गोफिया। **मुष्टि पाषाण**—हाथ से फेके पत्थर। **रोचनी**—चक्की का पाट। **दृषद**—पाषाण शिलाये।

निम्नलिखित वर्म—कवच आदि थे—

लोह जाल—सिर ढकने वाला लोहे का टोप। **लोहजालिका**—सिर के अलावा शरीर ढकने वाला लोहे का कपडा। **लोह पटट**—बाहो के अलावा शरीर ढकने वाला लोहा। **लोह कवच**—केवल पीठ और सीना ढकने वाला लोहा। **सूत्रकंकण**—कपास और सूत का बना कवच। **शिशुमारक**—उद्‌बिलाव के चमडे का बना आवरण। खड्गी (गेंडा) **धेनुक** (नीलगाय) हाथी और बैल का चमडा एव खुर तथा सीगो से बने आवरण।

इनके अलावा और भी रक्षा कवच होते थे—

शिरस्त्राण—केवल सिर की रक्षा करने वाला, **कण्ठत्राण**—केवल गले का रक्षक, **कूर्पास**—आधी बाहो का रक्षक, कचुक (घुटनो तक शरीर का आवरण) आदि।

सेना चार प्रकार की होती थी—पैदल, हाथी, रथ और अश्व आरोही। कौटल्य ने अपने शास्त्र मे हस्ति सेना पर विशेष बल दिया है।

युद्ध और युद्ध भूमि

कौटल्य कालीन भारत मे व्याप्त राजतत्र का मुख्य उद्योग युद्ध था और सारी अर्थव्यवस्था युद्ध की धुरी पर टिकी हुई थी। कभी राजा स्वय दूसरो पर आक्रमण करता था और कभी दूसरे उस पर चढाई करते थे। अन्तहीन युद्धो की शृखला मे बधा राजतत्र अहोरात्र युद्धो की चिन्ता मे डूबा रहता था और ऐसे युग की कल्पना तक नही कर सकता था जब समाज मे युद्धो की अनिवार्यता विवाद का विषय बन सकती हो। उस समय के वद्धकी (दस्तकारो), भवन

निर्माण कला प्रवीण और मुहूर्त्त साधने वालो का मुख्य कार्य यही था कि वे किस प्रकार अच्छे स्कन्धवारो (छावनियो) एव दुर्गों का निर्माण करावे जहाँ चिरकाल तक ठहरकर राजा आत्मरक्षा के लिए घेराबन्दी से सुरक्षित रह सके अथवा जहाँ से वह शत्रु पर प्रबल वेग से आक्रमण कर सके। इन स्कन्धावारो और दुर्गों को इस प्रकार से बनाया जाता था कि इनमे जीवनोपयोगी सभी सामग्रियो का समुचित प्रबन्ध होता था, उनके बँटवारे के लिए नियमित बाजार (हाटक) लगते थे और विभिन्न दिशाओ मे सैनिको, राजा, पुरोहित, अमात्य, विष्टि (बेगारी मजदूर) और शूद्रो तथा राजमाता—रानियो एव राजपुत्रो के ठहरने की व्यवस्था होती थी। इनके चारो ओर खाई बना कर जल भर दिया जाता था एव सकटकाल मे निकल भागने के लिए सुरगो का प्रबन्ध रहता था। स्कन्धावारो मे राजा की स्वीकृति के बिना मदिरा पीना और आपसी कलह करना वर्जित होता था एव पूरा सैनिक अनुशासन कायम रखा जाता था। अभियान करने से पहले मार्ग मे विभिन्न ग्रामो तथा जलाशयो के सन्निकट अरण्यो मे सुविधाओ से पूर्ण आवासो की व्यवस्था कर दी जाती थी। रसद का सामान सवारियो से ले जाया जाता था, कुछ सैनिको की पीठ पर ढोया जाता था और शेष का प्रबन्ध मार्ग मे आनेवाली बस्तियो से किया जाता था।

प्रयाण के समय सबसे पहले नायक (पदाति सेना की टुकडियो के छोटे-छोटे सेनापति) चलते थे। बीच मे अन्त पुर (रनवास) और राजा। दोनो बाजुओ पर घुडसवार और अन्त मे हस्ति सेना तथा रसद विभाग चलता था। रसद विभाग को प्रसार विभाग कहते थे, अपने ही देश की जनता से मिली सामग्री 'विविध' कहलाती थी एव मित्र सेना का नाम 'आसार' था। अन्त पुर को समरो के समय 'अपसार' कहते थे। इसलिए उन्हे इधर-उधर करने मे विशेष असुविधाएँ होती थी। सबसे पीछे सेनापति अपनी-अपनी सेनाओ के साथ चलते थे।

सामने से शत्रु का आक्रमण होने पर मकराकार व्यूह की रचना की जाती थी और पीछे की ओर से शकटव्यूह, बाजुओ का हमला होने पर वज्रव्यूह तथा चारो ओर से शत्रु के टूट पडने पर सर्वतोभद्र व्यूह की रचना करके युद्ध किया जाता था। इन व्यूहो की रचना के सम्बन्ध मे आगे इसी अध्याय मे बताया

गया है। प्रयाण के समय सेना कम से कम एक योजन और अधिक से अधिक दो योजन (आठ कोस, चलती थी।

प्रयाण के समय सेना के लिए निम्नलिखित कठिनाइयो पर विशेष ध्यान रखा जाता था और राजा का व्यक्तिगत कर्त्तव्य समझा जाता था कि ऐसे अवसरो पर वह सेना को प्रोत्साहन देता रहे—

बियाबान जगलो से गुजरते समय, जहाँ पानी न मिलता हो, जहाँ घास-इंधन और पशुओ को पिलाने का पानी न मिले, दुर्गम मार्ग हो, जिसने चिरकाल तक शत्रु का प्रतिरोध किया हो, भूख-प्यास और लम्बे मार्गो पर चलने से खिन्न, गहरे दलदलो तथा जलो मे एव नदी-दर्रो तथा पर्वतो पर चढने-उतरने से बेचैन, जिसे ऐसे मार्गो से गुजरना पडे जहाँ केवल एक व्यक्ति चल सकता हो, पथरीले-पहाडी तथा विषम स्थानो पर रुकी हुई जो पडाव एव यात्रा के समय हथियारो से रहित हो, भोजन कर रही हो, लम्बे सफर से थकी, सोती हुई, ज्वर ग्रस्त हो, सक्रामक रोगो, महामारियो तथा दुर्भिक्ष से पीडित हो, जिसके हाथी और घोडे बीमार हो गये हो, अपने युद्ध के प्रतिकूल भूमि मे आ पडी हो और युद्ध के समय ऐसी ही अनेक आकस्मिक आपत्तियो से व्याकुल हो। राजा के लिए यह अनिवार्य समझा जाता था कि ऐसे अवसरो पर अपनी सेना के साथ विशेष उपकार करे और यदि शत्रु की सेना ऐसे ही सकट मे आ फँसी हो तो निदय हो कर हमला बोल दे।

प्रकाश युद्ध सदा ही अपने अनुकूल भूमि मे और अपनी ही योजनाओ के अनुसार किया जाता था। परन्तु यदि इसमे सफलता नही मिलती थी तो राजा लोग प्रतिकूल भूमि एव परिस्थियो मे कभी घोषित युद्ध नही करते थे। तब वे केवल कूट युद्ध का सहारा लेते थे।

प्रकाश युद्ध मे तब तक शत्रु की पराजय नही मानी जाती थी जब तक उसकी सेना पूरी तरह नष्ट न हो जाए या आत्मसमर्पण न कर दे। सामने के आक्रमण से छिन्न-भिन्न सेना को पीछे के आक्रमण से नष्ट किया जाता था और यदि वह पीछे के आक्रमण से छिन्न-भिन्न होती थी तो सामने का आक्रमण तेज करके रौदा जाता था। अपने बाजुओ के हमले से यदि उसमे भगदड मचती थी

तो चारो ओर से हमला करके उसका सफाया किया जाता था। रात के समय शत्रु स्कन्धावारो के आसपास छेडछाड करके उन्हे रात भर जगाया जाता था और दिन मे आक्रमण करके उनकी शारीरिक शिथिलता का लाभ उठाना बुद्धि-मानी समझी जाती था।

यदि निम्नलिखित परिस्थितियाँ सामने होती थी तो राजा प्रकाशयुद्ध का नही प्रत्युत् कूटयुद्ध का सहारा लेते थे—

धान्वन (मरुस्थल) हो, बन हो जिसमे छिपा जा सके, सकट (घने और नोकीले काँटो से युक्त झाडियाँ) हो, पक (दलदल एव कीचड) हो, शैल (टिब्बे) हो, निम्न (गहरे प्रदेश) हो, विषम (ऊँचा-नीचा भूभाग) हो, नीहार (कुहरा) छाया हो और काली राते हो।

कूट युद्ध की विशेषता यह समझी जाती थी कि इससे स्वकीय पक्ष की शक्ति ज्यो की त्यो बनी रहती हे तथा परपक्ष की शक्ति क्षीण होती रहती है।

आक्रमण करने से पहले राजा पूरी सेना इकट्ठी करके उसे सम्बोधित करते थे—"इस राज्य से आप भी वेतन लेते है और मैं भी। मैं ही इसका मालिक नही हूँ। आप के साथ मिल कर ही मुझे इस राज्य से लाभ उठाना है। जो मेरा शत्रु है वही आप का भी है। उसे मार डालिए।"

यज्ञो के अवसरो पर वेदो मे यह उक्ति भी दोहराई जाती है—"आपकी वही गति हो जो वीरो की होती है।" ये दो श्लोक भी हैं—

"विद्वान् ब्राह्मण बहुत से यज्ञ तप एव दान करके जिन पद को प्राप्त करते है उससे भी उन्नत पदो को वीर पुरुष युद्ध मे प्राणो का परित्याग करके क्षण भर मे पा लेते है।"

"उस अभागे व्यक्ति को सलिल से पूर्ण नया शकोरा जिस पर दर्भ ढकी हो और जो सुसस्कृत हो, उसे न मिले और वह नरक मे जाए जो अपने मालिक के लिए युद्ध मे प्राण नही त्यागता और नमकहलाली नही करता।"

(सहत्य दण्ड ब्रूयात्। तुल्यवेतनोऽस्मि। भवद्भि सह भोग्यमिद राज्यम्। मयाऽभिहित परोऽभिहन्तव्यइति। वेदेष्वप्यनुश्रूयते समाप्त दक्षिणाना यज्ञानाम-वभृथेषु—"सा ते गतिर्या शूराणाम्।" अपीह श्लोकौ भवत "यान्यज्ञसघैस्तपसा

च विप्राः स्वर्गैषिण पात्रचयैश्च यान्ति । क्षणेन तानप्यतियान्ति शूरा प्राणान्सुयुद्धेषु परित्यजन्त ।।" "नव शराव सलिलस्य पूर्ण सुसस्कृत दर्भकृतोत्तरीयम् । तत्तस्य मा भून्नरक स गच्छेद्यो भर्तृपिण्डस्य कृते न युध्येत्")

राजा के उपरान्त मत्री और पुरोहित सैनिको मे प्रोत्साहन भरते थे।

बहुत नियोजित ढग मे ज्योतिषी, भविष्यवक्ता और डकौत आदि घूम-घूम कर राजा की विजय के सम्बन्ध मे और शत्रु की पराजय के बारे मे भविष्यवाणी करते थे। सेना मे सूत, मागध और कथावाचक एव कवि लोग शूरो के स्वर्ग जाने की एव कायरो के नरक मे पडने की कहानियाँ सुनाते थे। सैनिको की जाति, सघ, कुल और कामो की प्रमशा मे साक्के गाये जाते थे। पुरोहित शत्रु के नष्ट करने के लिए घाल घालते थे एव अनुष्ठान करते थे। सत्री गुप्तचर, बढई और मौहूर्त्तिक लोग अपने-अपने कार्यो की पूर्त्ति के सन्देश देते थे। यह भी बताते कि शत्रु की तैयारियो मे अभी कितनी कमी है।

अन्त मे सेनापति एकत्रित सैनिको का सम्बोधित करता था—"राजा के हत्या करने वाले को एक लाख पण (स्वर्ण मुद्रा) दी जाएगी। सेनापति एव राजकुमार के हत्यारे को ५० हजार, शत्रु के विशिष्ट योद्धाओ के हत्यारे को दस हजार, हाथी और रथ के हत्यारे को ५ हजार, घोडे और घुडसवार के हत्यारे को एक हजार, नायक के हत्यारे को सौ और साधारण सिपाही का सिर काटने वाले को प्रति सिर बीस पण पुरस्कार दिया जाएगा। जोश के साथ काम करने पर वेतन और भत्ता दुगना कर दिया जाएगा। और शत्रु देश के राज्य की लूट मे जो माल किसी सिपाही को मिलेगा, वह उसी का समझा जाएगा।"

("सेनापतिरर्थमानाभ्यामभिसस्कृतमनीकमाभाषेत्—शतसाहस्रो राजवध । पचाशत्साहस्र सेनापतिकुमारवध । दशसाहस्र प्रवीर मुख्यवध । पचसाहस्रो हस्तिरथवध । साहस्रोऽश्ववध । शत्य पत्ति मुख्यवध । शिरो विशतिकम्। भोगद्वैगुण्य स्वय ग्राहश्चेति।)"

युद्ध के समय पैदल, घुडसवार, रथी एव हस्ति सैनिको तथा धनुर्धारियो के लिए कितने व्यवधान पर कौन खडा हो, किसके सहयोग के लिए कौन सहायक युद्ध करे तथा कौन मुख्य युद्ध करे एव कौन-सी टुकडी आगे बढे तथा

कौन सी बाजू (पार्श्व) सँभाले या पीछे की देखे—इसके बडे ही सूक्ष्म तथा विस्तृत नियम बने हुए थे जो कदाचित् दीर्घकाल तक घोर युद्ध करते-करते लोगो ने प्राप्त किये थे।

आक्रमण या धावा बोलने से पहले प्रधान सेनापति अपनी ही देखरेख मे सेनापतियो द्वारा व्यूहो की रचना करवाते थे। प्राय वही सेनापति प्रवीण माना जाता था जिसकी व्यूह रचना को शत्रु भेद नही पाता था और जो स्वय एक इकाई की भाँति शत्रु पर प्रबल प्रहार करती थी या उसे अपने घेरे मे ले लेती थी।

कौटल्य के अर्थशास्त्र से यह प्रतीत होता है कि व्यूह रचना के प्रवीण एव आदि आचार्य शुक्राचार्य तथा वृहस्पति थे और अर्वाचीन आचार्यों ने अधिकाशत उन्ही के सिद्धान्तो का अनुसरण किया है। पक्ष (सेना के दो अग्रिम भाग) उरस्य (मध्य भाग) और प्रतिग्रह (पृष्ठ भाग) ये चार अवयव ही व्यूह रचना मे आते हैं। परन्तु आचार्य वृहस्पति शुक्राचार्य के इन चार अवयवो मे दो और जोडते थे—अर्थात् दो पक्ष (अग्रिम भाग) दो कक्ष (पृष्ठ के किनारे के छोर) एक उरस्य (मध्य भाग) और एक प्रतिग्रह (अन्तिम भाग का सामूहिक रूप) परन्तु एक बात मे ये दोनो आचार्य एक मत थे कि इनसे जो प्रकृति व्यूह बनते हैं वे चार प्रकार के होते है—दण्ड व्यह, भोग व्यूह, मण्डल व्यूह और असहत व्यूह। सेना को तिरछा खडा करना दण्ड व्यूह, विभिन्न अवयवो को घुमा-फिरा कर खडा करना भोग व्यूह, शत्रु की सेनाओ के चारो ओर सेना खडी करना मण्डल व्यह और आक्रमण करते समय चार या छ टुकडियो मे सेना बाँट कर आगे बढना असहत व्यूह कहलाता था।

उपर्युक्त अवयवो के विभिन्न जोड-तोड से निम्नलिखित व्यूहो की रचना प्रचलित थी—प्रदर, दृढक, असह्य, श्येन, चापकुक्षि प्रतिष्ठ, सुप्रतिष्ठ आदि, सजय, विजय, स्थूलकर्ण, विशाल विजय, चमूमुख, झषास्य, सूची, वलय और दुर्जय। ये सब दण्ड व्यूह के अवान्तर भेद थे।

गोमुत्रिका, शकट, मकर और पारिपतन्तक भोगव्यूह के भेद थे एव सर्वतो-

भद्र, अष्टानीक, दुर्जय मण्डल व्यूह के भेद थे। वज्र, अथवा गोधा, काकपदी और अर्द्ध-चन्द्रिका असहत व्यूह थे।

इन व्यूहो के भी बहुत से भेद थे जिनकी रचना रथ, अश्व एव हस्ती आदि की सेनाओ के विभिन्न विन्यासो से होती थी और परिस्थितियो तथा आवश्यकताओ को ध्यान मे रखते हुए इनकी रचना की जाती थी।

सेनाओ को एकत्रित करने या छिन्न-भिन्न करने, पीछे हटने, आगे बढने, चोट करने और बचाव आदि करने के लिए विभिन्न सकेत काम मे लाये जाते थे, जिनके विशेषज्ञ प्रत्येक सैनिक टुकडी मे रहते थे और उन सकेतो के अनुसार सेनाओ का सचालन करते थे। इसके अलावा प्राय तुरी (बिगुल) मे आवाज की जाती थी या विभिन्न रग की ध्वजाए काम मे लायी जाती थी।

युद्ध के अवसर पर भी प्रचार कार्य चलता रहता था। अपनी विजय के सन्देश दिये जाते थे और शत्रुसेना मे किवदन्ती फैलाई जाती थी कि—"तुम्हारे किले मे आग लग गयी, तेरा किला लुट गया, तेरी सेना और सेनापतियो ने विद्रोह कर दिया है, जगली जातियो ने विद्रोह कर दिया है, तुम्हारा जो शत्रु चुप बैठा था, वह भी मैदान मे आ गया है, और इसी प्रकार के व्याकुलता लाने वाले समाचार सुनाये जाते।"

दुर्गं दग्ध हृत वा ते कोप कुल्य समुत्थित ।
शत्रुराटविको वेति परस्योद्वेगमाचरेत् ॥

"किसी धनुर्धारी का छोडा हुआ धनुष अधिक से अधिक एक को मारता है और वह चूक भी जाता है। परन्तु बुद्धिमान व्यक्ति की बौद्धिक चोट गर्भ मे बैठे शत्रु के भी प्राण ले लेती है।"

एक हन्यान्न वा हन्यादिषु क्षिप्तो धनुष्मता।
प्राज्ञेन तु मति क्षिप्ता हन्याद् गर्भगतानपि ॥

नवविजित देश मे विजेता का व्यवहार

नव विजित राज्य के प्रति क्या व्यवहार विजेता को करना चाहिए, इसके सम्बन्ध मे कौटल्य ने विस्तारपूर्वक विचार किया है। विजय लाभ तीन प्रकार का माना जाता था—नव (जो पहली बार अपने हाथ मे आया हो) भूतपूर्व

(जो पहले अपना था, शत्रु के हाथ मे चला गया था और जिसे पुन जीता गया हो) पित्र्य (पिता के शासन काल मे अपना था और उसी समय शत्रु ने छीन लिया हो और अब जिसे प्राप्त किया गया हो)।

नया राज्य प्राप्त करके शत्रु के दोषो को अपने सद्‌गुणो तथा उदारता से ढक देना जरूरी था। अपने धर्म-कर्म का पालन करते हुए प्रजा के साथ अनुग्रह एव परिहार (करो मे छूट) तथा दान और मान से प्रजाओ कर रजन करता था। युद्ध के समय शत्रु के कर्मचारियो (कृत्यपक्ष-पचमागियो) के साथ जो वायदे किये हो उन्हें पूरा करना उचित समझा जाता था। यदि सभव होता था तो वायदो से अधिक भी किया जाता था। वायदाखिलाफी करने वाला राजा को विश्वासघाती समझा जाता था और प्रजाजन उससे घृणा करते थे। विजित देश के देवता, सामाजिक रीति-नीति, वेशभूषा और आचार-व्यवहार का वह आदर करता था और प्रोत्साहन देता था। (**समान शील वेष भाषा चरतामुपगच्छेत् देश देवत समाजोत्सव विहारेषु च भक्तिमनुवर्त्तेत**)इसमे मुख्य बात विजित देश की भाषा की रक्षा करना भी रखा गया है।

देश ग्राम जाति और मघो मे उसके गुप्तचर प्रचारक निरतर यह कहते फिरते थे कि नया राजा कितना अच्छा है। पुराना इसके मुकाबिले कितना बुरा था। वह राज्य मे अच्छा प्रशासन चलाता था और जनता मे सुरक्षा की भावना फैलाता था। उस राज्य के पुराने वीरो, विद्वानो, धार्मिक व्यक्तियो और सस्थाओ की वह मान्यता करता था और उनके साथ उपकार से पेश आता था। दीन, हीनो तथा अनाथ एव रोगियो के प्रति विशेष व्यवहार करता था।

वर्ष के चार चार महीनो के वर्ग बना कर एव प्रत्येक वर्ग मे १५ दिन तक मृत्युदण्ड निषिद्ध कर दिया जाता था। सभी पौर्णमासियो मे से चार पौर्णमासियो मे मृत्युदण्ड वर्जित हो जाता था। राजा के सिंहासनारूढ होने के दिन भी। जो समाज विरोधी कार्य करते थे उन्हे दण्ड देने के काम न्यायालयो को सौप दिया जाता था। जरायम पेशा म्लेच्छ जातियो को दूर-दूर बसा देता था और जो अधिकारी विरोधी स्वभाव के या भ्रष्टाचारी होते थे उनका दूर-दूर तबादला (स्थान विपर्यास) कर दिया जाता था।

जिस दोष के कारण पहले राज्य या उसका हिस्सा छिन गया था उसे वह कभी उभरने नही देता था। जिस गुण से विजय लाभ होता था उसे चौगुना बढाया जाता था। यदि पिता के दोषो से ऐसा होता था तो उन्हे दबा कर पिता के गुण ही उभार कर लाय जाते थे।

राजदूतो की योग्यता और नियुक्तियाँ

राजदूत राजा का मुख समझा जाता था। **(दूतमुखा हि राजान.)** उसके सही या गलत व्यवहार पर दूसरे राज्यो मे राजा की बनी हुई स्थिति बिगड जाती थी और बिगडी हुई बन जाती थी। वैदेशिक नीति मे राजदूतो की स्थिति सर्वोपरि मानी जाती थी। बडे-बडे राजाओ के पास जो राजदूत भेजे जाते थे उनकी योग्यता अमात्यो से कम नही होती थी। (अमात्यसम्पदापेत) और उसे निसृष्टार्थ के नाम से पुकारा जाता था। इसके अलावा दो प्रकार के राजदूत और माने जाते थे—परिमितार्थ और शासनहर। इनकी योग्यता भी अमात्यो से मिलती-जुलती होती थी। राजदूतो के मुख से गैर जिम्मेदारी की बाते कभी नहीं कहलाई जाती थी। जब राजा अमात्य परिषद् के साथ बैठ कर किसी विवादास्पद प्रश्न के सम्बन्ध मे अन्तिम निर्णय कर लेता था तभी राजदूत दूसरे राजाओ के सामने मुँह खोलता था।

(उदघृतमन्त्रो दूत प्रणिधि) अर्थात् दूत तभी भेजा जाता जब राज्य का निश्चित मत हो चुका हो।

किसी दूसरे देश मे राजदूत की नियुक्ति के समय उसे ठाठ-बाट के साथ भेजा जाता था और राजकीय यात्रा की भाँति उसका प्रयाण होता था। राजदूत भी स्वामी के प्रति परम कर्त्तव्यनिष्ठा के साथ जाता था और जो सन्देश उसे देना होता था उसके पूर्व-ऊपर परिणामो की पहले से कल्पना करता था। जो कहता था वह सुविचारित होता था।

दूसरे देश मे रहता हुआ राजदूत केवल राजा से ही अपना सम्पर्क नही रखता था प्रत्युत् प्रमुख शासन अधिकारियो, अरण्य रक्षको, सीमान्त पालको और जनपदो एव नगरो के पालको के साथ भी सौहार्दपूर्ण सम्पर्क कायम करता था।

(अटव्यन्तपाल पुरराष्ट्रमुख्यैश्च प्रति ससर्गं गच्छेत्)

वह भौगोलिक दृष्टि से इस बात का पता भी लगाता था कि यदि भविष्य मे इस राज्य से युद्ध होता है तो अपनी सेनाओ के लिए उपयुक्त स्थान कौन-सा होगा और शत्रु को किस प्रकार पछाडा जा सकेगा, आदि।

उस राज्य के दुर्गों की स्थिति एव सख्या, राज्य की भौगोलिक स्थिति, सैनिक तथा आर्थिक स्थिति और उसकी निर्बलताओ का भी वह पता लगाता था।

(दुर्ग राष्ट्र प्रमाण सार वृत्ति गुप्तिच्छिद्राणि चोपलभेत)

परन्तु वह राजकीय आदेशो के बिना कभी राजकीय स्थानो मे प्रवेश नही करता था। वह प्राणो का सकट उपस्थित होने पर भी अपने राजा का सन्देश कहता था एव उसके प्रति अपने कर्त्तव्यो का पालन करता था।

राजदूत इतना व्यवहारपटु एव प्रगल्भ होता था और लोगो की मनोवैज्ञानिक स्थिति भाँपने मे वह इतना प्रवीण होता था कि शीघ्र ही राजदरबार मे रह कर वह सब कुछ समझ जाता था और विरोधी राजा के मन मे क्या है तथा किस समय उसके साथ कैसा व्यवहार करना चाहिए, इसमे वह चूक नही करता था।

यदि किसी अवसर पर वह अपनी बात पर राजा को असन्तुष्ट एव क्रुद्ध भी देखता था तो कहता था—"मेरी बात पर क्रोध क्यो करते है। मै तो दूसरे की बात कहता हूँ। राजाओ के मुंह राजदूत होते है। जैसे आप के हैं वैसे ही दूसरे राजाओ के भी। **(दूतमुखा वै राजानस्त्वं चान्येच)** यदि राजा कुपित हो कर उसका वध करने का आदेश देता था तो वह निर्भीक हो कर कहता था—"यदि राजदूत के रूप मे कोई चाण्डाल भी कटु एव अप्रिय बात कहता है तो अवध्य ही रहता है। फिर मै तो ब्राह्मण हूँ। शब्द दूसरे के हैं। मै तो केवल कहने वाला हूँ।"

(उद्यतेष्वपि शस्त्रेषु यथोक्त ववतार स्तेषामन्तावसायिनोऽप्यवध्या. किमङ्ग पुनर्ब्राह्मण. । परस्यतद् वाक्यमेष दूतधर्म इति ।" अमात्यो की भाँति राजदूत भी प्राय ब्राह्मण ही रखे जाते थे। इसके अन्य कारणो के अलावा एक कारण यह भी था कि कुपित राजा दूत का कही वध न कर दे।

यदि अधिक सम्मान होता था तो वह धैर्य नही खोता था एव राजा के मुँह नही लगता था एव उसकी आज्ञाओ के बिना देश नही छोडता था। शत्रु देश मे रहता हुआ वह अपने को बलवान् नही समझता था। कटु वाक्य सुनने की उसमे क्षमता होती थी। मदिरा और स्त्रियो से वह दूर रहता था। अपने कमरे मे अकेला सोता था।

उस देश मे तापस, वैदेहक आदि के वेश मे रहनेवाले अपने गुप्तचरो से कृत्यपक्ष तथा अकृत्यपक्ष का पता लगाता था, उनसे सम्पर्क करता था और राजा से असन्तुष्ट सभी व्यक्तियो की सूची बनाने का प्रयत्न करता था ताकि युद्ध छिडने पर वे स्वामी के काम आ सके।

मन्दिर, देवालय, नदी तट, गृहचित्र तथा लेख एव सकेत आदि से अथवा जिस स्थान और व्यक्ति से भी उस राज्य के कार्यकलापो के सम्बन्ध मे कुछ ज्ञान हो सकता था, वह प्राप्त करने का प्रयत्न करता था। राजा के बार-बार पूछने पर भी वह अपने स्वामी की सेना, शक्ति एव आर्थिक स्थिति के सम्बन्ध मे कुछ नही बताता था। "आप सभी कुछ जानते हैं।" कह कर टाल देता था। अधिक आग्रह करने पर जिससे स्वामी का हित हो ऐसी सूचना दे देता था।

यह सब करते हुए भी विशेष परिस्थितियो मे राजदूत को यह अधिकार होता था कि यदि अप्रिय सन्देश देने के कारण वह गिरफ्तार किया जा सकता था, उसकी हत्या का आदेश मिल सकता था या दूसरी कोई आपत्ति आने की समावना होती थी तो चुपके से और बिना राजा की स्वीकृति के ही देश छोड कर जा सकता था।

ये राजदूत उच्चकोटि के विद्वान्, ब्राह्मण, प्रगल्भ, वाक्पटु और गुप्तचर विद्या मे परम निष्णात होते थे। दूसरे राज्यो मे रहते समय उनके कर्त्तव्य निम्नलिखित होते थे—

शत्रु देश मे स्वामी का सन्देश देना और शत्रु का सन्देश लाना, पहले की गयी सन्धियो का पालन करवाना, अवसर आने पर अपना प्रभाव एव प्रताप दिखाना, शत्रु के कृत्यपक्ष का सगठन करना, शत्रु के मित्रो को उससे पृथक्

करना, विष आदि दिलवा कर राज्य मे अशान्ति पैदा करना और उसके सेनापतियो आदि का मरवाना या भगा देना।"

बन्धु एव रत्नो का अपहरण करना, स्वामी के गुप्तचरो से ठीक-ठीक काम लेना, यथावसर अपना साहस दिखाना, दृढतापूर्वक आधि (जमानत) आदि के रूप मे बन्दी स्वामी के पुत्र आदि की रक्षा करवाना और छुडवाना और मारण आदि विधियो से प्रमुख राजसेवको की हत्या करवाना।

प्रेषण सन्धिपालत्व प्रतापो मित्र सग्रह ।
उपजाप सुहृद्भेदो गूढदण्डातिसारणम् ।।
बन्धुरत्नापहरण चार ज्ञान पराक्रम ।
समाधिमोक्षो दूतस्य कर्म योगस्य चाश्रय ।।

राजा यह जानता था कि दूसरे देश का राजदूत भी यही सब कार्य करता है। इसलिए, उसके कार्यों तथा गतिविधियो पर कडी निगाह रखी जाती थी।

पांचवां अध्याय

राजतत्र का सकट

राजतत्र ऊपर से देखने मे जितना वैभवशाली और दुर्दमनीय प्रतीत होता था, जिसे देख कर भय से रोगटे खडे हो जाते थे वह अन्दर से उतना ही खोखला, आडम्बरपूर्ण, सशक, भयभीत एव चिन्तातुर था। राजतत्र की धुरी राजा होता था। वह निरकुश था। उसकी इच्छा ही कानून थी। शास्त्रकारो ने उसकी प्रशसा के स्तोत्र पढ कर उसे ईश्वर के स्थान पर बैठा दिया था। परन्तु वह कितना छोटा एव क्षुद्र व्यक्ति था, और कदम-कदम उसे कितना कृत्रिम जीवन व्यतीत करना पडता था, इसे उसका बडे से बडा आडम्बर भी छिपा नही सकता था।

कौटल्य कालीन भारत मे, जब कि सामन्तवाद एव राजतत्र अपने अभ्युत्थान के चरम उत्कर्ष पर पहुँच रहे थे, राजा और राजतत्र की क्या दयनीय स्थिति थी, यह अर्थशास्त्र के पृष्ठो पर रगा पडा है।

राजा और राजतत्र जो सर्वशक्तिमान् थे अपने घरो मे, अपनी पत्नियो, पुत्रो और घरेलू नौकरो तक से सशक रहते थे और अपने बन्द कमरो मे भी उन्हे सुख की नीद नही आ सकती थी। राजतत्र, जिसका मुख्य काम दूसरे देशो की विजय करना और विजित देशो पर अपना नियत्रण रखना था, अपनी पूरी शक्ति लगा कर भी राजा को अभयदान नही दे सकता था और उसे सुख की नीद सुलाने मे असमर्थ था। यही कारण है कि कौटल्य ने सबसे पहले राजा की रक्षा के प्रश्नो पर विचार किया है और उसे अभयदान देने का प्रयत्न किया है। परन्तु यह सब होने के बाद भी राजाओ को अभयदान न दिया जा सका जो पूरे समाज एव ससार को अभयदान देने चले थे।

कौटल्य का विश्वविख्यात अर्थशास्त्र अपने प्रारभिक अध्यायो मे राजतत्र की सबसे बडी समस्या राजा की रक्षा से प्रारभ होता है और यही उसका पर्यवसान होता है। उन उपायो पर थोडा विस्तार के साथ प्रकाश डाले बिना यह

परिणाम निकालना उचित नहीं होगा कि राजतत्र की मुख्य धुरी—स्वय राजा, राजतत्र मे कितना असुरक्षित था और शेष प्रजाजनो की दयनीय दशा का आभास स्वय उसी से मिल जाता है। राजरक्षा के मुख्य उपाय निम्नलिखित थे।

राजमहल में राजा की रक्षा

राजमहल मे राजा जिस कमरे मे सोता था वह कई कक्षाएँ पार करके वहाँ पहुँचता था। शय्या से उठते ही धनुर्विद्या मे दक्ष बहुत-सी नारियाँ उसे घेर लेती थी। वहाँ पुरुष चाहे जितना विश्वसनीय हो, प्रवेश नही पा सकता था। वे धनुर्धर नारियाँ धनुष-बाण हाथ मे लिये उसे दूसरी कक्षा तक पहुँचाती थी। दूसरी कक्षा मे आने के बाद बूढे कचुकी और कुर्त्ता-पगडी पहने दूसरे रक्षक एव विश्वसनीय नपुसक उसकी रक्षा करते थे। तीसरी कक्षा मे कुबडे-बौने और भील लोग शस्त्र हाथ मे लिये उसके साथ चलते थे। चौथी कक्षा मे हाथो मे भाले लिये मत्री, सम्बन्धी रिश्तेदार एव स्वागताध्यक्ष सरक्षण देते हुए साथ चलते थे। इसके उपरान्त वह ऐसे लोगो को साथ ले कर चलता था जो वश परम्परा से साथ रहते आये हो, जिनके साथ सन्निकट सामाजिक सम्बन्ध हो, जो साथ पढे हो, उसमे अनुराग एव आस्था रखते हो और जिनकी निष्ठा भूतकाल के कामो मे देखी जा चुकी हो। ऐसे लोग कभी अगरक्षक नही बनाये जाते थे, जिनके ऊपर विशेष एहसान न किये गये हो, जो एक बार कभी भी साथ छोड कर वापिस आ गये हो और जिन पर कभी सन्देह किया गया हो।

राजा का भोजन बनाने वाला महानसिक ऐसे गुप्त स्थान मे भोजन बनाता था जहाँ चिडिया भी पर नही मार सकती थी और बनने के बाद राजा को परोसने से पहले वह स्वय उसे चख लेता था। परन्तु फिर भी विश्वास नही किया जाता था। भोजन करने से पहले राजा थोडा अश पक्षियो तथा क्षुद्र प्राणियो को देता था और कुछ बलि के नाम पर आग मे फेकता था। भोजन मे विष हो तो पक्षी एव क्षुद्र पशु मर जाते है तथा अग्नि की ज्वाला हल्की नीली हो जाती है और उसमे चट-चट का शब्द होता है।

(अग्नेर्ज्वाला धूमनीलता शब्दस्फोटश्च विषयुक्तस्य वयसो विपत्तिश्च)

थोडा-सा भी सन्देह होने पर विशेषज्ञ लोग भोजन की जाँच करते थे और

यह देखते थे कि भोजन की भाप मोर की गर्दन के समान थोडी नीली तो नहीं है, जल्दी शीतल तो नही पड गया है, उसका रग तो नही बदल गया है, सब्जी फटी-फटी-सी तो नही हो गई है तथा सब्जी और रसा अलग-अलग तो नहीं हो गए है। सब्जियाँ विष मिलने पर शीघ्र सूख जाती हैं और उनके रसे मे आकृति दीखने लगती है। घी, तेल और गन्ने के रस आदि मे विष की नीली रेखा-सी पड जाती है तथा दूध मे ताम्बे जैसी, शराब और पानी मे काले रग की एव दही मे श्याम और शहद मे सफेद रग की रेखाएँ पड जाती हैं।

यदि फलो मे विष मिलाया जाता है तो वे शीघ्र ही मुरझा कर सिकुड से जाते है तथा उनका स्वाभाविक स्वाद नष्ट हो जाता है। उनमे दुर्गन्ध पैदा हो जाती है तथा पकाने पर उनका रग बन्दर जैसा हो जाता है।

राजा की शय्या पर जो वस्त्र प्रयोग मे लाए जाते थे उनकी दैनिक परीक्षा की जाती थी और इस बात पर ध्यान दिया जाता था कि विष के प्रयोग से कही श्वेत चादर पर दाग तो नही आ गया है, ऊन के कपडो के रोवे एकदम कुछ स्थानो पर कैसे उड गये है और इसी प्रकार चाँदी तथा सोने के पात्रो एव आभूषणो पर विष के प्रयोग से काला धब्बा पड जाता है जिसे देख कर अग-रक्षक चौकन्ने हो जाते थे।

यदि ऐसा हो जाता था तो राजमहल मे खलबली मच जाती थी। वह व्यक्ति पकड लिया जाता था, जिसका मुँह सूख गया हो और जबान लडखडा रही हो, जिसे असमय पसीना आ रहा हो, बार-बार जमाई लेता हो, शरीर मे कम्पन हो, लडखडा कर चलता हो, बेमतलब कान लगा कर सुनता हो, बेचैन-सा दीखता हो और जिसने अपना मानसिक सन्तुलन खो दिया हो।

(विषप्रदस्य तु शुष्क श्याव वक्त्रता वाक्सग स्वेदो विजृम्भण चातिमात्रं वेपथु प्रस्खलन बाह्यविप्रेक्षणमावेग स्वकर्मणि स्वभूमौ चानवस्थानमिति।)

यही कारण है कि विष उतारने वाले और वैद्य सदा ही राजा के पास रखे जाते थे। **(तस्मादस्य जांगलीविदो भिषजाश्चासन्ना स्यु.)**

परन्तु उन वैद्यो की भी यही दुर्दशा थी। वे तब तक राजा को कोई औषधि नही दे सकते थे जब तक स्वय पहले न खा ले या किसी अन्य को खिला कर

देख न लें। मदिरा और पानी का गिलास भी वह तब तक नही पी सकता था जब तक दूसरा कोई पहले न पी ले।

राजा के नाई, धोबी तथा दूसरे परिचारको और स्नान आदि कराने वालो पर कडी दृष्टि रखी जाती थी और उनके लिए बहुत कठोर प्रतिबन्ध थे।

जब बाहर से नट, नर्तक, वादक, जादूगर और दूसरे कलाकार राजा के मनोरजन के लिए आते थे तो उन्हे स्नान करवाया जाता था, कपडे बदलवाये जाते थे और वे जो बाजे आदि साधन प्रयोग मे लाते थे; उन्हे राजमहल से ही दिया जाता था। वे अपने बाजे आदि साथ नही ला सकते थे। परन्तु इन प्रतिबन्धो का पालन करने के बाद भी वे ऐसे खेल नही दिखा सकते थे जिनमे शस्त्र, अग्नि और विष काम मे लाये जाते हो।

बडे राजकीय अधिकारी के साथ ही राजा यान वाहनो पर चढता था। नौका के लिए और भी कडा प्रतिबन्ध था। जो नाव दूसरी नाव से बँधी हो या वायु के वेग से चलती हो उस पर चढना वर्जित था। नाव के साथ-साथ तटो पर रक्षापुरुष चलते थे। नदी के पानी मे तभी स्नान किया जा सकता था जब पहले उसमे मछुये उतर चुके हो। उसी उद्यान मे भ्रमण कर सकता था जिसमे पहले सपेरे ने सब कुछ देख लिया हो। यदि जगल मे शिकार खेलना हो तो पहले शिकारी कुत्तो तथा शिकारियो द्वारा चोरो एव व्याघ्र आदि की ओर से निर्भय हो जाना चाहिए।

यदि कोई नया महात्मा या सिद्ध पुरुष आया हो और उसके दर्शन करने की इच्छा हो तो शस्त्रधारी पुरुष उस समय भी साथ रहते थे। राजमार्ग पर प्रयाण करते समय दोनो ओर शस्त्रधारी पुरुष खडे रहते थे एव जनता के बीच जाना राजा के लिए सर्वथा वर्जित था। राजा देवस्थानो मे भी तभी जा सकता था जब शस्त्र-धारी पुरुषो की एक टुकडी तथा जिम्मेदार सुरक्षा अधिकारी साथसाथ अनुगमन करे।

रानी से राजा की रक्षा

जिस कमरे मे रानी सोती थी वहाँ राजा का सोना वर्जित था। राजा अपने कमरे मे भी रानी को नही सुला सकता था। अन्तःपुर (रनिवास) मे अपने निवास स्थान मे ही राजा किसी विश्वसनीय दासी के हाथो रानी को बुलाता

था। किसी रानी को लक्ष्य करके राजा स्वय उसके निवास स्थान पर नही जा सकता था।

(अन्तर्गृहगत स्थविरस्त्री परिशुद्धा देवीं पश्येत् । न काञ्चिदभिगच्छेत्)

इसीलिए ऐसा किया जाता था कि स्वय रानी भी अपने पति के विरोध मे कोई षड्यन्त्र रच सकती थी। देवी के घर मे छिपे उसके भाई ने अपने बह-नोई भद्रसेन की हत्या कर दी थी। अपनी माता की शय्या के नीचे छिपे राज-पुत्र ने अपने पिता कारूश राजा का वध कर दिया था। इसी प्रकार, स्वय रानी ने खीलो मे विष मिला कर अपने पति काशीराज को खिलाया और मार डाला।

(देवीगृहे लीनो हि भ्राता भद्रसेन जघान। मातु शय्यान्तर्गतश्च पुत्र कारू-शम् । लाजान्मधुनेति विषेण पर्यस्य देवी काशीराजम्)

विष मे बुझे हुए नूपुर (पायजेब) से वैरन्त्य राजा को स्वय उसी की रानी ने मार दिया, मेखला (करधनी) की मणि से सौवीर राजा को उसकी रानी ने, आदर्श (शीशे) के द्वारा जालूथकी रानी ने, और अपनी वेणी मे शस्त्र छिपा कर विडूरथ राजा की रानी ने अपने पति के प्राण ले लिये। इसीलिए, ये रानियाँ राजाओ की दृष्टि मे नागिन के समान जिनके कमरो मे वे प्यार की प्यास बुझाने भी नही जा सकते थे। यह था उनका पति-पत्नी सम्बन्ध।

इन रानियो से सशक राजतत्र कभी उन्हें साधुओ, मुण्डक मुण्डो और जटा-धारियो एव वचको से मिलने नही देता था। बाहर की दासियाँ भी उनसे नही मिल सकती थी। इन रानियो के सम्बन्धी और यहाँ तक कि सगे भाई भी विशेष अवसरो पर राजा की स्वीकृति से ही मिल सकते थे।

जब वेश्याएँ और गणिकाएँ राजा के पास जाती थी तो अच्छी तरह स्नान करके एव नये वस्त्रो तथा अलकार आदि से सुसज्जित हो कर ही जा सकती थीं।

इन रानियो के नैतिक आचरण की निगरानी वे बूढे सरकारी कर्मचारी करते थे जिनकी आयु ८० वर्ष के आसपास होती थी और वे बूढी दासियाँ करती थी जिन पर राजा को भरोसा होता था। ये इन रानियो को यही शिक्षा देती थी कि उन्हे अपने स्वामी के हित मे रहना चाहिए।

(शौचाशौच विदु स्थापयेयुश्च स्वामिहिते)

यह कितनी बडी विडम्बना थी कि रानी के चालचलन की निगरानी एक बुढिया दासी करती थी और उसकी गलत रिपोर्ट पर रानी को सरेआम फाँसी पर चढाया जा सकता था।

अन्त पुर मे कोई भी वस्तु बिना मोहर के अन्दर या बाहर नही आ जा सकती थी एव प्रत्येक व्यक्ति को वही जमा रहना पडता था जहाँ उसका काम नियत था। ऐसा न होने पर सुरक्षा की सम्पूर्ण व्यवस्था अस्तव्यस्त होने का डर था।

राजपुत्रो से राजा की रक्षा

ये राजपुत्र कर्कट (कैंकडे) के समान होते हैं जो अपने जनक को खा कर पनपते है। इसलिए राजा उन्हें जन्म से ले कर अन्त तक अपने चगुल से बाहर नहीं होने देता था। प्रत्येक राजा अपनी सन्तान से सशक रहता था।

(कर्कट सधर्माणो हि जनकभक्षा राजपुत्रा')

राज्य या राजतत्र की रक्षा तो तभी होगी जब स्वय राजा की रक्षा हो। राजा के लिए जैसे दूसरे लोग खतरा हैं उसी प्रकार अपने हैं। और सबसे पहला भय रानियो तथा राजपुत्रो से समझा जाता था।

(रक्षितो राजा राज्य रक्षत्यासन्नेभ्य परेभ्यश्च। पूर्वं दारेभ्य' पुत्रेभ्यश्च)

इन राजपुत्रो से राजा की रक्षा किस प्रकार की जाए, इस सम्बन्ध में भारतीय आचार्यों मे सदियो तक वाद-विवाद चलता रहा है।

भारद्वाज ऋषि का मत था कि ज्यो ही यह आभास हो कि राजकुमार पिता मे निष्ठा नही रखते उनका चुपचाप वध करवा देना चाहिए। आचार्य विशालाक्ष ने इस मत का खण्डन किया और कहा कि ऐसा करना क्रूरता एव घोर पाप है तथा इससे क्षत्रिय बीज का नाश भी हो सकता है। इसलिए, उसे किसी एकान्त स्थान मे बन्दी बना कर रखा जाये।

परन्तु पाराशर आचार्य यह मत भी नही मानते। वे कहते हैं कि यह तो आस्तीन मे साँप रखना है। जब वह सोचेगा कि पिता अपने वध के भय से मुझे बन्दी बना कर रखता है तो वह अवश्य ही उसकी हत्या का प्रयत्न करेगा।

इसलिए, राजकुमार को सीमान्तो पर सीमारक्षको के सेनापति के पास रख देना चाहिए।

आचार्य पिशुन (नारद) इस मत के अत्यन्त विरोधी हैं। वे कहते हैं कि यह तो मेढे जैसी बात हुई। अर्थात् मेढा जैसे दूसरे मेढे पर जोर की चोट करने के लिए पीछे हटता है उसी प्रकार राजकुमार सीमान्तो पर रह कर तथा दुर्ग एव सीमा सेना अधिकारियो से मैत्री सम्बन्ध स्थापित करके और भी भयानक हो सकता है। इसलिए राजकुमार को देश से निकाल कर किसी अन्य आधीन सामन्त के यहाँ रख छोडना चाहिए।

परन्तु आचार्य कौणपदन्त (भीष्म) इस मत के भी विरोधी है। यह तो राजकुमार को बछडा बनाना है। जैसे बछडे को दिखा कर लोग गाय दुहते हैं उसी प्रकार राजकुमार को दिखा कर सामन्त राजा को दुहता रह सकता है। इसलिए राजकुमार को उसके नाना के घर छोड देना चाहिए।

परन्तु वातव्याधि (आचार्य उद्‌धव) इस मत को पसन्द नही करते। नाना के यहाँ उसे रखना एक ध्वजा के समान है। जैसे ध्वजा फैला कर जोगी और सपेरे भोगा करते हैं उसी तरह राजकुमार को दिखा-दिखा कर उसके नाना-मामा एक धन्धा बना लेगे। इसलिए उसे उम्र से पहले ही स्त्रियो आदि के चक्कर मे फँसा देना चाहिए ताकि राजा के खिलाफ काम करने की उसे फुरमत ही न रहे।

परन्तु आचार्य कौटल्य इस सिद्धान्त के विरुद्ध हैं। वे कहते हैं कि कच्ची आयु मे राजकुमार को विषयो मे फँसाना जीवित को मार देना है। घुण खाई लकडी की भाँति जिस राजकुल के राजकुमार सुसस्कृत नही होते वह शीघ्र ही पतन की ओर बढ जाता है। सरल स्वभाव वाले राजकुमारो को कौटल्य ने कच्चे घडे के समान बताया है जो सामने आये दूध, घी या पानी को चूस लेते हैं। इसलिए उन्हे बचपन से ही अच्छी शिक्षा दी जाये और उन्हे सुमार्ग पर लाया जाये। जब भी कभी उसकी रुचि विषयो की ओर जाये उसे समझदारी के साथ रोका जाये।

उसे वे लोग समझाते थे जो उसके सम्पर्क मे रहते थे कि तुम अपने पिता

की हत्या नही कर सकोगे। पता चलने पर तुम्हारी ही हत्या कर दी जायगी। और यदि किसी प्रकार तुम सफल भी हो गये तो नरक मे जाओगे। सम्पूर्ण प्रजा तुम्हें पिता का हत्यारा कहेगी। यह भी हो सकता है कि क्रुद्ध प्रजाजन तुम्हें और भी बुरी तरह मार डाले।

फिर भी यदि वह विद्रोह ही करता था और इकलौता पुत्र होता था तो उसे बन्दी बना लिया जाता था। अनेक भाई होते थे तो ऐसे प्रदेशो मे भेज दिया जाता था जहाँ उसे वैभव के साधन कम मिले और जहाँ की प्रजा उसके उकसाने से राजद्रोह मे भाग न ले सके।

यदि सभी राजकुमार दुर्बुद्धि हो तो अपने पोते के होने की प्रतीक्षा राजा करता था। इस आशा से कि कदाचित् वही राज्य सचालन के योग्य हो। यदि ऐसा भी समव प्रतीत नही होता था तो अपने धेवते को राजा इसके लिए तैयार करता था।

इस प्रकार यह स्पष्ट हो जाता है कि राजा की मृत्यु के उपरान्त जो राजकुमार राजतत्र की धुरी बनने वाले होते हैं, स्वय उन्ही से राजा और राजतत्र कितने सशक रहते हैं। उनके जन्म पर आह्लादित होने की अपेक्षा राजतत्र इसी चिन्ता मे फँस कर रह जाता है कि इन राजकुमारो का क्या किया जाये और इनका नाश्ता कैसे बन्द किया जाये ?

ये है शक्तिशाली राजतत्र के भयानक अन्तर्विरोध !

बन्दी राजकुमार का व्यवहार

राजकुमारो से सशक राजा उन्हे उनकी योग्यता एव स्वभाव के विपरीत कार्यों मे नियुक्त करके परेशान करता था और उनका प्रभाव घटाने का प्रयत्न करता था । राजकुमार मन मार कर वह कार्य करते थे और यदि देखते थे कि पिता की आज्ञाओ का अक्षरश पालन करने से मृत्यु का भय उपस्थित हो सकता है अथवा सभी मत्रियो एव जनपदो का कोप मिल सकता है तो आज्ञाएँ शिरोधार्य करना अस्वीकार कर देते थे। ऐसी विशेष परिस्थितियाँ यदि उत्पन्न नही होती थी तो वे पिता के आदेशो का अक्षरश पालन करते थे। यदि फिर भी राजा द्वेष करता रहता था एव उसके विरुद्ध आचरण करता था तो वह पिता

की आज्ञा से अरण्यवासी हो कर तपस्या करने चला जाता था। यदि वहाँ भी प्राणो का भय रहता था तो किसी सत्यनिष्ठ सामन्त का शरणागत हो जाता था।

शरणागत राजकुमार चुप नही बैठता था। किसी बलवान् सामन्त या राजा की कन्या से विवाह करता था। सेना सगठित करने का प्रयत्न करता था और अपने पिता के राज्य मे जितने भी मुख्य व्यक्ति पिता के विरुद्ध होते थे उन्हे पक्ष मे जोडता था एव सीमारक्षको, उनके सेनापति तथा जगली जातियो से अपना गहरा सम्पर्क स्थापित करता था। यदि वह अकेला पड जाता था तो व्यापार आदि से धन-सग्रह करता था। यदि यह भी संभव नही था तो वह पाखण्डियो, चोरो, दस्युओ तथा विष का प्रयोग करने वाले लोगो का गिरोह बनाता था और अपनी आर्थिक स्थिति दृढ करने का प्रयत्न करता था।

(पाषण्ड सघ द्रव्यमश्रोत्रिय भोग्य देवद्रव्यमाढ्यविधवा द्रव्य वा गूढमनु-प्रविश्य सार्थयानपात्राणि च मदनरसयोगेनातिसधायापसरेत्)

अथवा वह अपनी माता के सेवको से सम्पर्क बढा कर साधन जुटाता था। अथवा वह बढई, लुहार आदि शिल्पियो, कुशीलव, चिकित्सक, वग्जीवन (कथा वाचक) और पाखण्डी आदि का गिरोह सगठित करके एव स्वय भी इसी रूप मे रह कर राजा की शस्त्र एव विष आदि के प्रयोग से हत्या कर देता था। फिर वह राजा के अमात्य एव सेनापति आदि से कहता था—"मै ही राजकुमार हूँ। आप लोगो के साथ मिल कर राज्य का भोग करना चाहता हूँ। जो चाहते हो, मेरे साथ रह कर काम करे। पहले से दुगना वेतन एव भत्ता मिलेगा।"

(अहमसौ राजकुमार सहभोग्यमिद राज्यमेकोनार्हति भोक्तुम् । तत्र ये कामयन्ते भर्त्तुं तानह द्विगुणेन भक्तवेतनेनोपस्थास्य इति)

और प्राय यही होता था कि राजकुमार को राजा स्वीकार कर लिया जाता था। वह अपने पिता का वध करके और बुरे से बुरे सामाजिक पाप कृत्य करके जिस राजसिंहासन पर पाँव रखता था, विद्वान् ब्राह्मण उसकी स्तुति करने लगते थे—

"यह महान् देवता है, ईश्वर का अवतार है। यह चाहे बालक हो या

कितना ही निर्बल हो, इसका तिरस्कार एव उपेक्षा मत करो।" षड्यन्त्रो तथा पाप पर आधारित राजतत्र का यही खोखलापन था।

(बालो पि नावमन्तव्यो... ।
महती देवता ह्येषा नररूपेण तिष्ठति ॥ मनुस्मृति)
(चरित्र संग्रहे पुसां राज्ञामाज्ञा तु शासनम् ॥ कौटल्य)

सर्व साधारण प्रजाजनो को राजा के आचरण से शिक्षा लेनी चाहिए। "राजाओ की आज्ञा ही शासन और कानून है।"

इन्ही राजाओ की आज्ञा जिनका वर्णन ऊपर किया गया है।

इन्द्र यमस्थानमेतद्राजान. प्रत्यक्ष हेऽप्रसादा । तानवमन्यमानान्दैवोऽपि दण्ड स्पृशति । तस्माद्राजानो नावमन्तव्या—कौटल्य)

"राजा इन्द्र और यम के स्थान पर माने जाते थे, जिनकी प्रसन्नता एव प्रकोप प्रत्यक्ष परिणाम दिखाते हैं। जो उनकी उपेक्षा करता है उसे दैविक आपत्तियाँ भी पकडती हैं। इसलिए राजाओ का तिरस्कार कभी मत करो"—कौटल्य।

और ये राजा तथा राजतत्र किस सामाजिक नैतिकता पर आधारित थे, यह आगे की पक्तियो से और भी स्पष्ट होगा।

मन्त्रिपरिषद् और मत्रणा

आत्मरक्षा के लिए अनवरत चिन्तित राजा के लिए दूसरी सबसे बडी समस्या यह थी कि वह राज्य का सचालन कैसे करे, प्रजाजनो को किस प्रकार साथ रखे, राज्य का विस्तार एव सुरक्षा किस प्रकार हो और राज्य की आर्थिक स्थिति सुदृढ किस प्रकार की जाये। स्पष्ट है कि जिस किसी भी तरह राज्य पर अधिकार तो राजा का हो गया है, परन्तु यदि अकेला ही उस अधिकार को समाल कर रखता है तो राजतत्र का इतना विशाल और महादैत्य उसके अकेले के नियत्रण मे नही रह सकता। इसलिए, सहयोगियो की आवश्यकता होती थी। परन्तु सहयोगियो मे किस पर भरोसा किया जाये और किसे अधिकारो का अश-दान किया जाये यह गम्भीर समस्या थी। जैसे स्वय राजा ने दूसरो के साथ विश्वासघात करके राजतत्र पर अधिकार जमाया है, वही आचरण दूसरे क्यो

नही करेंगे—यह विश्वास कैसे किया जा सकता है ? जिसने दूसरो के प्रति विश्वास प्रकट नही किया वह दूसरो पर भी कैसे विश्वास कर सकता था। इसीलिए, राजाओ के सम्बन्ध मे कहा गया है कि उनकी प्रीति स्थायी नही होती और वे सदा सशक रहते हैं।

फिर भी इतना विशाल राजतत्र एक व्यक्ति के हाथो मे नही समल सकता। राजा के लिए अनिवार्य था कि वह अपनी मत्रिपरिषद् की स्थापना करे, उससे मत्रणा करे और अपनी राजनीतिक महत्वाकाक्षाओ की पूर्ति के लिए उसे साधन बनाये। परन्तु राजा के लिए राज्य या राजतत्र ऐसा था जैसे कोई चोर सेन्ध मार कर बहुमूल्य सम्पदा का अपहरण तो कर लेता है, पर उसे समाल कर एव छिपा कर किसके पास रखे, वह नही मिलता था। उसे यही व्याकुलता रहती है कि सारा समाज उसका शत्रु है और जिसके पास सम्पदा छिपा कर रखेगा, वही उसका मालिक बन जाएगा। दुनियाँ की दृष्टि मे महासुखी और इन्द्र के समान "वैभव सम्पन्न" राजा की मानसिक स्थिति उस सेन्ध मारने वाले से बेहतर नही थी।

फिर भी राजा को सहयोगियो की आवश्यकता थी और वे उसे मिल गये। अमात्यो, मत्रियो की नियुक्ति के सम्बन्ध मे चिन्तित राजा को शास्त्रकारो ने सहायता दी—

भारद्वाज ऋषि कहते है कि अपने सहपाठियो को अमात्य बनाया जाये। उन्ही पर सबसे अधिक विश्वास किया जा सकता है।

परन्तु विशालाक्ष कहते है कि साथ खेलने-कूदने से वे राजा के साथ मित्र जैसा व्यवहार करते है। उसकी उपेक्षा भी कर सकते है। फिर राजा की शान कैसे कायम रहेगी जो राजतत्र के लिए अनिवार्य हैं। अत अपने समान शील और व्यसनी लोगो को मत्री बनाया जाए। वे राजा से डरते रहते है कि कही वह उनका भण्डाफोड न कर दे।

पाराशर कहते है कि यह तो समान दोष हुआ। यदि भण्डाफोड का डर उन्हे है तो साथ ही राजा को भी है। वह उनसे डरता रहता है। जिन-जिनको किसी की निर्बलता का पता रहता है, आमतौर पर उनसे हर व्यक्ति डरता है।

जो आपत्तियो के समय अपना सर्वस्व दाँव पर लगा कर राजा का साथ दें, उन्हे मत्री बनाया जाये।

पिशुन (नारद) इसे अमात्यो का भक्तिगुण तो मान सकते है बुद्धि गुण नही। परन्तु मत्रियो में बुद्धि गुण का होना आवश्यक है। अत ऐसे व्यक्ति मत्री बनाये जाये जो नीतिशास्त्र के पारगत हो तथा अपने सिपुर्द किये गये कार्यों को उससे भी अधिक करके दिखावे जितना बताया गया हो।

कौणपदन्त (भीष्म) कहते हैं कि मत्रियो मे केवल इतने गुणो का होना ही तो पर्याप्त नही है। जो पिता, बाबा और परबाबा के साथ से चले आ रहे हो, उन्हें मत्री बनाया जाये। उनका सभी कुछ देखा जा चुका है। वे स्नेह के कारण उसका अपकार भी सहन कर लेते है।

वातव्याधि (उद्धव) इसे इसलिए अनुपयुक्त समझते है कि ये वशपरम्परा से आये मत्री स्वय को राजा मान बैठते हैं और उसी प्रकार का आचरण करते हैं। अत ऐसे नये व्यक्ति अमात्य बनाये जाएँ जो नीतिशास्त्र के प्रकाण्ड पण्डित हो। नये लोग राजा को यमराज की भाँति दण्डधर मान कर डरते रहते है और कभी विद्रोह नही करते।

बाहुदन्ती पुत्र (इन्द्र) इसे भी नही मानते और कहते है कि केवल नीतिशास्त्र पढने से क्या होता है यदि उन्होने अमात्य के कार्यों का कभी सम्पादन न किया हो। ऐसे व्यक्ति प्राय कार्यों का हनन करते हैं। अत अभिजात्य वर्ग (कुलीन घराने) के व्यक्तियो को जिनके चरित्र की शुद्धता प्रमाणित हो चुकी हो, मत्री बनाना चाहिए। मत्री के गुण ही देखने चाहिए।

आचार्य कौटल्य कहते हैं कि समय और परिस्थितियो के अनुसार इन सभी बातो पर विचार करके नियुक्ति करनी चाहिए। इन लोगो के गुण एव योग्यता देख कर राज्य के विभिन्न कार्यों पर नियुक्त करना चाहिए तथा कार्य का बँटवारा करना चाहिए। ऊपर गिनाये गुणो वाले व्यक्ति केवल अमात्य अथवा विभिन्न विभागो के अध्यक्षो का कार्य तो कर सकते हैं, परन्तु उन्हे मत्री या प्रधानामात्य नही बनाया जा सकता। तब प्रधानामात्य किसे बनाना चाहिए—इस प्रश्न का उत्तर कौटल्य इस प्रकार देते हैं—

जो अपने ही जनपद का निवासी, कुलीन (अभिजात्य वर्ग का), अच्छा घुडसवार, शिल्पकला विशारद, अर्थशास्त्र का मर्मज्ञ, बुद्धिजीवी, धैर्यशाली, दक्ष, वाग्मी (वक्ता) प्रगल्भ, प्रतिपत्तिमान् (सूझबूझवाला) उत्साही, प्रभावशाली, क्लेशसहिष्णु, शुचि, मिलनसार (मैत्र) दृढभक्ति, शीलवान्, बलिष्ठ, स्वस्थ, मनोबल सम्पन्न (सत्वयुक्त) जड़ता और चपलता से हीन, लोकप्रिय (सप्रिय) और अनावश्यक रूप मे अपने विरोधी न बना लेता हो।

ये सभी गुण किसी एक व्यक्ति मे पाने कठिन होते हैं। परन्तु प्रधानामात्य मे इन सद्गुणो का समावेश अनिवार्य समझा जाता था।

प्रधानामात्य की भाँति ही पुरोहित की नियुक्ति भी एक कठिन कार्य समझा जाता था। उसमे पूर्वोक्त गुणो के साथ-साथ धर्मशास्त्र, अर्थशास्त्र एव नीति-शास्त्र मे प्रवीण होना परम आवश्यक था। पुरोहित की नियुक्ति के पश्चात् राजा उसके प्रति अपने कर्मचारियो जैसा व्यवहार नही करता था। जैसे शिष्य आचार्य का, पुत्र पिता का और भृत्य स्वामी का आदेश मान्य समझता है उसी प्रकार राजा पुरोहित की आज्ञाओ का पालन करता था। पुरोहित राजा और प्रजाओ के मध्य का एक सम्पर्क प्रतीक भी माना जाता था।

पुरोहित जिस राजा को सहयोग देता हो, पूर्वोक्त गुणो से सम्पन्न प्रधाना-मात्य जिसका सचालन करते हो और जहाँ का राजा शास्त्रो के अनुकूल आचरण करता हो, वह क्षत्रियकुल युद्धो के बिना ही जीतता है और विस्तार प्राप्त करता है—समाज मे ऐसी धारणाएँ प्रचलित थी।

ब्राह्मणेर्वधित क्षत्र मन्त्रिमन्त्राभिमन्त्रितम् ।
जपत्यजितमत्यन्त शास्त्रानुगत शास्त्रितम् ।। (कौटल्य)

प्रधानामात्य, अमात्यो और पुरोहित की नियुक्ति के पश्चात् राजा की तीसरी मुख्य समस्या यह आती थी कि वे अपने कितने रहस्य उनके सामने खोल कर रखे तथा गम्भीर राजकीय समस्याओ के सम्बन्ध मे उन्हे विश्वास मे ले कर किस प्रकार मत्रणा करे ?

इस सम्बन्ध मे भी कुछ मान्य सिद्धान्तो की स्थापना की गई थी जो सक्षेप मे निम्नलिखित थे—

सभी कार्य मंत्रणा के पश्चात् प्रारम्भ होते थे। इसलिए मत्रणा सर्वोपरि महत्व रखती थी। (मंत्रपूर्वा सर्वारम्भा) इसलिए, मत्रणा का स्थान अत्यन्त गोपनीय रखा जाता था। वह चारो ओर से ढका रहता था। वहाँ बाहर का शब्द अन्दर और अन्दर का बाहर नही आ सकता था। वहाँ चिडिया भी पर नही मार सकती थी। इसलिए कि सुना जाता है कि एक राजा की मत्रणा के भेद तोता और मैना (शुक-सारिका) ने दूसरे राजा को बता दिए थे और एक को कुत्ते से पता चल गया था। बिना स्वीकृति के कोई मत्र स्थान मे प्रवेश नही कर सकता था और मत्रणा की बाहर सूचना देने वाले का सिर काट लिया जाता था (उच्छिद्येत् मत्रभेदी) परन्तु कभी-कभी बिना कहे भी दूत अमात्य एव राजा की चेष्टाओ से बुद्धिमानो को मत्र का भेद ज्ञात हो जाता है। इसलिए अपने आकार तथा चेष्टाओ पर पूरा नियमन रखा जाता था।

प्रमादी, शराबी, सोते मे बडबडाने वाला और कामी व्यक्ति मत्र की रक्षा करने मे असमर्थ समझा जाता था। दीवार के पीछे लग कर सुनने वाला और अपमानित व्यक्ति भी मत्र की रक्षा नही कर सकता। इन सब से भी मत्र की विशेष रक्षा की जाती थी।

(प्रमादमदसुप्तप्रलापकामादिरुत्सेक । प्रच्छन्नोऽवमतो वा मंत्रं भिनत्ति)

क्योकि मत्रभेद के परिणाम भयानक होते थे, यही कारण है कि राजतत्र के शास्त्रकारो ने इस पर गम्भीरता से विचार किया तथा अपनी सम्मतियाँ रखी—

भारद्वाज—राजा को स्वय अकेले मे मत्रणा करनी चाहिए। मत्रियो के भी मत्री होते है। उनके भी दूसरे मत्री होते हैं और इस प्रकार यह ऐसी शृखला है कि मत्रणा करते-करते अपने आप ही उसका भेद खुल जाता है। अत राजा जो करना चाहता है उसका तभी पता लगना चाहिए जब वह प्रारम्भ हो जाए और प्रारम्भ किये का पता उसके पूरा होने के बाद चलना चाहिए।

तस्मान्नास्य परे विद्यु कर्म किञ्चिच्चिकीर्षितम् ।
आरब्धास्तु जानीयुरारब्धं कृतमेव तु ॥

विशालाक्ष—अकेले व्यक्ति की कैसी मत्रणा ? राजकार्य प्रत्यक्ष एव परोक्ष दोनो प्रकार के होते हैं। सभी का पता राजा को नही होता। मत्रणा करने का उद्देश्य यह होता है कि जिसका पता नही उसे जाना जाये, जाने हुए का निर्णय करना, निर्णय किये हुए को पक्का किया जाये, जिसमे सन्देह हो उसका निवारण किया जाये, एक देश के सम्बन्ध मे जो लागू होता हो वह अन्यत्र लागू हो सकता है कि नही। इसलिए बुद्धिमानो के साथ बैठ कर ही मत्रणा की जा सकती है न कि अकेले मे बैठ कर।

पाराशर—यह तो मत्र जानने का प्रकार मात्र हुआ, मत्र की रक्षा तो न हुई। जिसके सम्बन्ध मे उसे मत्रणा लेनी हो, वैसी ही किसी घटना का उल्लेख करके बहाने से मत्रणा ली जाये। अमुक कार्य यो हुआ सुना जाता है। यदि उसे यो न करके दूसरी प्रकार करते तो क्या परिणाम होता, आदि। इस उपाय से मत्र भी मिल जाता है और उसकी रक्षा भी हो जाती है।

पिशुन—(नारद) यह प्रकार सही नही है। इस प्रकार से पूछने पर मत्री लोग या तो गम्भीरता से सोच कर उत्तर नही देते, केवल पहेलियाँ-सी बुझा देते हैं और या फिर उसे दूसरो को बता देते है। अत जिन मत्रियो के सहयोग से कोई कार्य करवाना हो, केवल उन्ही से मत्रणा की जाये। शेष मत्रियो को सम्मिलित न किया जाये। इससे मत्रणा मिल जाती है और उसका क्षेत्र सीमित बना रहता है।

कौटल्य—यह अनवस्था है और इसका कही अन्त नही हो सकता। जिस विभाग का कार्य जिन व्यक्तियो द्वारा होना है, वे एक या दो तो नही होते। फिर किसको-किसको वहाँ एकत्रित किया जा सकता है। तीन या चार मत्रियो के साथ बैठ कर तो मत्रणा करनी ही चाहिए। एक मत्री के साथ बैठ कर मत्रणा करते समय बहुत-सी जटिल समस्याओ का कोई समाधान नही मिलता। अकेला मत्री स्वेच्छाचारी एव अभिमानी भी हो जाता है। दो के साथ मत्रणा करने पर यदि कभी वे दोनो ही आपस मे मिल जाएँ तो सर्वनाश हुआ समझो। दोनो आपस मे विग्रह कर बैठें तो भी सर्वनाश हो जाता है। तीन या चार के मिल कर बैठने से यह दोष पैदा नही होता और सभी काम ठीक हो जाते हैं।

मत्र के मुख्यत पाँच अग होते थे जिन्हे राजा प्रत्येक से पृथक्-पृथक् पूछता था—

(१) कार्य का प्रारम्भ कैसे किया जाए (**कर्मणामारम्भोपायः**), (२) इस पुरु कार्य मे कितने पुरुष, दुर्ग आदि साधन एव धन की आवश्यकता होगी ? (**पुरुष द्रव्य सम्पत्**), (३) किस देश मे और कितने समय मे यह कार्य सम्पन्न हो सकता है (**देशकाल विभाग.**), (४) इसमे क्या-क्या बाधाएँ आ सकती है, वे कितनी हानि पहुँचा सकती हैं, कितना और कैसे निवारण हो सकता है आदि (**विनिपात प्रतीकार**), (५) जो कार्यसिद्धि होगी उससे हानि की अपेक्षा कितना लाभ होगा, उस कार्य के सम्पादन के पश्चात् स्वय राजा की और शत्रु की तुलनात्मक स्थिति क्या होगी आदि (**कार्यसिद्धि·**) कौटल्य कहते हैं कि मत्रणा के इन गम्भीर विषयो पर न तो राजा अकेला विचार कर सकता है और न वह अर्थहीन भीड मे बैठ कर ही किसी परिणाम पर पहुँच सकता है।

मानव—(मनु के अनुयायी) मत्रि परिषद् कम से कम १२ सदस्यो की होनी चाहिए।

बृहस्पति—सोलह से कम की नही।

शुक्राचार्य—बीस से कम की नही।

कौटल्य—राज्य की जितनी सामर्थ्य एव आवश्यकता हो। वे स्वकीय एव परकीय पक्ष की विवेचना करते हैं। जो मत्री पास मे रहते हो उनके साथ बैठ कर मत्रणा करनी चाहिए और जो दूर रहते हैं उनके साथ पत्र-व्यवहार से करनी चाहिए। इन्द्र की मत्रिपरिषद् मे एक हजार मत्री थे। वे ही इन्द्र की आँखे थी। इसीलिए दो आँख वाले इन्द्र को सहस्राक्ष कहते हैं। (**इन्द्रस्य हि मत्रिपरिषदृषीणा सहस्रम्। स तच्चक्षुः। तस्मादिमे द्व्यक्ष सहस्राक्षमाहु**) अधिकाश मत्रियो की जो सम्मति होती थी बहुमत से वही मान्य हो जाती थी।

राजा और राजतत्र

कौटल्य ने राजतत्र की सक्षिप्त व्याख्या करते हुए एक स्थान पर कहा है कि—राजा और राज्य यह समस्त राजतत्र का सक्षिप्त रूप है। (**राजा राज्यमिति प्रकृति सक्षेप**) और यह स्पष्ट ही हो चुका है कि पूरे राजतत्र की धुरी राजा

है। यह भी सुस्पष्ट है कि राजतन्त्रो की स्थापना और उनका उत्थान-पतन किन नैतिक आधारो पर होता है। जिस राज्य या राजतन्त्र की प्राप्ति के लिए राजा प्रत्येक प्रकार के उचित एव अनुचित कार्यकलाप करते थे, वही राज्य की रक्षा के लिए अपना अस्तित्व लगा देता था। राजतन्त्र ने प्रत्येक व्यक्ति और सस्था की अपने अनुशासित ढंग से परिभाषाएँ की हैं। फिर राजा का अनुशासन क्या हो और वह अपनी इच्छा लहरियो पर ही चढता-उतरता रहे या समाज उसके लिए भी किसी अनुशासन की स्थापना करता था, यह प्रश्न महत्वपूर्ण है। परन्तु दुर्भाग्य से राजतन्त्र के प्रामाणिक भाष्यकार और राजा को आदर्श व्यक्ति के रूप मे समाज के सामने प्रस्तुत करने वाले कौटल्य भी यह नही बता सके कि उस पर क्या अनुशासन हो सकता है तथा उसकी अनुशासित शक्ति क्या होगी ? केवल इतना बता दिया गया है कि अमुक कार्यों के करने वाला राजा आदर्श होता है और उसका राज्य कभी पराजय का मुँह नही देखता। इनके विपरीत कार्यों के करने वाला राजा नरक मे जाता है और अन्त मे उसका राज्य नष्ट हो जाता है, आदि। प्रश्न यह है कि इतने असीम अधिकारो को ले कर समाज को अपने सकेतो पर नृत्य करने के लिए बाध्य करने वाला व्यक्ति स्वय भी किसी के अनुशासन मे है या नही, अथवा वह अपने कार्यकलापो के लिए किसी के सम्मुख जवाबदेह है या नही ? इन प्रश्नो का उत्तर केवल नही मे मिलता है। उस समय समाज मे जैसी प्रचलित प्रथाएँ थी और समाज जिन दीन-हीन दशाओ मे रह रहा था, वास्तव मे इन प्रश्नो का उत्तर 'नही' से भिन्न हो भी क्या सकता था। राजा को समाज ने अपनी इच्छा से कभी स्वीकार किया हो और उसके कठोर अनुशासन को कभी स्वेच्छा से मान्यता दी हो तो इन प्रश्नो के उत्तर ढूँढे जा सकते थे और मिल भी सकते थे। परन्तु राजतन्त्र के प्रचारक चाहे जितना प्रचार करें कि "मत्स्यन्याय से पीडित जनता ने दु:खी हो कर वैवस्वतवश के मनु को अपना प्रथम राजा माना और उसे कर देना प्रारम्भ किया"। वास्तविकता यही है कि ये राजा कभी किसी ने चुने या माने नही थे प्रत्युत् एक विशेष सामाजिक परिस्थिति का लाभ उठा कर कुछ व्यक्तियो ने प्रचलित सामाजिक अनुशासनो को तोडा था और समाज पर बलात्कार करके

अपना स्वेच्छाचारी प्रभुत्व कायम किया था। वे पूर्णतया निरकुश थे और निरकुश होने के कारण ही उन पर समाज का कोई विधि-विधान एव अनुशासन लागू नही होता था। यह बात बाद मे सोचने की है कि राजतत्रो के जन्म एव विकास से सामाजिक प्रगति को बढावा मिला या नही और यदि मिला तो किस मूल्य पर और कितनी मात्रा मे।

फिर भी, राजतत्रो की नि सन्दिग्ध विजय के उपरान्त और जब स्वय राजाओ तथा समाज को यह पूरा विश्वास हो गया कि अब राजतत्र ठहरने के लिए आया है, व्यवस्था एव परिपाटी के रूप मे उसकी विजय हो गई है तथा वह कोई उठाऊ चूल्हा नही रह गया है तो स्वय राजतत्रवादी बुद्धिजीवियो एव राजाओ के लिए यह सोचना अनिवार्य हो गया कि वे राजा का ऐसा आदर्श रूप प्रस्तुत करे जो समाज को मान्य होता चला जाये, समाज का उसके प्रति प्रतिरोध समाप्त हो जाये तथा वह समाज की सामान्य परिस्थितियो मे भी निभाया जा सके। इसके लिए 'मर्यादा पुरुषोत्तमो', 'आदर्श राजाओ' और 'दयालु राजाओ' की कल्पनाएँ की गयी तथा उनके जीवन-चरित्र प्रकाशित किये गये। महामात्य कौटल्य ने जहाँ समाज के प्रत्येक वर्ग एव सस्था की विवेचना की है, स्वय 'आदर्श' एव घृणित राजाओ के सम्बन्ध मे भी विस्तार के साथ विचार किया है। कौटल्य यह समझते थे कि आदर्शहीन एव चरित्रहीन राजा राजतत्र का सबसे बडा अभिशाप एव सकट है और वे निर्भीक हो कर केवल यही भविष्यवाणी कर सकते थे कि उसका पतन अनिवार्य है।

कौटल्य समझते थे कि राजा को काम, क्रोध, लोभ, मान मद और हर्ष की भावनाओ पर नियत्रण करके विद्या तथा विनय का मार्ग ग्रहण करना चाहिए। उन्होने राजाओ को बताया कि केवल भला कहलाने के लिए ही इन सद्गुणो का स्वीकार करना राजा के लिए अनिवार्य नहीं है प्रत्युत् अपने राज्य का अस्तित्व बना कर रखने के लिए अनिवार्य है।

(विद्याविनयहेतुरिन्द्रियजय' कामक्रोधलोभमानमदहर्षत्यागात्कार्य । तद्विरुद्ध-वृत्ति हि रवश्येन्द्रियश्चातुरन्तोऽपि राजा सद्यो विनश्यति)

अर्थात् यदि वह मनमानी करता है एव इन्द्रियाँ उसके वश मे नही हैं तो

वह चक्रवर्त्ती राजा भी क्यो न हो नष्ट हो जाता है। इसके लिए कौटल्य ने स्वेच्छाचारी राजाओ को भयभीत करने के लिए कुछ उदाहरण भी दिये है—

भोज वश का दण्डक्य नामक राजा काम के वशीभूत हो कर ब्राह्मण कन्या के पीछे अपने बन्धु-बान्धवो तथा राज्य के समेत नष्ट हो गया था। वैदेह वश के कुराल नाम का राजा का भी यही हाल हुआ था।

क्रोध से बुद्धि खो कर जन्मेजय ने ब्राह्मणो का तिरस्कार किया था और सर्वश मारा गया था और तालजघ राजा ने भृगुओ पर क्रुद्ध हो कर अपना सर्वनाश किया था।

इला का पुत्र पुरूरवा लोभ के वशीभूत हो कर चारो वर्णो की जनता से क्रूरतापूर्वक कर सग्रह करता था अत मारा गया था। इसी प्रकार सौवीर देश का राजा अजबिन्दु भी।

मानी रावण ने सीता का अपहरण करके लका दहन करवायी तथा अपना सर्वनाश किया तथा दुर्योधन ने भाइयो का भाग दबा कर अपने को नष्ट किया।

मद के कारण डम्भोद्भव नामक राजा और इमी प्रकार हैहयवश का राजा सहस्रबाहु परशुराम के हाथो मारा गया।

हर्ष के वशीभूत हो कर वातापि दानव ने अगस्त्य ऋषि के साथ छेडछाड की तथा वृष्णि (यादव) सघ ने द्वैपायन ऋषि के साथ, वे दोनो ही नष्ट हो गये।

अत राजा को प्रारभ से ही और विद्यार्थी जीवन से ही यह उपदेश दिया जाता था कि वह राजर्षियो जैसा व्यवहार करे। उसे कहा जाता था कि वह वृद्धो के सहवास से अपनी बुद्धि, विकसित करे, गुप्तचरो के सहयोग से अपने और पराये देश की स्थिति देखे, उद्योग द्वारा राजकीय सम्पदाओ मे वृद्धि करे, राजकीय नियमो से प्रजाओ को अनुशासन मे रखे, विद्या के प्रचार से प्रजा को शिक्षित एव विनीत करे, उचित पात्रो मे और न्यायोचित मदो मे धन का व्यय करके प्रजा को अपना अनुगामी बनाये, और प्रजा के हित मे ही अपने वैभव की समृद्धि देखे।

रात दिन सोते रहना, चपलता, मिथ्यावादिता, उद्धत वेश-भूषा और बुरे व्यक्तियो के साथ उठना-बैठना तथा अधर्म और अनर्थ से युक्त आचरण बुरी दृष्टि से देखा जाता था।

काम का सेवन करना बुरा नही माना जाता था—यदि वह अर्थ और धर्म का विरोधी न हो। उसे सुखविहीन जीवन बिताने को नही कहा जाता था। क्योकि धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष के कार्यों मे से अकेला कोई-सा भी यदि अधिक मात्रा मे सेवन किया जाता है तो शेष सभी कुछ नष्ट हो जाता है, सदाचार की यह सर्वमान्य धारण थी। इसीलिए, सन्तुलन रखा जाता था।

फिर भी कौटल्य का यही मत है कि इन चारो मे अर्थ ही प्रधान है। धर्म और काम अर्थ के अभाव मे धरे रह जाते हैं। आचार्य और अमात्यो का जीवन देख कर आदर्श राजा प्रेरणा लेता था एव उनका अनुकरण करता था।

(अर्थ एव प्रधान इति कौटल्य । अर्थमूलौ हि धर्मकामाविति । मर्यादां स्थापयेदाचार्यानमात्यान्वा)

अमात्य और आचार्य प्रमाद के अवसरो पर उसे सावधान करते थे।

राजा को यह बताया जाता था कि जैसे गाडी का एक पहिया दूसरे की सहायता के बिना नही चलता, उसी प्रकार, अमात्य-पुरोहित आदि के सहयोग के बिना अकेला राजा राजतत्र का भार वहन नही कर सकता।

सहायसाध्य राजत्वं चक्रमेकं न वर्त्तते ।
कुर्वीत सचिवांस्तस्मात्तेषां च शृणुयान्मतम् ॥

राजा के उठने के साथ सब भृत्य उठते थे। उसके प्रमाद करते ही सब प्रमाद करते थे और उसका किया-कराया खा जाते थे। शत्रुओ से भी मिल जाते थे। इसलिए, राजा को कडी दिनचर्या के बन्धनो मे बँध कर काम करने की प्रेरणा दी जाती थी और यह परिपाटी बन गयी थी कि आदर्श राजा—दिन के प्रथम भाग मे रक्षा व्यवस्था और अपव्यय देखते थे। दूसरे भाग मे नगरनिवासियो तथा जनपद निवासियो की समस्याओ पर विचार करते थे। तीसरे भाग मे स्नान, भोजन और स्वाध्याय। चौथे मे गत दिवस का शेष धन और उस दिन की आय सभालना तथा अध्यक्षो को देखना। पाँचवे में मन्त्रि-

परिषद् के सदस्यो के साथ पत्र व्यवहार तथा गुप्तचरो के विशेष महत्त्व के समाचार यदि कोई हो। सातवे मे हस्ती, अश्व, रथ एव आयुधो का निरीक्षण। आठवे मे सेनापति के साथ मिल कर विक्रम की चिन्ता, यदि कोई हो। दिन छिप जाने पर सन्ध्योपासन।

रात्रि के प्रथम भाग मे गुढ पुरुषो (विशेष गुप्तचरो) को देखे, दूसरे मे स्नान, भोजन और स्वाध्याय। तीसरे मे तुरी के घोष के साथ उठे और सो जाये एव चौथे तथा पाँचवे भाग मे सोये। छठे भाग मे तुरी की ध्वनि के साथ उठ कर अर्थशास्त्र एव दिन के कार्यो के सम्बन्ध मे सोचे, सातवे भाग मे गूढ बातो पर विचार करे तथा गूढ पुरुषो को भेजे। आठवे मे ऋत्विग् आचार्य और पुरोहित के साथ मागलिक कृत्य करे तथा चिकित्सक, महानसिक (लगर-खाना आदि) को देखे।

इस प्रकार, परम्पराएँ स्थापित करके राजा को उसकी शक्ति एव आव-श्यकताओ के अनुसार इस प्रकार कार्य मे लगाया जाता था कि वह कार्य ही उस पर स्वयप्रेरित अनुशासन का कार्य करता था।

राजा जब उपस्थान (दरबार मे) जाता था तो उसके द्वार खोल दिये जाते थे। पीडितो को राजा से खुल कर फरियाद करने का मौका दिया जाता था और यह माना जाता था कि जो राजा प्रजा को दर्शन नही देता वह उसके साथ न्याय नही करता और उसके विरुद्ध प्रजा मे असन्तोष व्याप्त हो जाता था।

(उपस्थानगत कार्यार्थिनामद्वारासग कारयेत् । दुर्दर्शो हि राजा कार्याकार्य विपर्यासमासन्नं कार्यत् । तेन प्रकृतिकोपमरिवश वा गच्छेत।)

प्रजासुखे सुख राज्ञ प्रजाना च हिते हितम् ।
नात्मप्रिय हित राज्ञ प्रजाना तु प्रिय हितम् ।।

प्रजाओ के सुख मे राजा का सुख है, प्रजाओ के हित मे राजा का हित है। राजा का अपना प्रिय और हित कुछ नही है। प्रजा का हित और प्रिय ही उसका हित एव प्रिय है।

राजमहलो से बाहर का सकट

दमन और हिसा पर आधारित राजतत्र के लिए राजमहलो से बाहर का

सकट भी कम भयानक एव हृदयहीन नहीं होता था। इसमे राजा को प्रत्येक कदम पर सावधान रहना पडता था। दोनो ओर तथा आगे-पीछे पाताल तक पहुँचने वाले गह्वर थे जिनमे पाँव फिसलते ही समाज के शिखर पर बैठा राजा पाताल के कब्रिस्तानो मे पहुँचता था। राजा के प्रति कोप (विद्रोह) दो प्रकार का होता था। एक आभ्यन्तर और दूसरा बाह्य। घर मे रहने वाले सर्प की भाँति आभ्यन्तर कोप बाह्य कोप से भयानक समझा जाता था।

(अहिभयादाभ्यन्तर कोपो बाह्य कोपात्पापीयान्)

आभ्यन्तर कोप भी दो प्रकार का होता था—एक अन्तरमात्य कोप और दूसरा बाह्यामात्य कोप। जो अमात्य राजधानी एव महल मे रह कर कार्य करते थे उनका कुपित होना पहला और जो राजधानी से बाहर राज्य मे दूर कहीं कार्य करते थे उनका कोप दूसरा था। यही कारण है कि राजा प्राय राजकोश और सेना का नियत्रण कभी अमात्यो के हाथो मे नही देते थे।

(तस्मात्कोशदण्डशक्तिमात्मसस्था कुर्वीत।)

इस सकट के निवारण का यही एकमात्र उपाय भी था।

राजतत्र का नियत्रण यदि शास्त्रविहीन और चलित शास्त्र (राजनीति जान कर भी जो स्थिर न रहता हो) राजाओ के हाथो मे आ जाता था तो शास्त्रविहीन राजा ही राजतत्र के लिए कम सकट का कारण समझा जाता था। उसे बुद्धिमान् लोग समझा-बुझा कर सही मार्ग पर ला सकते थे जब कि चलित शास्त्र राजतत्र का वास्तविक सकट बन जाता था।

राज्य का रोगी राजा हो या नया तो नया, ही सकट का बडा कारण माना जाता था। वह अहकार से भरा रहता था। उसे अपनी निजी सम्पत्ति समझता था और अभद्र व्यवहार से प्रजाओ को कुपित कर देता था जब कि रोगी राजा पुरानी परिपाटी के अनुसार एव अमात्य आदि के सहयोग से राज्य का कार्य चलाता रहता था। इसके अलावा, नया राजा बाहरी आक्रमण होने पर या प्रजाओ के विद्रोह करने पर एक ही हमले मे भाग खडा होता था। नया होने के कारण उसे राज्य एव प्रजा से लगाव नही होता था और न प्रजा को उससे।

यदि अभिजात्य वर्ग का निर्बल राजा हो और निम्नकुलीन (अनभिजात्य) राजा बलवान् हो तो दोनो मे से दूसरे को बडा सकट माना जाता था। इसलिए कि कुलीन घर के निर्बल राजा का प्रजा अनुशासन मान लेती थी और निरभिजात्य वर्ग के बलवान के लिए प्रजा को साथ रखना कठिन था।

यदि राजा कामी और क्रोधी होता था तो पहले के मुकाबिले दूसरा सकट का बडा कारण समझा जाता था। प्राय कोप के वशीभूत हो कर ही राजाओ ने प्रजाओ के विद्रोह मे प्रवृत्त किया तथा नष्ट हो गए। कामी राजा व्यक्तिगत रूप से क्षय, व्यसन और बीमारियो से पीडित हो जाते थे। परन्तु राजतत्र का कार्य फिर भी किसी न किसी भाँति चलता रहता था।

इसके अलावा, यह माना जाता था कि कामी राजा प्रभावहीन हो जाता है, उसका तिरस्कार होने लगता है और इसीलिए भविष्य मे एक न एक दिन वह राजतत्र के लिए गभीर सकट का कारण बन सकता है। परन्तु क्रोधी राजा से सभी द्वेष करने लगते है, उसके समर्थको की सख्या घटने लगती है और राजनीतिज्ञ ऐसे राज्य के लिए तत्काल सकट आने की घोषणा कर देते थे।

जो राजा वाणी से दूसरो को अपमानित करता था और दूसरा मीठा बोल कर आर्थिक हानि पहुँचाता था, इन दोनो मे कौटल्य ने दूसरे को बडा सकट माना है। इसलिए कि वाणी का अपमान तो आर्थिक पुरस्कार से भुलाया जा सकता है, परन्तु जो आर्थिक हानि पहुँचाता है, उसे लोग नही भुला पाते।

शारीरिक क्षति पहुँचाने वाले और आर्थिक हानि पहुँचाने वाले राजाओ मे पहले को कौटल्य ने बुरा बताया है। आर्थिक पुरस्कार पा कर भी लोग शारीरिक दण्ड को याद रखते है।

शिकार और जुवा खेलने की बीमारी राजाओ मे आमतौर थी। कौटल्य पहली से दूसरी को बडी बीमारी मानते है जो सम्पूर्ण राज्य को ले डूबती है तथा राजकार्यों से राजा को पूर्णतया विमुख कर देती है। धर्मपूर्वक कमाया धन अधर्म के कार्यों मे व्यय होता है तथा जुवे के खिलाडी मल-मूत्र त्यागने तक से निवृत्त हो कर जिस व्यसन मे फँसते हैं वह उनके स्वास्थ्य एव मनोबल सभी को नष्ट कर देता है।

कौटल्य ने अनेकानेक उदाहरण देते हुए बतलाया है कि किस प्रकार जुवें की लत मे फँस कर बडे-बडे राज्य धराशायी हो गये और प्रभावशाली राजा दर-दर के भिखारी बने।

इसी प्रकार काम, क्रोध, आदि व्यक्तिगत बुराइयो की तुलनात्मक विवेचना करके उस समय के राजनीतिज्ञ राजाओ को इन सकटो से दूर रखने का प्रयत्न करते थे। वस्तुत ये राजाओ के व्यक्तिगत व्यसन न रह कर राजतत्र के सकट का कारण बनते थे।

यदि किसी जनपद या राज्य पर स्वचक्र (अपने देश के राजा) का उत्पीडन हो और किसी दूसरे पर परचक्र (परदेशी राजा) का उत्पीडन हो तो कुछ आचार्य यह मानते थे कि पहले से दूसरा सह्य है। परन्तु कौटल्य परचक्र के उत्पीडन को अधिक असह्य मानते थे और कहते थे कि स्वचक्र के उत्पीडन के विरोध मे राजा, अमात्य, पुरोहित अथवा किसी न किसी से सम्पर्क करके सुविधा ली जा सकती है। वह सभी का समान उत्पीडन भी नही करता। परन्तु परचक्र का उत्पीडन सर्वदेशीय होता है। उसे किसी से कोई सहानुभूति नही होती। वह कर न मिले तो आग लगा सकता है। फसले नष्ट कर सकता है और सर्वनाश कर सकता है। किसी से सहानुभूति की याचना भी नही की जा सकती।

(नेति कौटल्य । स्वचक्रपीडन प्रकृति पुरुष मुख्यपग्रह विघाताभ्या शक्यते वारयितुमेकदेश वा पीडयति । सर्वदेश पीडन तु परचक्र किलोपघात दाह विध्वसनोपवाहनै पीडयतीति)

किसी राज्य की प्रजा मनोरजनो मे आसक्त हो या राजा हो तो कौटल्य दूसरे को अधिक बुरा मानते हैं। प्रजाजन मनोरजनो पर कम खर्च करते है। फिर मनोरजन के बाद हल्के हो कर काम मे लग जाते है। परन्तु राजा के मनोरजन बहुत मँहगे पडते है। उसके नाम पर राजा के चाटुकार प्रजा को लूट लेते है और स्वय राजा राजकोश रिक्त कर देने का कारण बनता है।

सन्निधाता (राजाश को कोश मे जमा करने वाला) और समाहर्त्ता (राजाश का सग्रह करने वाला) यदि ये दोनो बेईमान हो जाएँ तो कौटल्य दूसरे को अधिक भयानक मानते हैं। सन्निधाता राजकोश मे से ही कुछ अपहरण कर सकता है

जिसे पकड़ना सरल है। परन्तु समाहर्त्ता तो प्रजाजनो से ही राजाश की भाँति अपना अश इकट्ठा करवाने लगता है तथा राजा के प्रति प्रत्यक्ष विद्रोह की भावना उत्पन्न करता है।

यदि सीमान्त रक्षक अधिक शुल्क आदि ले कर तथा व्यापारी अधिक महँगा बेच कर राजतत्र के लिए सकट उत्पन्न करते थे तो कौटल्य ने दूसरे को अधिक असह्य बताया है। सीमान्त रक्षक तो दस पण का ग्यारह पण ले सकते थे। परन्तु व्यापारी एक पण मूल्य पर सौ पण और एक घडे पर सौ घडे मूल्य बढा सकते है।

(वैदेहकास्तु सभूय पण्यानामुत्कर्षापकर्ष कुर्वाणा पणे पणशत कुम्भे कुम्भ-शतमित्याजीवन्ति)

जब सेना मे निम्नलिखित ३४ प्रकार के व्यसन आ जाते थे तो वह स्वय राजतत्र के लिए सकट समझा जाता था—

अमानित, विमानित, (तिरस्कृत) अमृत (जिसका अच्छा भरण पोषण न हो) व्याधित, नवागत, दूरायात (दूर से चल कर आई हुयी) परिश्रान्त, परि-क्षीण (जिसका कोई हिस्सा नष्ट हो गया हो) प्रतिहत (युद्ध मे पिटी हुई) हताग्रवेग (जिसका अग्रिम जत्था खेत आया हो) अनृतु प्राप्त, अभूमि प्राप्त, आशा निर्वेदी (हताश) परिसृप्त (नेताविहीन) कलत्रगर्ही (स्त्री निन्दक) अन्त शल्य (हृदय मे द्वेष रखने वाली) कुपित मूल (अपनी टुकडी के मुखिया से असन्तुष्ट) भिन्न गर्भ (जिसमे आपसी एकता न हो) अपसृत (किसी एक मोर्चे से भागी हुई) अतिक्षिप्त (कई मोर्चों से भागी हुई) उपनिविष्ट (शत्रु के सन्नि-कट मोर्चों पर रहने वाली) समाप्त (शत्रु के साथ ही ठहरने और आक्रमण करने वाली) उपरुद्ध (एक ओर से घिरी हुई) उपक्षिप्त (चारो ओर से घिरी हुई) छिन्न धान्य (जिसके रसद आने का रास्ता कट गया हो) छिन्न पुरुष वीवध (रसद लाने वाले व्यक्तियो से सम्पर्क टूट गया हो) स्वविक्षिप्त (अपने ही देश मे इधर-उधर भटकती हुई) मित्रविक्षिप्त (मित्रदेश मे भकटकती हुयी) इष्टा-युक्त (शत्रु के भेदियो के समेत) दुष्टपार्ष्णिग्राह (पीछे से हमला करने वाले शत्रु के भेदिये जिसमे हो) शून्यमूल (राजधानी की रक्षा के लिए बचा कर रखी गई थोडी सी सेना) अस्वामिसहत (राजा और सेनापति से विहीन) भिन्नकूट

(जिसका मुखिया बिगड गया हो) और अन्ध (जो युद्ध के सम्बन्ध मे कोई जान-कारी न रखती हो।)

सेना मे ये व्यसन गम्भीर माने जाते थे। परन्तु साथ ही कौटल्य ने यह बताया है कि किन परिस्थियो मे एक-दूसरी की तुलना मे ये सेनाएँ भी राज्य की रक्षा एव विस्तार के काम मे आ सकती है।

इसके अलावा, सेनाओ के सम्बन्ध मे तत्कालीन भारत मे कुछ विचित्र परम्पराएँ तथा मान्यताएँ थी। कौटल्य से पहले के आचार्य सेना मे ब्राह्मण सैनिको को सर्वश्रेष्ठ मानते थे। परन्तु कौटल्य ने ब्राह्मण सैनिको का परिहास करते हुए कहा कि एक बार शत्रु के प्रणाम करते ही ब्राह्मण का सारा तेज क्षीण हो जाता है।

(प्रणिपातेन ब्राह्मणबल परोऽभिहारयेत्)

वैसे चारो वर्णों के लोग उस समय समान रूप से सेना मे भर्ती होते थे।

जैसा कि पहले भी लिखा जा चुका है मत्री, पुरोहित, सेनापति और युवराज के विद्रोह को अन्त कोप कहा जाता था। यदि राजा यह समझता था कि यह विद्रोह उसके अपने दोषो के कारण उत्पन्न हुआ है तो उसे दूर करके स्थिति सभाल लेता था। परन्तु यदि उन्ही की महत्वाकाक्षा आदि इसके कारण होते थे तो उन्हे उचित दण्ड दे कर सीधा कर लेता था। महापराध करने पर भी पुरोहित को केवल बन्दी बनाया जा सकता था या देशनिकाला दिया जा सकता था। उसका वध करना वर्जित था। युवराज को भी यही दण्ड दिया जाता था। हाँ, यदि दूसरा गुणवान् राजपुत्र होता था तो उसे प्राणदण्ड भी दिया जा सकता था। इन्ही दोनो की भाँति मत्री तथा सेनापति के साथ व्यवहार किया जाता था। यदि मत्री और सेनापति ब्राह्मण होते थे तो मृत्युदण्ड के अलावा उन्हे सब दण्ड दिये जा सकते थे।

अन्तरमात्य कोप की श्रेणी मे ही वे विद्रोह भी आते थे जिन्हे दौवारिक (मुख्य स्वागत अधिकारी) अन्तर्वंशिक (रनवास के सरक्षक सेनाधिकारी) और ऐसे ही अन्य मुख्य अधिकारी करते थे। उन्हे भी पूर्वोक्त उपायो से तत्काल शान्त करने के उपाय काम मे लाये जाते थे।

बाह्य कोप निम्नलिखित माने जाते थे—

राष्ट्रमुख (पुलिस शक्ति का मुख्य अधिकारी जो कानून एव व्यवस्था की रक्षा करता था) अन्तपाल (सीमान्तो की रक्षक सेना का मुख्य अधिकारी) आटविक (जगलो की सुरक्षा सेना का सेनापति) और दण्डोपनत (बलपूर्वक अपने नियत्रण मे रखा हुआ विद्रोही सामन्त) ये सब अधिकारी आपस मे मिल कर या पृथक्-पृथक् जो राजविद्रोह सगठित करते थे वह बाह्य कोप कहलाता था। राजा या तो इन्हे आपस मे सघर्षरत करके इनकी शक्ति नष्ट करता था, अथवा मुख्य सेना भेज कर इन्हे दबाता था या उनके विश्वासपात्र राज-अधिकारियो से सम्पर्क करवा कर उन्हे शान्त कर देता था। परन्तु प्रत्येक स्थिति मे, इन विद्रोहियो को मुख्य शत्रु राजा के साथ सम्पर्क करने से रोका जाता था।

यद्यपि राजतत्र के अन्तर्विरोधो के कारण कदम-कदम पर उसमे सकटो तथा विद्रोहो का सामने आना स्वाभाविक था, फिर उस समय के राजनीतिज्ञ यही मानते थे और इसमे सत्याश भी था कि—सन्धि, विग्रह आदि ६ गुणो का गलत प्रयोग होने से राज्य के सामने ये सकट आते है। इसीलिए कौटल्य ने अर्थशास्त्र के ६वे अधिकरण मे विस्तार के साथ इस बात पर विचार किया है कि कौन से गुण के स्थान पर किसी दूसरे गुण के प्रयोग से क्या सकट उत्पन्न हो सकता है और वह कैसे शान्त किया जा सकता है।

उसमे इस बात पर भी बडे धैर्य के साथ विचार किया गया है कि यदि नगरो तथा जनपदो के गण्य-मान्य नागरिक राजा के विरुद्ध विद्रोह मे सम्मिलित हो जाते हैं तो धैर्यशाली राजा को कौन से गुण का आश्रय लेना चाहिए तथा साम, दाम, दण्ड और भेद की नीतियो मे से किसका प्रयोग करना चाहिए। प्रत्येक स्थिति मे कौटल्य ने राजा को सलाह दी है कि इन गण्यमान्य नागरिको एव जनपद निवासियो के विरोध मे दण्ड का सहारा नही लेना चाहिए। यदि दण्ड का प्रयोग किया जाता है तो उसका कोई सुपरिणाम नही निकल सकता एव उससे दूसरा अनर्थ भी खडा हो सकता है।

(दण्डो हि महाजन क्षेप्तुमशक्य । क्षिप्तो वा तचार्थं न कुर्यात् । अन्य चानर्थमुत्पादयेत्)

यहीं कौटल्य ने राजा को यह चेतावनी भी दी है कि आमतौर पर मत्री, पुरोहित, सेनापति और युवराज तभी विद्रोह के लिए तैयार होते हैं जब स्वय राजा काम, क्रोध लोभ एव मद के वशीभूत हो जाता है। उसकी निरकुशता स्वेच्छाचारिता अन्त कोप सगठित करने की उत्तेजना देती है तथा सन्धि विग्रह आदि गुणो (नीतियो) का गलत प्रयोग अन्तपाल, अरण्यपाल आदि को उत्तेजित करके बाह्य कोप का कारण बनता है।

(कामाविदस्सेका स्वाः प्रकृति कोपयति । अपनयौ बाह्याः । तदुभयमासुरी वृत्ति । स्वजनविकारः कोप)

इस सम्बन्ध में कौटल्य ने राजाओ को नेक सलाह देते हुए कहा है कि—

तस्मान्नोत्पादयेदेनान् दोषान् मित्रोपघातकान् ।
उत्पन्नान्वा प्रशमयेद् गुणैर्दोषोपघातिभि ॥
यतोनिमित्त व्यसन प्रकृतीनामवाप्नुयात् ।
प्रागेव प्रतिकुर्वीत तन्निमित्तमतन्द्रित ॥

राजा अपने मे वे दोष पैदा न होने दे जो मित्रो को दूर भगाते हैं। यदि हो भी जाए तो उन दोषो को दबाने वाले गुण पैदा करके शान्त कर दे।

जिस कारण से अमात्य सेनापति आदि प्रकृतियां विद्रोह करने को बाध्य होती हैं उसे पहले ही सावधान हो कर दूर कर देना चाहिए।

महामात्य कौटल्य के ही शब्दो का उद्धरण करते हुए इस पूरे अध्याय मे सामन्ती अर्थव्यवस्था एव राजतत्र के सकट के सम्बन्ध मे यह दिखाया गया है कि यह व्यवस्था किस प्रकार पूरे समाज का प्रतिरोध करके उसके कन्धो पर चढी हुई थी और एक दो शताब्दियो तक नही प्रत्युत् हजारो वर्षों तक चढी रही। सकट आते थे, उनका प्रतीकार कर दिया जाता था, या वे राजतत्र के एक कुल का अन्त कर देते थे और उसके स्थान पर उससे भी अधिक आतताई कोई दूसरा सामन्त राजतत्र का झण्डा फहराने लगता था।

परन्तु उसके सकट और अन्तर्विरोध न तो दूर हुये और न हो सकते थे। आज विश्व मे समाजवादी क्रान्तियो के विजय अभियान के साथ वे राजतत्रो की चिताओ मे उसके साथ ही जल रहे है तथा मानव मुक्ति की उमगो के साथ उनका धुवां आकाश मे मडरा रहा है।

उपसहार

मध्ययुगीन भारत और राजतन्त्र के सस्मरण

आज बीसवी सदी मे २६ सौ वर्ष पुराने इतिहास तथा घटनाओ के सम्बन्ध मे सस्मरण लिखना बडा विचित्र शेखचिल्लीपन-सा प्रतीत होता है। कोई भी व्यक्ति इसे कल्पनाओ के घोडो पर सवारी गाँठने की सज्ञा दिये बिना नही रह सकता।

परन्तु जो घटनाएँ जितनी महान् और युगान्तरकारी होती हैं, उनके व्यापक प्रभाव का बोध भी सैकडो-हजारो वर्षों के उपरान्त ही हो सकता है। कौटल्य कालीन भारत, करवट लेता हुआ और एक महा । राष्ट्र के रूप मे पहली बार विशाल भारत के रूप मे जो उदय हुआ था, उसकी राजनीतिक, भौगोलिक तथा आर्थिक स्थितियो का मूल्याकन वे लोग कैसे कर सकते थे जो उन घटनाओ का अग थे और उनकी लहरो के साथ ही साथ उतार-चढाव के शिकार हो रहे थे।

सारांश

जो लोग यह समझते हैं कि हम जिस समाज मे रह रहे हैं वह सनातन काल से इसी रूप मे चला आ रहा है एव अनन्तकाल तक उसका यही रूप बना रहेगा उन्हे इन अध्यायो के पढने से यह आभास मिल गया होगा कि समाज कितनी तेजी के साथ बदल जाता है और बदलने की यह प्रक्रिया कभी विश्राम नही लेती।

भारत मे खेती का विकास आकस्मिक ढग से नही हुआ। आज से कुछ वर्ष पहले तक जब कारखानो, बैंको, यातायात-साधनो तथा आधुनिक मशीनो का आविष्कार नही हुआ था, सभी लोग यह मानते थे कि खेती सामाजिक अर्थतत्र का मूल-आधार है। परन्तु आज विकसित पूँजीवादी देशो मे एव समुन्नत समाजवादी व्यवस्थाओं मे जहाँ कृषि से भिन्न आर्थिक शाखाएँ राष्ट्रीय आय का मूल आधार होती हैं, कृषि अर्थतत्र को समाज सर्वोपरि स्थान देने को तैयार नही होता।

इसी प्रकार, कौटल्य कालीन भारत की सामाजिक रूपरेखा पर विचार करते समय इस पुस्तक मे सबसे पहले उसके आर्थिक विकास पर विचार किया गया है। कौटल्य से पहले के भारत मे खेती सामाजिक पैदावार और जीविका का मुख्य साधन नही थी। इससे पहले का भारतीय समाज हजारो वर्षों तक दो भिन्न प्रकार की आर्थिक व्यवस्थाओ के युग से गुजरा था। पहली व्यवस्था आदिम साम्यवाद की थी जिसे हम भारतीय लोग वैदिक साम्यवाद का नाम दे सकते है। यह बडे आश्चर्य की बात है कि यद्यपि लम्बे युग बीत गये है और इस बीच बहुत-सी व्यवस्थाएँ आयी और चली गयी, फिर भी, वैदिक के युग साम्यवाद की मीठी कल्पनाएँ और मधुर स्मृतियाँ कभी भारतीयो के मन से उतर नही पाती। बाद के सिद्धान्तकारो ने यह स्वीकार किया है कि प्रत्येक देश मे सामाजिक विकास की विशेष व्यवस्था के रूप मे आदिम साम्यवाद या कबीला युग की प्रथा किसी न किसी रूप मे पायी जाती है। परन्तु आज विकसित समाज

की व्यवस्था मे रहते हुए भी करोडो भारतीयो के मन पर वैदिक साम्यवाद की जो छाप पडी है, वैसी छाप दूसरी किसी भी आदिम साम्यवादी व्यवस्था की किसी देश मे नही है। सम्पूर्ण ऋग्वेद और आमतौर पर उसके बाद के तीनो वेद आदिम साम्यवादकालीन भारत का अमर सगीत हैं। वास्तव मे यह मानव जीवन के उषाकाल का अमर साहित्य है।

आदिम साम्यवादी व्यवस्था की आर्थिक रूपरेखा क्या थी ? मानव समाज मे पैदावार के साधनो का समुन्नत विकास नही हो पाया था। सम्पूर्ण प्रकृति, धरती और आकाश रहस्यो से भरे हुए प्रतीत होते थे। मानव समाज शैशवकालीन अवस्था मे था और उसके जिज्ञासा भरे प्रश्न बच्चो का कौतूहल तथा भोलापन प्रकट करते थे। जब समाज अपने वयोवृद्धो से, जिन्हे वह ऋषि कहता था, विभिन्न प्रश्न करता था तो वे ऋषि वैज्ञानिक भाषा मे नही प्रत्युत् काव्यमय भाषा मे प्रश्नो का समाधान करते थे। वे गद्गद होकर कहते थे **"पश्यदेवस्यकाव्य न ममार न जीर्यति"** (देव का काव्य देखो न मरता है, न जीर्ण होता है)।

जब अधिक जिज्ञासाएँ सामने आती थी और कौतूहलपूर्ण समाज किसी निश्चित उत्तर के लिए आग्रह करता था तो ऋषि दम्भी तथा अहकारी बनकर झूठ नही बोलते थे प्रत्युत् 'नेतिनेति' कहकर उसकी जिज्ञासा कायम रखते थे। उनके पास रहने के मकान नही थे, उदरपूर्ति का कोई निश्चित साधन नही था। शरीर ढकने के लिए वस्त्रो का अभाव था और वे समूह के रूप मे निर्जन बनो मे चक्कर काटते हुए कही वृक्षो के फल इकट्ठे कर लेते थे, कही कन्द और मूल का सचय कर लेते थे तथा कभी ऐसे पशुओ को घेरकर आखेट कर लेते थे जो उनके तत्कालीन हथियारो के अनुरूप थे।

वैज्ञानिक समाजशास्त्री इस समाज व्यवस्था का नाम कौटुम्बिक समाज व्यवस्था रखते हैं। इसमे पैदावार या जीवका का मुख्य साधन पशुपालन था। पशु सबसे बडा धन समझा जाता था। परन्तु यह धन व्यक्तिगत सम्पत्ति के रूप मे न होकर पूरे समूह या कबीले की सम्पत्ति समझा जाता था। यह कुल या कबीला अपने झुण्ड के पशुओ के साथ एक स्थान से दूसरे स्थान पर

भटकता फिरता था जहाँ उसके पशुओ के लिए चरने को हरी भूमि तथा पीने का पानी मिल जाता था, जिस कुल के पास जितने अधिक पशु होते थे वह उतना ही समृद्ध समझा जाता था। ये कुल एक दूसरे कुल के पशुओं का अपहरण करते थे एव आवश्यकता पडने पर एक दूसरे के साथ पशुओ के लिए युद्ध भी करते थे। आदिम साम्यवादी युग का पूरा इतिहास पशुपालन, पशुओ के अपहरण, पशुओ के लिए युद्ध तथा उनके सरक्षण का इतिहास है। वैदिक साम्यवादी युग के नागरिको का सबसे बडा देवता वही था जो उनके खोए हुए पशुओ का पता बता दे और उनकी रक्षा करे।

स्पष्ट है कि जिस समाज व्यवस्था का आर्थिक मूल आधार पशुपालन था उसका सामाजिक और सास्कृतिक रूप बहुत सीधा-सादा और प्राकृतिक ही हो सकता था।

पशुपालन के लिए अनिवार्य रूप से अपेक्षित हरी भूमि ने विभिन्न कुलो के मनो मे अपने लिए आकर्षण पैदा किया। एक कबीला दूसरे कबीले के अधिकार मे आयी हरी भूमि को अपने अधिकार मे करने के लिए युद्ध करता था, भूमि तथा पशुओ पर अधिकार कर लेने के बाद वह पराजित कुल की स्त्रियो तथा पुरुषो पर भी अधिकार कर लेता था। कुछ देशो मे यह परिपाटी प्रचलित थी कि पराजित कुल के व्यक्तियो को उत्सव के रूप मे बलि चढा कर कबीले के लोग खा जाते थे। परन्तु भारतवर्ष मे इसके प्रमाण नही मिलते।

पराजित कबीले के पुरुष और स्त्रियाँ विजेता कुल के पशुओ का पालन करते थे एव उनकी स्त्रियाँ तथा पुरुष दास बना लिए जाते थे। ये दास और दासियाँ विजेता कुल के लिए काम करते थे। इससे विजेता कुल के व्यक्तियो का जीवन अधिक सुविधाजनक हो जाता था और इन निठल्ले लोगो ने मानव सभ्यता एव कला की प्रथम रचना की थी। इस युग में आर्थिक प्रगति का मुख्य साधन दास थे। कबीले एक दूसरे को दास बनाने के लिए आपस मे युद्ध करते थे। पहले एक कबीला हारे हुए कबीले का स्वामी होता था। परन्तु बाद मे ऐसी स्थिति पैदा होती गयी कि विजेता और विजित दोनो ही कबीलो पर कुछ प्रभावशाली व्यक्तियो का प्रभुत्व

स्थापित हो गया। इन्हे स्वामी कहते थे। भारतवर्ष मे इन स्वामियो के सैकडो हजारो राज्य थे। अजन्ता और एलोरा की गुफाएँ तथा मोहनजोदडो हडप्पा सभ्यता के नमूने इन्ही दासो की कलाकृतियाँ हैं जिन्हे उन्होने अपने स्वामियो के कोडे खा-खा कर रचा था। इन दासो को बाजार मे बेचा जा सकता था, उन्हे पुरस्कार स्वरूप भेंट दिया जाता था, क्रोध आने पर स्वामी उनकी हत्या कर सकता था, वह उन्हे कोडो की मार दे सकता था एव गर्म लोहे से दाग सकता था। समाज मे ऐसा कोई कानून प्रचलित नही था जिसकी दुहाई देकर दास अपने स्वामियो के खिलाफ न्याय की भीख माँग सकते। समाज मे यह कानून प्रचलित था कि कोई दास अपने मालिक के खिलाफ विद्रोह करके भाग खडा होता था तो राज्य उसे ढूँढ कर मालिक के सुपुर्द कर देता था। समाज मे एक ओर तो मुट्ठी भर मालिक थे और दूसरी ओर करुणक्रन्दन एव आर्तनाद करते बहुसख्यक दास थे। कोई यह कल्पना तक नही कर सकता था कि दासो के न रहने पर कोई समाज व्यवस्था कायम भी रह सकती है। इसलिए कि सभी कुछ और समाज का पूरा कार्यकलाप दासो की शक्ति पर निर्भर करता था।

जैसा कि ऊपर बताया गया है भारत मे दूर-दूर तक दास स्वामियो के राज्य थे। उसमे समाज का यह आर्थिक प्रश्न छिपा नही रह जाना चाहिए कि दास अपने स्वामियो के लिए केवल पशुपालन का ही काम नही करते थे। उन्होने खेती के विकास मे भी, प्रारम्भिक कदम उठाये थे। दासो की श्रम शक्ति की कोई कीमत नही थी। मालिक उन्हे बेकार भी बैठने नही देते थे। विशेष ऋतुओ के अवसरो पर जब यह देखा जाता था कि कुछ अवसरो पर विशेष प्रकार के पौधे उगते हैं एव ऋतु विशेष मे उनके फल या बीज पककर झड जाते है तो स्वाभाविक तौर पर उनमे यह जिज्ञासा पैदा हुई होगी कि इन फलो और बीजो को खाकर क्यो न देखा जाये तथा जिन ऋतुओ मे विशेष ये पौधे उगते हैं क्यो न उन्हे बोकर देखा जाये। इस प्रकार के प्रयोगो के उपरान्त कदाचित् हजारो वर्षों के पश्चात् आधुनिक खेती का बीजारोपण हुआ होगा। जिस दिन समाज मे यह चेतना पैदा हुई होगी कि खेती से

जीविका के साधन बटोरे जा सकते हैं उस दिन समाज का पूरा आर्थिक दृष्टि-कोण ही बदल गया होगा।

दास स्वामियो के राज्य, जो अजेय प्रतीत होते थे, इसके कृषि आर्थिक पक्ष के समाज मे प्रवेश करते ही, हिलने लगे। वैदिक साम्यवादी काल की एक ही मीठी यादगार बाकी थी कि मनुष्यो मे सामाजिक समानता थी। दास प्रथा के युग मे यद्यपि आर्थिक सुविधाएँ अपेक्षाकृत अधिक थी, परन्तु दासो और उनके स्वामियो के बीच बँटे हुए समाज मे निरन्तर क्लेश एव यातना का बोलबाला था। इसके उपरान्त जब खेती का प्रारम्भिक विकास हुआ तो एक ओर तो समाज मे अनिश्चितता की आशकाएँ दूर हुईं और दूसरी ओर इस आशा ने समाज को भरपूर कर दिया कि अब जीवन प्रकृति पर निर्भर नही रहेगा। बल्कि अधिक ठोस एव भरोसे का आर्थिक साधन मिल जाने से जीवन का सर्वांगीण विकास किया जा सकता है।

खेती के विकास के साथ ही समाज के सामने सैकडो प्रकार की नयी समस्याएँ सामने आकर खडी हो गयी। भूमि के प्रति समाज का दृष्टिकोण ही बदल गया। अब उसका महत्त्व केवल पशुओ की दृष्टि से बाकी नही रह गया था। इसके अलावा, पशुपालन का पुराना दृष्टिकोण भी अब अनुपयोगी हो चुका था। जो पशुपालन केवल दूध और मास के लिए लाभदायक समझा जाता था, अब खेती मे पालतू जानवरो की उपयोगिता का बोध होने के बाद पशुपालन का अतिशय महत्त्व बढ चुका था और उसका दृष्टिकोण ही भिन्न हो गया था। अब प्रत्येक कुल (कबीला) पशुओ, चरागाह तथा दासो के लिए सघर्ष न करके खेती के उपयोग मे आने वाली भूमि के लिए सघर्षशील था। पूरा समाज और प्रत्येक व्यक्ति खेती का विकास करने की ओर लाला-यित था।

परन्तु खेती के विकास मे पुराना आर्थिक, सामाजिक और राजनीतिक ढाँचा मुख्य बाधा थी। दासो के स्वामी, जिनके अत्यन्त सकुचित स्वार्थ थे और जिनका सामाजिक दृष्टिकोण अत्यन्त सीमित था, खेती के विकास का कष्टदायक एव महान् अभियान नही चला सकते थे। इसी प्रकार दूसरी

और विशाल सामाजिक शक्ति जिसे दास कहा जाता था और जिसे पैदावार बढाने मे कोई व्यक्तिगत रुचि नही होती थी, इस कष्टदायक काम मे प्रवृत्त क्यो होती ? यही कारण है कि पूरा समाज पुरानी व्यवस्था के विरुद्ध विद्रोह पर उतर आया। समाज के सामने केवल दो विकल्प रह गये थे। या तो वह दास प्रथा के चौखटे मे, जिसमे कौटुम्बिक व्यवस्था के प्रबल अवशेष विद्यमान थे, बना रहे और नवीन सामन्ती अर्थव्यवस्था के विकास को रोक दे अथवा उस चौखटे को तोडकर सामन्ती अर्थव्यवस्था के अनुरूप एक नयी आर्थिक व्यवस्था का पुनर्गठन करे। इसमे सन्देह नही है कि जिन वर्गों का पुरानी अर्थव्यवस्था मे स्वार्थ बँधा हुआ था, उन्होने सामन्तवादी क्रान्ति के विरोध मे अपना सर्वस्व दाँव पर लगा कर प्रतिक्रान्ति सगठित की। परन्तु सनातन काल से यह परिपाटी चली आयी है कि नयी और पुरानी अर्थव्यवस्थाओ के सघर्ष मे सदा ही नयी शक्तियाँ विजयी होती रही है। ऐसा केवल इसीलिए होता था कि पुरानी व्यवस्था के पास समाज को देने के लिए कुछ शेष नही रह जाता था जब कि नयी व्यवस्था नयी सामाजिक आकाक्षाओ का आश्वासन लेकर आती थी।

इस पुस्तक मे सामन्ती अर्थव्यवस्था के विजय अभियान की रूपरेखा का चित्रण किया गया है।

सामन्तवाद ने सबसे पहले अपने मूल आर्थिक विकास के प्रयास किये। दासप्रथा के युग मे अछूती भूमि का कृषि के अन्तर्गत लाना उसका मुख्य कार्य था। यह स्पष्ट है कि जगलो का काटना और उस भूमि को खेती के अन्तर्गत लाना मनुष्यो के व्यक्तिगत प्रयासो से सभव नही था। इसीलिए राज्य की ओर से जगल काटे गये। विशाल राजकीय कृषि फार्म सगठित किये गये, सहकारी कृषि फार्मों का जाल फैलाया गया। इन राजकीय फार्मों मे दासो, कर्मकरो, (दैनिक मजदूरो) राजबन्दियो तथा दस्तकारो से काम लिया जाता था। स्पष्ट है कि दास सामन्ती अर्थव्यवस्था के अनुरूप नही थे। जब तक कृषि कार्य मे सलग्न व्यक्तियो मे व्यक्तिगत रुचि पैदा नही की जाती तब तक कठिन कृषि का अग्रसर होना सभव नही समझा गया। इसीलिए

दासप्रथा पर रोक लगायी गयी। दासों मे कृषि के प्रति रुचि उत्पन्न करने के लिए उन्हे बटाईदार और पट्टेदार बनाया गया। कृषि भूमि राजकीय कृषि फार्मों से बाहर निकालकर व्यक्तिगत किसानो को लगान एव पट्टे पर दी गयी। घुमन्तू समाजव्यवस्था पर रोक लगा कर जनसख्या को बस्तियो मे (ग्रामो तथा नगरो मे) आबाद किया गया। इसके लिए नये उपनिवेश बसाये गये। राजव्यवस्था के सुचारु सचालन के लिए किसानो आदि पर भूमिकर आदि की व्यवस्था की गयी। खेती मे सिचाई की व्यवस्था कर दी गयी और इसके लिये जलाशयो तथा जल प्रतोल्नियो का प्रबन्ध किया गया। इस अर्थव्यवस्था की रक्षा के लिए सीमान्तो पर चौकियाँ कायम की गयी। अरण्यपाल राजकीय वनो का सरक्षण एव देखभाल रखते थे। जो लोग अपने खेतो मे पूरी पैदावार नही करते थे राज्य उनसे भूमि लेकर दूसरो को दे देता था।

इस प्रकार पूरा समाज कृषि अर्थतत्र के विकास मे दत्तचित्त था। ऐसा प्रतीत होता था कि जैसे भारत देश की एक-एक इच भूमि कृषि के अन्तर्गत लाय बिना यह समाज चैन से नही बैठेगा। पुरानी अर्थव्यवस्था मे केवल दास ही कर्त्ता-धर्त्ता थे और पूरा समाज अपना पेट भरने के लिए शिकारी बनकर कभी बन्दरो की भाँति पेडो के फल तोडने के लिए उछलकूद किया करता था, कभी सैकडो व्यक्ति किसी हिरण को मारने के लिए हाथ मे डण्डे लिये उसे घेरते फिरा करते थे, कभी सेह की भाँति अपना पेट भरने के लिए पौधो और लताओ की जडे खोदते फिरते थे और कभी जलाशयो मे मछलियाँ पकडने के लिए उछलकूद किया करते थे और उनका पूरा जीवन जगली जानवरो जैसा बना हुआ था किन्तु अब उनके चेहरो पर आशा एव स्थिरता की नयी किरण चमक उठी थी।

कृषि अर्थतत्र का विकास क्या हुआ, पूरा समाज नयी आर्थिक हलचलो से भरपूर हो गया। यह आर्थिक विकास का पुराना नियम है कि जब समाज किसी नयी आर्थिक प्रणाली को स्वीकार करता है तो उस मूलाधार के चारो ओर केन्द्रित होकर हजारो प्रकार की आर्थिक उपशाखाएँ जन्म लेती एव विकसित

होती हैं। ये आर्थिक उपशाखाएँ आमतौर पर मुख्य आर्थिक शाखा की पूरक एव सहायक के रूप मे समाज मे काम करती है। कृषि अर्थतत्र के विकास ने, जो कि समाज की मुख्य आर्थिक प्रणाली थी, धातु उद्योग को प्रोत्साहन दिया। नयी स्थापत्य कला ने समाज मे प्रवेश किया। नये काष्ठ उद्योग ने समाज को चमत्कृत किया तथा वस्त्र उद्योग अपने नये-नये रूपो मे अवतरित हुआ। इस प्रकार सैकडो प्रकार के शिल्पकार, दस्तकार, एव दूसरे उद्योग धन्धो मे लगे हुए वर्ग एव व्यक्ति समाज मे चहल-पहल करने लगे। प्रतीत यह होता था कि लोगो के पास काम करने वालो की कमी है न कि काम की। पूरे समाज का आर्थिक ढाँचा एक-दम बदल गया।

कृषि अर्थतत्र के विकास के परिणामस्वरूप जब लोगो के पास अतिरिक्त (सरप्लस) उत्पादन होने लगा तो प्रारम्भिक विनिमय प्रथा ने वाणिज्य एव व्यापार प्रथा का आविष्कार किया। हजारो व्यक्ति माल से लदे हुए पोत एव भारी नौकाए लेकर नदियो, महानदियो स्थल मार्गों तथा जल-मार्गों मे विचरण कर रहे थे और इस प्रकार सामन्ती कृषि अर्थव्यवस्था ने व्यापार द्वारा भारत का सम्बन्ध देश देशान्तरो के साथ जोडा। इस व्यापारिक सम्बन्ध ने दूसरे देशो के साथ केवल आर्थिक सम्बन्ध ही नही कायम किये प्रत्युत् सास्कृतिक योगदान भी किया और रिस्ते कायम किये। इस प्रकार भारतीय सस्कृति का दूसरे देशो की सस्कृतियो के साथ घनिष्ठ सम्पर्क कायम हुआ और इस सम्पर्क ने उसे और भी समृद्ध किया।

यह सर्वमान्य सिद्धान्त है कि जब किसी देश की अर्थव्यवस्था बदल जाती है तो उस मूल प्रवृत्ति के आधार पर समाज का राजनीतिक, सास्कृतिक, सामाजिक और दार्शनिक रूप भी बडी तेजी के साथ बदलता है। इसी के परिणाम स्वरूप सामन्ती अर्थव्यवस्था ने भारत मे प्रचण्ड राजतत्र को जन्म एव प्रोत्साहन दिया। जिन राजतत्रो का पहले ज्ञान तक नही था उनका वैभव कृषि अर्थतत्र के विकास के साथ-साथ भारतीय क्षितिज पर चकाचौंध पैदा करने लगा। एक महाराजाधिराज की छत्रछाया मे सैकडो राजा एव सामन्त काम करते थे। इन राजाओ के राज्यो के विस्तार को लेकर परस्पर

युद्ध होते रहे जिसमे कुछ राजा उसके मित्र एव सहयोगी होते थे। कुछ से उसकी मुख्य शत्रुता होती थी। कुछ शत्रु के मित्र होते थे। कुछ उसके मित्र के मित्र होते थे। कुछ राजा इन सघर्षों मे तटस्थ बने रहते थे और इस प्रकार एक बहुत जटिल वैदेशिक राजनीति ने पदार्पण किया था। इस वैदेशिक नीति का अनुसरण करते हुए यदि कोई राजा भूल कर बैठता था तो उसका सर्वनाश निश्चित होता था और न यह सम्भव ही था कि कोई राजा अकेला ही इन जटिल विदेश नीति की समस्याओ का समाधान स्वय ढूंढ़ सके। इसके लिए योग्य अमात्यो एव अमात्य परिषद् की नियुक्ति अनिवार्य होती थी।

जिस समाज व्यवस्था मे राज्यों के विस्तार तथा आत्मरक्षा की समस्या नगी तलवार की भाँति हर घडी सिर पर टँगी रहती थी वहाँ बल प्रयोग के बिना राजतत्र का अस्तित्व असभव था। इसीलिए, राजतत्र के विकास के साथ-साथ सैनिक सगठनो को अतिशय महत्त्व दिया जाता था। यही कारण है कि राजतत्र का अस्तित्व सैनिक बल पर आश्रित समझा जाता था। जिसकी जितनी प्रबल, सेना होती थी वह उतना ही प्रभावशाली राजा समझा जाता था। इस आवश्यकता ने हथियारो, सैन्य सगठन, और युद्ध कला को जन्म दिया।

पुराने, दासो वाले समाज मे जो सामाजिक सगठन थे वे इस जटिल सामन्ती समाज के लिए सर्वथा अनुपयुक्त समझे जाने लगे। किसी समाज मे यदि व्यक्तियो के कर्त्तव्य बढ जाते हैं तो उसी मात्रा मे अधिकार भी बढते हैं। दास प्रथा वाले समाज मे बहुसख्यक मानव समुदाय के कोई अधिकार नही थे। परन्तु उसी मात्रा मे उनके कर्त्तव्य भी बहुत सीमित थे। सामन्ती अर्थव्यवस्था ने और उसके सचालक राजतत्र ने जब मानव समुदाय के लिए अनेकानेक एव जटिल कर्त्तव्य निश्चित किये तो उसी मात्रा मे उनके अधिकार भी निर्धारित किए गये। अधिकारो के बिना जटिल कर्त्तव्यो का पालन करना असभव होता है। यही कारण है कि समाज के विभिन्न वर्गों के कर्त्तव्य एव अधिकार निश्चित किये गये। सर्वप्रथम प्रत्येक वर्ग का,

चाहे वह निम्नतम जातीय क्यो न हो, आर्थिक जीविका का साधन सुनिश्चित किया गया। किसी भी बड़े से बड़े अधिकारी पुरुष को दूसरे के जीविका-साधनो मे हस्तक्षेप करने पर कानून द्वारा पाबन्दियाँ लगायी गयी। दास-प्रथा जो कि विकसित समाज की अर्थव्यवस्था मे अर्थहीन बोझ बन गयी थी, अनुपयोगी समझ कर तोड दी गयी और उत्पादक-श्रम पर समाज ने अधिक बल देना शुरू किया।

भारत देश मे लिच्छवी, कुरु, और पाचाल आदि नाम से बहुत से सघीय राज्य काम कर रहे थे। इन सघीय राज्यो के मुख्य अधिकारी यद्यपि राजा नही होते थे और उनका जनता द्वारा निर्वाचन होता था परन्तु फिर भी वे राजा के नाम से पुकारे जाते थे। ये सघ राज्य पुराने वैदिक साम्यवादी युग के प्रबल अवशेष और उदीयमान सामन्ती अर्थव्यवस्था के विकास के लिए बाधा स्वरूप थे। यही कारण है कि कौटल्य कालीन भारत मे सुनियोजित ढग से इन सघ राज्यो का उच्छेदन किया गया।

राजतत्र यद्यपि विजयी हो चुका था परन्तु फिर भी उसके दमनकारी रूप के सामने बहुसख्यक जनता ने आत्मसमर्पण नही किया था। यही कारण है कि राजतत्रो को सदा ही दमन का हथियार उठा कर तैयार रहना पडता था। इसका मूल कारण यही था कि हजारो वर्षो तक वैदिक साम्यवादी युग मे पूर्ण स्वाधीनता और समानता के आनन्द का उपभोग करके मानव समुदाय इन राजतत्रो को अपने लिय अभिशाप समझता था।

मानव समाज की सस्कृति भी आर्थिक एव सामाजिक ढाँचे मे परिवर्तन के साथ परिवर्तित हो जाती है। परन्तु यह नही माना जा सकता कि जितनी तेजी के साथ समाज का आर्थिक ढाँचा बदलता है और उसके साथ ही राज-नीतिक रूप बदल जाता है उतनी ही तेजी और मात्रा मे सास्कृतिक काया-पलट भी हो जाता है। सस्कृतियाँ आमतौर पर लम्बे युगो मे जाकर और धीरे-धीरे बदलती हैं। सामन्ती अर्थव्यवस्था के विजय-अभियान के साथ ही लोगो की सास्कृतिक चेतना भी बदली। उनका जीवन-दर्शन बदला, रूढ़ियाँ

और मान्यताएँ बदली, पाप तथा पुण्य की धारणाएँ बदली और इस सामन्ती सस्कृति के परिवर्तन के साथ समाज का रूप पूरी तरह बदल गया। इस पुस्तक मे सामन्तवाद के इसी विजय अभियान की सैद्धान्तिक कहानी दी गयी है।

परन्तु यह सोचना सही न होगा कि समाज मे सब कुछ शान्तिपूर्वक एव ठीक-ठीक चल रहा था। ऊपर से निर्द्वन्द एव निश्चल दीखने वाले सामन्ती समाज के अन्दर धीरे-धीरे और कभी बडी तेजी के साथ विद्रोह की ज्वाला भडकती रहती थी।

यद्यपि भारत की विशेष परिस्थितियो मे शिल्पकारो तथा वाणिज्य व्यवसाय करने वालो ने सदा ही राजतत्र को सहयोग दिया है, इतिहास मे कभी खुला विद्रोह नही किया और यह भी सही है कि [illegible] शिल्प एव वाणिज्य का रूप विशुद्ध सामन्तवादी था। परन्तु फिर भी यह एक नयी व्यवस्था, जिसे हम पूँजीवादी व्यवस्था कहते हैं, का सूत्रपात था। आगे चलकर दूसरे देशो मे इसी शक्तिशाली सामन्तवाद की जडे इन दोनो तावो के नेतृत्व मे जनता ने खोद डाली। जिस व्यवस्था ने दूसरे देशो मे सामन्तवाद एव राजतत्र के प्रति विद्रोह का सिंहनाद किया वे परिस्थितियो के विशेष कारणो से भारत मे सुव्यवस्थित ढग से विकसित नही हो सकी।

इन परिस्थितियो का विकास भारत मे सामन्तवाद के निर्बल हो चुकने के बाद पूरे एक हजार वर्ष तक विदेशियो के आक्रमण होते रहने मे और पिछले दो सौ वर्षों से साम्राज्यवादी प्रभुत्व की स्थापना मे दब कर रह गया है। भारत की राष्ट्रीय शक्तियाँ जो पूँजीवादी, जनवादी क्रान्ति के विजयाभियान के लिए भारतीय सामन्तवाद के दुर्ग पर आघात करती वे विदेशी आक्रमणकारियो के खिलाफ जूझती रही और ज्यो ही विदेशी आक्रमणकारियो की ओर से जनवादी ताकतो की दृष्टि हटी इस सामन्ती अर्थव्यवस्था के बचे-खुचे अवशेषो को निर्मूल करने मे उसकी दृष्टि लगी।

इस पुस्तक मे एक बहुत प्रामाणिक ऋषि, कौटल्य की कृति को आधार बना कर सामाजिक विकास का जो चित्र प्रस्तुत किया गया है उसमे केवल

एक पडाव पर मानव समाज की जो स्थिति थी उसका दिग्दर्शन किया गया है। परन्तु यह नही भूलना चाहिए कि मानव समाज के अभियान का वह एक पडाव मात्र था। यह पडाव न तो आदिम था और न अन्तिम। उसे पहले के दो पडावो पर जिस प्रकार मानव समाज स्थिर होकर नही टिका उसी प्रकार सामन्ती व्यवस्था के पडाव पर भी न तो वह टिक सकता था और न टिका। यही सिद्धान्त पूँजीवादी अर्थव्यवस्था के चौथे पडाव पर भी लागू होता है।

मानव समाज का कारवाँ मजिल दर-मजिल बढता चला जा रहा है और अब समाज के अन्तिम पडाव की मजिल बहुत सन्निकट है और वह मजिल है विश्वबन्[illegible] समाजवाद, और स्थायी शान्ति ।